मनुस्मृतिः

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥
चतुर्वेदसमं पुण्यमस्य शास्त्रस्य धारणात् ।
भूयो वाप्यतिरिच्येत पापनिर्यातनं महत् ॥

पण्डित रामेश्वरभट्ट



॥ श्रीः ॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला

४

मनुस्मृतिः

आगरापत्तनस्थराजकीयमुख्यपाठशालीय-

भूतपूर्वप्रधानसंस्कृताध्यापक-

पण्डित रामेश्वरभट्टकृतया

'सरला'-भाषाटीकया समलङ्कृता



चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू. ए., जवाहरनगर, बंगलो रोड

दिल्ली ११०००७

मनुस्मृतिः

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. जवाहर नगर, बंगलो रोड
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली - 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

पुनर्मुद्रित संस्करण 2015
पृष्ठ : 4+28+380
मूल्य : ₹ 175.00

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069
वाराणसी - 221001



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपाल मन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129
वाराणसी - 221001

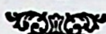


चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

ISBN : 978-81-7084-003-1

मुद्रक :
ए. के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

THE
VRAJAJIVAN PRĀCYABHARATI GRANTHAMALA
4



MANUSMṚTI

Edited with

'Sarala' Hindi Commentary

By

Pt. Rameshwar Bhatt
Ex. Head Pandit (Sanskrit)
Govt. High School, Agra



CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Jawaharnagar, Bungalow Road
DELHI 110007

MANUSMṚTI

Publishers :
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawahar Nagar
Delhi 110007
Phone : (011) 23856391, 41530902
E-mail : cspdel.sales@gmail.com
Website : www.chaukhambabooks.in

Reprinted : 2015
Pages : 4+28+380
Price : ₹ 175.00

Also can be had from :
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind The Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001



CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

ISBN : 978-81-7084-003-1

Printed by :
A. K. Lithographers, Delhi

मनुसंहितास्थविषयानुक्रमः ।

प्रथमोऽध्यायः ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

तृतीयोऽध्यायः ।

चतुर्थोऽध्यायः ।

पञ्चमोऽध्यायः ।

सप्तमोऽध्यायः।

अष्टमोऽध्यायः ।

नवमोऽध्यायः ।

द्वादशोऽध्यायः ।

संपूर्णेयं मनुस्मृतिविषयानुक्रमणी ।



मनुस्मृतिः ।

सरलाटीकासहिता ।

प्रथमोऽध्यायः १

श्रीगणेशाय नमः ।

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

एकाग्रचित्त और सुखसे बैठे हुए मनुजीकेपास जाकर, महर्षि उनका रीति-पूर्वक पूजन करके यह वचन बोले ॥ १ ॥

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

हे भगवन् ! आप सब वर्णोंके और संकीर्ण जातियोंके ठीक २ धर्मोंको आदिसे अंततक हमसे कहने योग्य हैं (इसलिये उनको कहिये) ॥ २ ॥

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! जिसका न चिंतवन होसके, न परिमाण होसके ऐसे इस स्वयं उत्पन्न हुए संपूर्ण वेदके अग्निष्टोमादि यज्ञ और ब्रह्मको जाननेवाले केवल आप ही हैं ॥ ३ ॥

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्श्रूयतामिति ॥ ४ ॥
आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥

जब उन महात्माओंने इसभांति पूछा तब महातेजस्वी मनुजी, उन सब महर्षियोंका सत्कार करके उनसे बोले कि–सुनिये ॥ ४ ॥ यह जगत् (प्रलय कालमें) अंधकारसे व्याप्त, अच्छे प्रकारसे जाननेके अयोग्य, चिह्नरहित, जिसमें तर्कना न होसके और (इस कारण) जिसका विशेष ज्ञान न होसके ऐसा सर्वत्र सोते हुएके समान था ॥ ५ ॥

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥

तब जो इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष न हों ऐसे, सृष्टिकी रचना करनेमें समर्थ, अपनी इच्छासे शरीर धारण करनेवाले और प्रकृतिके प्रेरक भगवान्, आकाश आदि महाभूतोंको प्रकाशित करते हुए प्रकट हुए ॥ ६ ॥

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ ७ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥

जो यह परमात्मा इन्द्रियोंसे ग्रहण करनेके अयोग्य शरीर रहित, सूक्ष्म-रूप, नित्य, सब प्राणियोंका आत्मा, और चिन्तवन करनेके अयोग्य है वही अपने आप प्रकट हुआ ॥ ७ ॥ उस (परमात्मा) ने अनेक प्रकारकी प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छासे ध्यान करके अपने शरीरसे पहिले जलको उत्पन्न किया और उस (जल) में (शक्तिरूप) बीज डाला ॥ ८ ॥

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥
यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥ १२ ॥

वह (बीज) सूर्यके समान कान्तिवाला सुवर्णका अंडा हो गया और उसमें सब लोकोंका कर्ता ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न हुआ ॥ ९ ॥ जलको "नार" कहते हैं क्योंकि जल नर (रूप परमात्मा) से उत्पन्न हुआ है । वही जल इस परमात्माका प्रथम वासस्थान है इस कारण परमात्मा "नारायण" कहा गया है ॥ १० ॥ लोक और वेदमें प्रसिद्ध, अव्यक्त (अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियोंसे ग्रहणके अयोग्य) नित्य, और सत् असत्का आत्मा ऐसा, कारणसे उत्पन्न हुआ वह पुरुष "ब्रह्मा" इस नामसे संसारमें विख्यात है ॥ ११ ॥ उस भगवान्ने, अंडेमें एक वर्षतक रहकर आपही अपने ध्यानसे उसके दो टुकड़े कर दिये ॥ १२ ॥

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥ १३ ॥

उन (टुकड़ों) से स्वर्ग और पृथ्वीको बनाया और बीचमें आकाश, आठों दिशा, और जलका स्थिर स्थान अर्थात् समुद्र बनाया ॥ १३ ॥

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥
महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां ग्रहीतृणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥

फिर ब्रह्माने परमात्मासे सत् असत् (संकल्पविकल्प) रूप मनको और मनकी उत्पत्तिके पहिले "मैं" इस अभिमानसे युक्त, काम करनेमें समर्थ ऐसे अहंकारको उत्पन्न किया ॥ १४ ॥ फिर (अहंकारसे पूर्व) आत्माके सहायक महत्तत्वको, फिर सब (सत्व, रज, तम) तीनों गुणोंको, फिर धीरे २ (रूप, रस, गंध आदि) विषयोंके ग्रहण करनेवाली पांचों इन्द्रियोंको उत्पन्न किया ॥ १५ ॥

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्षण्णामप्यमितौजसाम्।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥

इन असीम वलवाले (अहंकार, शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श इन) छहोंके छोटे २ अवयवोंको उनकेही विकारोंमें (अर्थात् तन्मात्राका विकार और आकाश आदि पंच महाभूत और अहंकार इनके विकारोंको आपसमें) मिलाकर सब प्राणियोंको (अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी और वृक्ष इनको) रचा ॥ १६ ॥

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥ १७ ॥

उस (प्रकृति सहित ब्रह्म) की मूर्तिके (शब्दादि तन्मात्रा और अहंकार) ये छहों अवयव सूक्ष्म हैं और उसके आश्रित हैं (अर्थात् पांचभूत और इन्द्रियोंको रचते हैं) इसी लिये उस ब्रह्मकी मूर्त्तिको पण्डित जन शरीर कहते हैं–(सांख्यके अनुसारभी सृष्टिका यही क्रम प्रतीत होता है कि प्रकृतिसे महत्तत्व, महत्तत्वसे अहंकार, अहंकारसे पांच मात्रा, दश इन्द्रिय और एक मन, और इन सोलहोंसे पांच भूत उत्पन्न होते हैं) ॥ १७ ॥

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥

फिर उस अविनाशी, सब भूतोंके वनानेवाले ब्रह्मसे अपने २ कर्मोंके साथ (आकाश आदि) महाभूत और सूक्ष्म अवयवोंके साथ मन उत्पन्न हुआ (आकाशका काम अवकाश देना, वायुका गति, तेजका पाक, जलका पिंडीकरण, पृथ्वीका धारण, और मनका शुभ अशुभ कामकी इच्छा करना है) १८

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥ १९ ॥

फिर उस अविनाशी परमात्माके द्वारा इन महाबली (महत्तत्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) सात प्रकृतियोंके छोटे २ मूर्त्तिके अंशोंसे विनाश होनेवाला जगत् उत्पन्न हुआ ॥ १९ ॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः॥ २०॥

इन (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी) पांच भूतोंके (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) गुणको (वायु आदि) आगेके तत्व पाते हैं और इनमें जिसकी जो संख्या है उसमें उतनेही गुण कहे गये हैं–अर्थात् आकाशमें एक शब्दगुण, वायुमें शब्द, स्पर्श दो गुण, तेजमें शब्द, स्पर्श, रूप तीन गुण, जलमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस चार गुण हैं, और पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध ये पांच गुण हैं॥ २०॥

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥ २१॥

उस परमात्माने सबोंके नाम (जैसे गौजातिका गौ इत्यादि) और जुदे २ कर्म (जैसे ब्राह्मणका वेद पढ़ना इत्यादि) वेदके शब्दोंसेही जानकर सृष्टिकी आदिमें अलग २ बनाये॥ २१॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्॥ २२॥

उस ब्रह्माने देवताओंका गण, प्राणियोंका गण, कर्मही है स्वभाव जिनका ऐसे अप्राणी पाषाणादिकोंका गण, और सूक्ष्म साध्योंका अर्थात् देव विशेषोंका गण और सनातन (ज्योतिष्टोम आदि) यज्ञ इनको उत्पन्न किया॥ २२॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ २३॥

ब्रह्माने यज्ञकी सिद्धिके लिये ऋक्, यजु, और साम इन सनातन वेदोंको अग्नि, पवन, और सूर्यसे क्रमपूर्वक प्रकट किया॥ २३॥

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
सरितः सागराञ्छैलान्समानि विषमाणि च॥ २४॥

फिर काल और कालके विभाग (ऋतु, मास आदि) नक्षत्र, ग्रह, नदी, समुद्र, पर्वत और ऊंचे-नीचे स्थानोंको बनाया॥ २४॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः॥ २५॥

ब्रह्माने इस प्रजाको उत्पन्न करनेकी इच्छासे तप, वाणी, रति, काम और क्रोधकी यह सृष्टि करी॥ २५॥

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः॥ २६॥

ब्रह्माने कर्मोंके ज्ञानके लिये धर्म (अर्थात् यज्ञ आदि) और अधर्म (ब्रह्मवध आदि) को जुदा २ किया और सुख दुःख आदिके जोड़ेको प्रजाओंके पीछे लगा दिया॥ २६॥

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः ।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥

पंच भूतोंकी जो विनाश होनेवाली (शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) सूक्ष्म मात्रा कही गई हैं उन्हींकी सहायतासे यह संपूर्ण जगत् क्रमसे अर्थात् सूक्ष्मसे स्थूल और स्थूलसे अत्यंत स्थूल उत्पन्न होता है ॥ २७ ॥

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८ ॥

उस ब्रह्माने प्रथम जिसको जिस कर्ममें लगाया वह वार २ उत्पन्न होकर उसे आपही करने लगा ॥ २८ ॥

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९ ॥

हिंसा, अहिंसा, कोमलता, कठोरता, धर्म, अधर्म, सत्य और झूठ इनमेंसे पूर्व कल्पमें ब्रह्माने जो जिसका कर्म बनाया था वही कर्म आपसे आप उस जीवको प्राप्त हो गया (जैसे सिंहको हाथी मारना हिंसक कर्म, मृग किसीको नहीं मारता यह अहिंसक कर्म है, ब्राह्मणका कर्म कोमल दयायुक्त है, क्षत्रीका कठोर कर्म है, ब्रह्मचारीको गुरुकी सेवाधर्म है, ब्रह्मचारीको मांस, मैथुन आदि अधर्म है,)—॥ २९ ॥

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये ।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥
लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ ३१ ॥
द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ ३२ ॥

जैसे (वसंतादि) ऋतु, ऋतु पलटने पर, आपही अपने २ ऋतुके चिह्नोंको प्राप्त हो जाती हैं वैसेही देहधारीभी स्वयमेव अपने २ कर्मोंको प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥ ब्रह्माने लोकोंकी वृद्धिके लिये मुख, बाहु, जंघा और चरणसे ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र इनको क्रमसे बनाया ॥ ३१ ॥ वह प्रभु (ब्रह्मा) अपने देहके दो खंड करके आधेसे पुरुष और आधेसे स्त्री होगया और उसने स्त्रीमें विराट पुरुषको उत्पन्न किया ॥ ३२ ॥

तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् ।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! उस विराट् पुरुषने तप करके जिसको उत्पन्न किया ऐसा इस सब जगतका रचनेवाला मुझे जानो ॥ ३३ ॥

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥

मैंने प्रजाको उत्पन्न करनेकी इच्छासे बड़ा कठिन तप करके पहिले प्रजापति दश महर्षियोंको उत्पन्न किया ॥ ३४ ॥

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥

मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद ॥ ३५ ॥

एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥

इन महातेजस्वी महर्षियोंने अन्य सात मनुओंको, देवताओंको तथा देवताओंके रहनेके योग्य स्थानोंको और बड़े तेजस्वी महर्षियोंको उत्पन्न किया ॥३६॥

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ।
नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥

फिर इन्होंने यक्ष, राक्षस, पिशाच, गंधर्व, अप्सरा, असुर, हाथी, सर्प, सुपर्ण तथा पितृओंके गणोंको अलग २ उत्पन्न किया ॥ ३७ ॥

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ।
उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥ ३८ ॥

बिजली, वज्र, मेघ, रोहित,-(सीधे धनुष), और टेढ़े इन्द्रधनुष, उल्का, निर्घात (उत्पात शब्द) केतु (पुच्छल तारे) तथा छोटे बड़े तारोंको रचा ॥ ३८ ॥

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहङ्गमान् ।
पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ ३९ ॥

और किन्नर, वानर, मत्स्य और अनेक भांतिके पक्षी, पशु, मृग, मनुष्य, सर्प और दोनों ओर दांतवाले पशु इनको पैदा किया ॥ ३९ ॥

कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ॥ ४० ॥

कृमि, कीट, पतंग, जूं, मक्खी, खटमल, सब डांस और मच्छर और अनेक प्रकारके स्थावर (लता, वृक्ष आदि) को पैदा किया ॥ ४० ॥

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ४१ ॥

इस भांति इस सब स्थावर जंगमको मेरी आज्ञासे इन महात्माओंने तपके योगसे कर्मके अनुसार उत्पन्न किया ॥ ४१ ॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥

इन जीवोंमें जिसका जैसा कर्म इस संसारमें पूर्वाचार्योंने कहा है उसे और जन्मके क्रमको मैं तुमसे कहूंगा ॥ ४२ ॥

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥
अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः ।
यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ४४ ॥
स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम् ॥ ४५ ॥

पशु, मृग, सर्प, दोनों ओर दांतवाले, राक्षस, पिशाच और मनुष्य ये सब जरायुज हैं, अर्थात् झिल्लीसे उत्पन्न होते हैं ॥ ४३ ॥ पक्षी, सांप, मगर, मछली और कछुए अंडज हैं और जितने ऐसे जीव जल और स्थलमें पैदा होते हैं वे सबभी अंडज हैं ॥ ४४ ॥ डांस, मच्छर, जूं, मक्खी, खटमल और अन्य ऐसेही जो गरमीसे उत्पन्न होते हैं वे स्वेदज हैं ॥ ४५ ॥

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥

बीजसे पृथ्वी फोड़कर वा टैनी लगानेसे जो सब वृक्ष उगते हैं उनको उद्भिज कहते हैं, और फल पकनेपर जो सूख जाते हैं और जिनमें बहुतसे फल और फूल लगते हैं उन्हें ओषधी कहते हैं ॥ ४६ ॥

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥

जिनमें फूल तो लगें नहीं पर फल लगें उन्हें वनस्पति कहते हैं । जिनमें फूल और फल दोनों लगें उन्हें वृक्ष कहते हैं ॥ ४७ ॥

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥ ४८ ॥

अनेक प्रकारके गुच्छे, गुल्म (जो एक जड़मेंसे बहुतसे उग आते हैं) अनेक भांतिके तृण, प्रतान, और लता बीज बोने या टहनी लगानेसे उगआते हैं ॥४८॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥

ये पूर्वजन्मके कर्मके कारण बहुतसे तमोगुणसे घिरे हुए हैं, सुखदुःखसे युक्त हैं और इनके भीतर चेतना है ॥ ४९ ॥

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ।
घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ ५० ॥

इस घोर और सदा विनाशी भयंकर संसारमें ब्रह्मासे आदि लेकर यहां (स्थावर) तककी उत्पत्तियां कही हैं ॥ ५० ॥

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥ ५१ ॥

वह अचिन्त्य पराक्रमवाला भगवान् (ब्रह्मा) मुझे और इस सबको इस

भांति उत्पन्न करके फिर प्रलयकालके द्वारा सृष्टिकालका नाश करता हुआ अपने आपमें अंतर्धान होगया ॥ ५१ ॥

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ ५२ ॥

जब वह देव (ब्रह्मा) जगता है तब यह संसार चेष्टा करता है, और जब वह शांतरूप होकर सोता है तब जगत् प्रलयको प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

तस्मिन्स्वपति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३ ॥

उसके स्वस्थ होकर सोनेपर कर्मानुसारी प्राणी अपने कर्मोंसे निवृत्त हो जाते हैं और उनका मनभी ग्लानिको प्राप्त होता है, अर्थात् चेष्टारहित हो जाता है ॥ ५३ ॥

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥ ५४ ॥

एक साथ जब सब प्राणी उस परमात्मामें लय होजाते हैं तब यह सब भूतोंका आत्मा निश्चिंत होकर सुखसे सोता है ॥ ५४ ॥

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ॥ ५५ ॥

जब यह जीव अज्ञानका आश्रय लेकर इन्द्रियोंसे युक्त बहुत कालतक रहता है; और (श्वास लेना आदि) अपना कर्म नहीं करता तब देहसे निकल जाता है ॥ ५५ ॥

यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ॥ ५६ ॥

जब यह जीव अणुमात्रिक (अर्थात् भूत, इन्द्रिय, मन आदिसे युक्त) होकर स्थिररूप (वृक्षआदि) और चररूप (मनुष्यादि) के बीजमें प्रवेश करता है तब यह उत्पन्न होकर, स्थूल शरीर धारण करता है ॥ ५६ ॥

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम्।
संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥

वह अविनाशी (ब्रह्मा) इसप्रकार इस सब चराचरको जाग्रत् और स्वप्नावस्थासे सदा जिलाता और मारता है ॥ ५७ ॥

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥ ५८ ॥

उस ब्रह्माने इस शास्त्रको बनाकर आदिसे स्वयं मुझेही विधिपूर्वक पढ़ाया और मैंने मरीचि आदि मुनियोंको पढ़ाया ॥ ५८ ॥

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥ ५९ ॥

यह भृगु, इस संपूर्ण शास्त्रको तुमको सुनावेंगे, क्योंकि इन मुनिने यह सब मुझसे पढ़ा है ॥ ५९ ॥

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

जब उन मनुजीने इसभांति उनसे कहा तब वे महर्षि भृगुजी, प्रसन्न चित्त होकर उन सब ऋषियोंसे बोले कि तुम सुनों ॥ ६० ॥

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः ॥ ६१ ॥

इन स्वायंभु मनुके वंशके औरभी महात्मा तथा बड़े पराक्रमी छः मनुओंने अपनी २ प्रजाको उत्पन्न किया ॥ ६१ ॥

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ६२ ॥

स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, और महा तेजस्वी वैवस्वत (ये नाम उन मनुओंके हैं) ॥ ६२ ॥

स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥ ६३ ॥

बड़े तेजस्वी इन स्वायंभुवआदि सात मनुओंने अपने २ समयमें इस सब चराचरको उत्पन्न करके इसका पालन किया ॥ ६३ ॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला ।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥

अठारह पलकोंकी एक काष्ठा और तीस काष्ठाओंकी एक कला होती है। तीस कलाओंका एक मुहूर्त और तीस मुहूर्तोंका एक रात दिन होता है ॥६४॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥

सूर्यने देवता और मनुष्योंके दिनरातका विभाग किया है, और प्राणियोंके सोनेके लिये रात्रि और कर्मोंके करनेके लिये दिन है ॥ ६५ ॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६६ ॥

मनुष्योंका एक मास पित्रोंका रातदिन होता है, और उसके दोनों पक्षोंका विभाग यों है कि काम करनेके लिये जो कृष्णपक्ष वह दिन, और सोनेके लिये जो शुक्लपक्ष है वह रात्रि है ॥ ६६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥

मनुष्योंका एक वर्ष, देवताओंका रात्रिदिन होता है । उन दोनोंका विभाग यों है कि उत्तरायण तो देवताओंका दिन और दक्षिणायन रात है ॥ ६७ ॥

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः॥ ६९॥

ब्रह्माके रातदिनको और प्रत्येक युगके प्रमाणको तुम संक्षेपसे क्रमपूर्वक सुनो॥ ६८॥ चार हजार वर्षका सतयुग कहा गया है, उसकी चार सौ वर्षकी संध्या (युगकी आदि) और चार सौ वर्षका संध्यांश (युगका अंत) होता है॥ ६९॥

इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥ ७०॥

संध्या और संध्यांशोंसहित अन्य (त्रेता आदि) तीनों युगोंके प्रमाण एक सहस्र और एक शत क्रमपूर्वक घटानेसे होते हैं, अर्थात् ३००० वर्षका त्रेतायुग, ३०० वर्षकी उसकी संध्या और तीनसौ वर्षका संध्यांश। द्वापर २००० वर्षका, उसकी संध्या दो सौ वर्षकी और दो सौ वर्षका संध्यांश। कलियुग एक हजार वर्षका, उसकी संध्या सौ वर्षकी, और सौ वर्षका संध्यांश होता है॥ ७०॥

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥ ७१॥

पहिले जो (मनुष्योंके) चार युगका (बारह हजार वर्षका) परिमाण गिनाया है यही बारह हजार वर्षका देवताओंका एक युग कहाजाता है॥७१॥

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च॥ ७२॥

देवताओंके एक हजार युगोंके परिमाणके बराबर ब्रह्माका एक दिन और उतनी ही रात जाननी चाहिये॥ ७२॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ ७३॥

ब्रह्माके हजार युगोंका है परिमाण जिसका ऐसे पवित्र दिनको और उतनी ही रातको जो जानते हैं वेही रात्रि दिनके ज्ञाता हैं॥ ७३॥

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम्॥ ७४॥

वह ब्रह्मा सोकर उस रातदिनके अंतमें जागता है और जागकर सत् असत् रूप मन (महत्तत्व) को उत्पन्न करता है॥ ७४॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः॥ ७५॥

(परमात्माकी) रचनेकी इच्छासे प्रेरित हुआ मन सृष्टिको रचता है उससे (प्रथम) आकाश उत्पन्न होता है जिसका गुण शब्द है ऐसा (ऋषि) कहते हैं॥ ७५॥

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः॥ ७६॥

विकार उत्पन्न करनेवाले आकाशसे सब गंधोंकी लेजानेवाली पवित्र बलवान् पवन उत्पन्न होती है जिसका गुण स्पर्श कहा गया है ॥ ७६ ॥

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम्।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥

विकार उत्पन्न करनेवाली पवनसे प्रकाशमान, अंधकारका नाशक प्रकाश स्वरूप तेज उत्पन्न होता है जिसका गुण रूप है ॥ ७७ ॥

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ७८ ॥

विकार उत्पन्न करनेवाले तेजसे जल पैदा होता है जिसका गुण रस कहा गया है। जलसे भूमि उत्पन्न होती है जिसका गुण गंध है। ऐसे आदि सृष्टि है ॥ ७८ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥

पहिले जो बारह हजार वर्ष मनुष्योंके चारों युगोंका प्रमाण देवताओंका युग एक कहा है उसका इकत्तर गुना एक युग इस ग्रंथमें मन्वन्तर कहा गया है (उस मन्वन्तरमें एक मनुको सृष्टि आदि रचनेका अधिकार होता है) ॥७९॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥

मन्वन्तर सृष्टि और प्रलय अनगिनती हैं जिन्हैं परमात्मा मानों खेलता हुआ सहजमें वारंवार रचता है ॥ ८० ॥

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते ॥ ८१ ॥

सतयुगमें सब धर्म और सत्य, पूर्ण रूपसे था। अधर्मसे किसी प्रकारका (धनआदिका) आगमन मनुष्योंके पास नहीं होता था ॥ ८१ ॥

इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥

(त्रेता आदि) अन्य युगोंमें (अधर्मसे धन आदिके उपार्जनसे) धर्मका (चार चरणोंमेंसे) एक २ चरण घटता जाता है और (धन तथा विद्यासे संचित किये) धर्मकाभी चोरी, झूठ और छलसे एक २ चरण घट जाता है ॥ ८२ ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥ ८३ ॥

सतयुगमें मनुष्य नीरोग, सब सिद्धियोंसे युक्त, और चारसौ वर्षकी आयुवाले होतेथे, परंतु त्रेता आदि युगोंमें इनकी आयु सौ २ वर्ष कम होती है अर्थात् त्रेतामें तीन सौ, द्वापरमें दोसौ और कलिमें सौ वर्षकी आयु होने लगती है ॥ ८३ ॥

(यहां यह शंका होती है कि यदि त्रेतामें ३०० वर्षकी अवस्था होतीथी तो रामचन्द्रजीने दस हजार वर्ष राज्य कैसे किया? इसका समाधान यह है कि अधिक पुण्यके उदयसे अधिक अवस्था भी होती थी और 'शतायुर्वै पुरुषः' इस श्रुतिमें शत शब्द अनेकका बोधक है)

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ।
फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावाश्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥

वेदमें कही हुई मनुष्योंकी आयु, कर्मोंका फल और मनुष्योंका लोकमें प्रभाव ये युगोंके अनुसार होते हैं ॥ ८४ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ ८५ ॥
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥

युगोंके घटनेके अनुसार मनुष्योंके धर्म सतयुगमें अन्य, त्रेतामें अन्य, द्वापरमें अन्य और कलियुगमें अन्य होते हैं ॥ सतयुगमें तप प्रधान है, त्रेतामें ज्ञान कहा है, और द्वापरमें यज्ञ कहा है, परंतु कलियुगमें केवल दानही मुख्य कहा गया है ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥

महातेजस्वी उस परमात्माने इस सब सृष्टिकी रक्षाके लिये मुख, बाहु, जंघा और चरणोंसे उत्पन्न वर्णोंके लिये अलग २ कर्म बनाए ॥ ८७ ॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥ ६ कर्म

पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञकरना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना ये छः कर्म ब्राह्मणोंके रचे ॥ ८८ ॥

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥ ५ कर्म

प्रजाकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयोंमें न लगना ये क्षत्रीके कर्म संक्षेपसे बनाए ॥ ८९ ॥

कुसीद = ब्याज

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥ ६ कर्म

पशुओंकी रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार, ब्याज और खेती ये कर्म वैश्यके बनाए ॥ ९० ॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥

प्रभुने शूद्रका एकही कर्म कहा है कि वह इन चारों वर्णोंकी निष्कपट होकर सेवा करै ॥ ९१ ॥

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः ।
तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ९२ ॥

मनुष्य नाभिसे ऊपर अत्यन्त पवित्र कहा गया है । उस भागमें भी ब्रह्माने इसका मुख अत्यंत पवित्र कहा है ॥ ९२ ॥

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात् ।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥
तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत् ।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥

उत्तम अंग (अर्थात् मुख) से उत्पन्न होनेसे, (क्षत्रिय आदिसे) पहले उत्पन्न होनेसे, और वेदके धारण करनेसे ब्राह्मण इस सब जगतका धर्मसे स्वामी होता है ॥ ९३ ॥ ब्रह्माने तपकरके हव्य कव्य पहुंचानेके लिये और इस संपूर्ण जगतकी रक्षाके लिये अपने मुखसे सबसे पहिले ब्राह्मणको उत्पन्न किया ॥ ९४ ॥

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः ।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥ ९५ ॥

जिसके मुखसे देवता हव्य और पितर कव्य सदा खाते हैं उससे बड़ा कौनसा प्राणी हो सक्ता है ॥ ९५ ॥

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥

जीवोंमें प्राणधारी, प्राणधारियोंमें बुद्धिमान्, बुद्धिमानोंमें मनुष्य और मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ कहे गये हैं ॥ ९६ ॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥

ब्राह्मणोंमें पण्डित, पण्डितोंमें कृतबुद्धि (अर्थात् शास्त्रोक्त कर्ममें जिनकी बुद्धि है) कृतबुद्धियोंमें (शास्त्रोक्त कर्मके) कर्ता, और उन कर्ताओंमें ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं ॥ ९७ ॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणकी उत्पत्तिही धर्मका अविनाशी शरीर है । वह धर्मके लिये उत्पन्न हुआ है और आत्मज्ञानसे मोक्ष पाता है ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधि जायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ९९ ॥

उत्पन्न हुआ ब्राह्मण पृथ्वीपर सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि वह सब प्राणियोंके धर्म समूहकी रक्षाके लिये समर्थ होता है ॥ ९९ ॥

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥

जो कुछ पृथ्वीपर धन है वह सव ब्राह्मणका है। (ब्रह्माके मुखसे) उत्पत्तिके कारण श्रेष्ठ होनेसे यह सब ब्राह्मणके ही योग्य है ॥ १०० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ १०१ ॥

ब्राह्मण जो कुछ खाता, पहिनता और देता है वह सब उसकाही है, और लोग ब्राह्मणकी कृपासेही भोजन आदि करते हैं ॥ १०१ ॥

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः।
स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

बुद्धिमान् स्वायंभुव मनुने ब्राह्मणके और अन्यवर्णोंके कर्मोंको क्रमपूर्वक जाननेके लिये इस शास्त्रको बनाया ॥ १०२ ॥

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ्नान्येन केनचित् ॥ १०३ ॥
इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः।
मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥

पण्डित ब्राह्मणको यह यत्नसे पढ़ना चाहिये तथा शिष्योंको पढ़ाना चाहिये; और कोई (क्षत्री आदि) इसे न पढ़ै पढ़ावै ॥ १०३ ॥ नियमपूर्वक नित्य इस शास्त्रका पढ़नेवाला ब्राह्मण मन, वाणी, और शरीरसे उत्पन्न हुए कर्मोंके पापोंसे लिप्त नहीं होता है ॥ १०४ ॥

पढ़ाने और व्याख्यानको छोड़कर केवल पढ़ना क्षत्रिय और वैश्यकोभी "निषेकादि श्मशानान्तैः" इत्यादि २ अ० १६ श्लो० से आगे विधान करेंगे ॥

पुनाति पङ्क्तिं वैश्यांश्च सप्त सप्त परावरान्।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ॥ १०५ ॥
इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम्।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥

और वह पंक्तिको और ऊपर नीचेके सात २ वंशवालोंको पवित्र करता है और वह एकही इस सब पृथ्वीको लेनेकेभी योग्य है ॥ १०५ ॥ यह शास्त्र श्रेष्ठ वांछित वस्तुका देनेवाला, बुद्धिका बढ़ानेवाला, यश और आयुका दाता और परम मोक्षदायक है ॥ १०६ ॥

अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥

इसमें संपूर्ण रूपसे धर्म कहागया है और धर्मोंके गुण दोष कहे गये हैं, और चारों वर्णोंका सनातनका आचार कहा है ॥ १०७ ॥

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः॥ १०८॥
आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत्॥ १०९॥
एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥ ११०॥

वेद तथा स्मृति दोनोंमें कहा हुआ आचारही परम धर्म है इसलिये आत्मज्ञानी ब्राह्मण इसमें सदा युक्त रहै॥ १०८॥ आचारसे रहित ब्राह्मण वेदके फलको नहीं पाता, और आचारसे युक्त ब्राह्मण संपूर्ण फलको पाता है॥ १०९॥ इसभांति आचारसे धर्मकी गतिको देखकर मुनिजनोंने संपूर्ण तपकी मुख्य जड़ आचारको माना है॥ ११०॥

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम्॥ १११॥
दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम्।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम्॥ ११२॥

जगत्की उत्पत्ति, संस्कारविधि, व्रतोंका उपचार, स्नानकी उत्तम विधि॥ १११॥ विवाह, विवाहोंका लक्षण, महायज्ञोंका विधान, नित्य श्राद्धका प्रकार॥ ११२॥

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च।
भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च॥ ११३॥
स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च।
राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम्॥ ११४॥

वृत्तियोंका लक्षण, गृहस्थके नियम, भक्ष्य अभक्ष्य, शौच, द्रव्योंकी शुद्धि॥ ११३॥ स्त्रियोंके धर्मके उपाय, वानप्रस्थके धर्म, मोक्ष, संन्यास, राजाके सब धर्म, कार्योंका विशेष निर्णय॥ ११४॥

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम्॥ ११५॥

गवाहोंसे पूछनेकी विधि, स्त्री पुरुषोंके धर्म, हिस्सा बांटना, जुआ और चोर आदिका दूर करना॥ ११५॥

वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च संभवम्।
आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा॥ ११६॥

वैश्य और शूद्रोंके धर्म, वर्णसंकरोंकी उत्पत्ति, चारों वर्णोंके आपत्ति समयके धर्म, प्रायश्चित्तकी विधि॥ ११६॥

संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसंभवम्।
निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम्॥ ११७॥

कर्मोंसे उत्पन्न तीन प्रकारकी संसारकी गति, आत्मज्ञान, (विहित और निषिद्ध) कर्मोंके गुण और दोषोंकी परीक्षा ॥ ११७ ॥

देशधर्माञ्जातिधर्मान्कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥ ११८ ॥

देश, जाति और कुल इनके परंपराके धर्म और पाखंडियोंके समूहके धर्म इस शास्त्रमें मनुने कहे हैं ॥ ११८ ॥

यथेदमुक्तवाञ्छास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥

पूर्वकालमें मेरे पूछनेसे जिस प्रकार मनुजीने इस शास्त्रको मुझसे कह उसी प्रकार तुमभी इसे आज मुझसे सुनो ॥ ११९ ॥ इति-

पं. रामेश्वरभट्टकृत सरलाटीकासहित मनुस्मृतिका प्रथम अध्याय समाप्त हुआ-शुभम् ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥

द्वेष और राग रहित धार्मिक पण्डितोंने जिसको सदा किया और हृदयसे मुख्य जाना उस धर्मको तुम सुनो ॥ १ ॥

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

फलकी इच्छा अच्छी नहीं होती परंतु इससे इच्छा मात्रका त्याग नहीं है, क्योंकि वेदका स्वीकार और वैदिक कर्मोंका संबन्धभी इच्छासे ही है ॥ २ ॥

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।
व्रतानि यमधर्मांश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥

इच्छाकी जड़ संकल्प है, यज्ञ संकल्पोंसे उत्पन्न होते हैं । और व्रत, नियम और धर्म ये सब संकल्पसेही उत्पन्न कहे गये हैं ॥ ३ ॥

अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

इस संसारमें विना इच्छा किसी मनुष्यका कोई काम कभी नही दीखता । जो कुछ वह करता है सब इच्छासे करता है ॥ ४ ॥

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।
यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥

उन (शास्त्रोक्त) कामोंमें अच्छे प्रकारसे लगा हुआ मनुष्य मोक्षको पाता है और इस संसारमें सब वांछित कामनाओंको भोगता है ॥ ५ ॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

संपूर्ण वेद, (मनुआदि) वेदके जाननेवालोंकी स्मृति और उनका (१३ प्रकारका) शील[१] धार्मिकोंका आचार और (जिस विषयको स्मृतिमें विकल्पसे लिखा है उसमें) अपने मनकी प्रसन्नता ये धर्मके मूल हैं ॥ ६ ॥

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥

मनुजी सर्वज्ञ हैं इससे जो कुछ जिसका धर्म वेदमें कहा गया है वही उन्होंने कहा है ॥ ७ ॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥ ८ ॥

इस सबको ज्ञानरूपी नेत्रोंसे देखकर और वेदके प्रमाणसे कर्तव्य जानकर निश्चयकरके पण्डित अपने धर्ममें स्थित रहै ॥ ८ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥

मनुष्य, वेद और स्मृतिमें कहे हुये धर्मको करता हुआ इस संसारमें कीर्ति और मरकर निश्चय करके परमोत्तम सुख पाता है ॥ ९ ॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ १० ॥

वेदको श्रुति और धर्मशास्त्रको स्मृति जानना चाहिये । ये दोनों सब विषयोंमें तर्कना रहित हैं क्योंकि इनसेही धर्मकी उत्पत्ति है ॥ १० ॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥

जो द्विज उन दोनों धर्मके मूलोंका तर्कशास्त्रके सहारेसे अपमान करता है वह नास्तिक और वेदनिन्दक है और साधु जनोंको उसे (समाजसे) निकाल देना चाहिये ॥ ११ ॥

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

वेद, स्मृति, सदाचार और (जो विषय विकल्पसे कहा गया है उसमें) अपनी रुचिके अनुसार करना–यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण है ॥१२॥

---

१ ब्रह्मण्य होना, देवपितृभक्ति, सौम्यता, किसीको दुःख न देना, कपटरहित होना, कोमलता, कठोर न होना, मित्रता, मीठी वाणी बोलना, कृतज्ञता, शरणागतकी रक्षा, करुणा और शांति–

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥

अर्थ और काममें जो आसक्त नहीं हैं उनको धर्म ज्ञान उपदेश किया जाता है, और धर्मको जाननेकी इच्छा करनेवालोंको वेदही उत्तम प्रमाण है ॥ १३ ॥

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥ १४ ॥

जहां दो श्रुतिका आपसमें विरोध हो वहां मनुकरके दोनों ही धर्म कहे गये हैं, क्योंकि बुद्धिमान् पिछले ऋषियोंनेभी उन दोनोंको श्रेष्ठ कहा है ॥ १४ ॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

सूर्योदयमें, सूर्य उदय न हो उस समयमें, और जब न तारे दीखते हों न सूर्य निकला हो तब सर्वथा यज्ञ होता है यह वेदकी श्रुति है (सारांश यह है कि वेदमें तीन प्रकारका विरोध है, यहां तीनोंही मानने चाहियें और जिस समय सुभीता हो उसी समय यज्ञ करै) ॥ १५ ॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

जिस (वर्ण) की गर्भसंस्कारसे लेकर मरणतककी विधि वैदिक मंत्रोंसे कही है उसीको[1] इस शास्त्रमें अधिकार जानना चाहिये, औरका नहीं ॥ १६ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

सरस्वती और दृषद्वती देवनदियोंके मध्यका जो देवताओंका रचाहुआ देश है उसको ब्रह्मावर्त कहते हैं ॥ १७ ॥

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

उस देशमें सब वर्णों और वर्णसंकरोंका जो आचार परंपरासे चला आया है वह सदाचार कहाता है ॥ १८ ॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल (पंजाब) और शूरसेन (मथुराका प्रांतभाग) यह ब्रह्मर्षियोंके निवास योग्य देश ब्रह्मावर्तके पास हैं ॥ १९ ॥

---

१ इस शास्त्रके पठनका अधिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनोंको है परंतु पढानेका और व्याख्यान करनेका अधिकार तो ब्राह्मणको ही है। यह बात "विदुषा ब्राह्मणेन" इस १ अध्यायके १०३ वें श्लोकमें कह आये हैं।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

इन देशोंमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणसे पृथ्वीपर सब मनुष्य अपना २ आचार सीखें ॥ २० ॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥
आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

हिमवान् और विन्ध्याचलके मध्य, कुरुक्षेत्रके पूर्व और प्रयागके पश्चिमका देश मध्यदेश कहा गया है ॥ २१ ॥ पूर्व समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्रतक और विंध्याचल तथा हिमाचल पर्वतोंके बीचके देशको पण्डित आर्यावर्त कहते हैं ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥

जहां कृष्णसार (अर्थात् कालामृग) स्वभावसे विचरता है वह देश यज्ञके योग्य जानना चाहिये, अन्य म्लेच्छ देश हैं ॥ २३ ॥

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः ।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्शितः ॥ २४ ॥

द्विजाति यत्नपूर्वक इनही देशोंमें और जीविकासे दुखी शूद्र तो जिस देशमें चाहे उसमें रहै ॥ २४ ॥

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।
संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

यह धर्मकी जड़ और सब जगत्की उत्पत्ति संक्षेपसे तुमसे कही, अब वर्णोंके धर्मोंको सुनो ॥ २५ ॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

द्विजातियोंके इस लोक और परलोकमें पवित्र करनेवाले गर्भाधान आदि शरीरसंस्कार, वेदोक्त पवित्र मंत्रोंकी विधिसे करने चाहियें ॥ २६ ॥

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥

गर्भ शुद्ध करनेवाले हवनोंसे और जातकर्म, मुंडन और यज्ञोपवीत इन संस्कारोंसे द्विजातियोंके गर्भ और बीजका दोष मिट जाता है ॥ २७ ॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

वेदके पढ़नेसे, व्रतोंसे, हवनोंसे, त्रैविद्य नाम व्रतसे, देव-ऋषि-पितृ-तर्पणसे, पुत्रोंसे, महायज्ञ और यज्ञोंसे यह शरीर मोक्ष पानेके योग्य हो जाता है ॥ २८ ॥

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥

पुरुषका जातकर्म नाल काटनेसें पहिले करना कहा है, और इस (बालक) को मंत्रोंसे सुवर्ण, शहद, और घीका प्राशन कराया जाता है ॥ २९ ॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

इस बालकका नामकरण दशवें या बारहवें दिन, अथवा पुण्य तिथि वा मुहूर्तमें वा गुणयुक्त नक्षत्रमें करावै ॥ ३० ॥

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणका नाम मंगल युक्त, क्षत्रियका बल युक्त, वैश्यका धन युक्त और शूद्रका निंदा युक्त होना चाहिये ॥ ३१ ॥

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणका शर्मा युक्त, राजाका रक्षा (वर्मा) युक्त, वैश्यका पुष्टि (गुप्त) युक्त और शूद्रका दास युक्त नाम रखना चाहिये ॥ ३२ ॥

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३ ॥

स्त्रियोंका नाम सुखसे कहने योग्य, कोमल, जिसका अर्थ स्पष्ट हो, सुन्दर, मांगलिक, जिसके अंतमें दीर्घ वर्ण हो, और जो आशीर्वादका वाचक हो ऐसा होना चाहिये ॥ ३३ ॥

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥ ३४ ॥

चौथे मासमें लड़केको घरसे बाहर निकालना चाहिये । छठे मासमें अन्न-प्राशन वा जो मंगल कार्य करना हो उसे अपने कुलकी रीतिके अनुसार करना चाहिये ॥ ३४ ॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥

सब द्विजातियोंका मुंडन, पहिले वा तीसरे वर्षमें, धर्म और वेदकी आज्ञानुसार करना चाहिये ॥ ३५ ॥

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

२, ११, १२

ब्राह्मणका जनेऊ गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेंमें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करै ॥ ३६ ॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥

ब्रह्म तेजकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मण पाचवें वर्षमें, बलके चाहनेवाले क्षत्रीका छठेमें, और धन चाहनेवाले वैश्यका आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत करना चाहिये ॥ ३७ ॥

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥

सोलह वर्षतक ब्राह्मणकी, बाईस वर्षतक क्षत्रीकी और चौबीस वर्षतक वैश्यकी सावित्रीका अतिक्रमण नहीं होता, अर्थात् इस अवस्थातक उनका जनेऊ हो सक्ता है ॥ ३८ ॥

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ ३९ ॥

यदि उचित समयपर इनका संस्कार न हो तो उस कालके अनंतर ये तीनों सावित्रीसे पतित, शिष्ट जनोंसे निन्दित और व्रात्यसंज्ञक हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान्यौनांश्च संबन्धानाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥ ४० ॥

ब्राह्मण, इन अपवित्र व्रात्योंके साथ आपत्तिमेंभी नियमानुसार पठन पाठन और विवाह आदि न करै ॥ ४० ॥

कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥

(ब्राह्मण आदि) ब्रह्मचारीको चाहिये कि काला मृग, रुरु मृग और बकरा इनके चर्म (दुपट्टेकी जगह) और सन, रेशम और ऊन इनके वस्त्र क्रमसे धारण करै ॥ ४१ ॥

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला ।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणको मेखला मूंजकी, तीन लड़की और चिकनी हो, क्षत्रीकी मूर्वानाम रूखड़ीकी जिसकी धनुषकी प्रत्यंचा बनती है उसकी, और वैश्यकी सनके सूतकी बनानी चाहिये ॥ ४२ ॥

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ ४३ ॥

मूंज न मिले तो क्रमसे कुशा, अश्मन्तक और बल्वज (तृण) की मेखला बनानी चाहिये और उसे तीन लड़की, एक गांठ, तीन गांठ वा पांच गांठकी बनावै ॥ ४३ ॥

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणका जनेऊ कपासके सूतका, ऊपरको बटा हुआ और तीन लड़ का, क्षत्रीका सनके सूतका, और वैश्यका मेड़की ऊनके सूतका होना चाहिये ॥ ४४ ॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ ४५ ॥
केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥ ४६ ॥

ब्राह्मणको बेल वा ढाकका, क्षत्रीको वड़ वा खैरका, वैश्यको पीलू वा गूलरका दंड धर्मानुसार धारण करना चाहिये ॥ ४५ ॥ ब्राह्मणको केशतक, क्षत्रीका मस्तकतक और वैश्यका नासिकातक प्रमाणसे दंड बनाना चाहिये ॥ ४६ ॥

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥

सब दंड सीधे, विना गांठके, देखनेमें सुंदर, मनुष्योंको बुरे न लगें, अग्निमें जले हुए न हों ऐसे छालयुक्त होने चाहियें ॥ ४७ ॥

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

ब्राह्मण आदि इच्छित दंडको लेकर, सूर्यके सामने खड़ा होकर और अग्निकी परिक्रमा करके विधिपूर्वक भिक्षा मांगे ॥ ४८ ॥

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

यज्ञोपवीत हुआ ब्राह्मण "भवत्" शब्दको पहिले कहकर, क्षत्री "भवत्" शब्दको मध्यमें और वैश्य "भवत्" शब्दको अंतमें कहकर भिक्षा मांगे, अर्थात् ब्राह्मण कहै "भवती भिक्षां देहि," क्षत्री कहै "भिक्षां भवती देहि," और वैश्य कहै "भिक्षां देहि भवती" ॥ ४९ ॥

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ५० ॥

ब्रह्मचारी पहिले मातासे वा बहिनसे वा सगी मौसीसे. अथवा जो हो नाहीं कर उसका अपमान न करै, उससे ही भिक्षा मांगे ॥ ५० ॥

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ ५१ ॥

उस भिक्षाको जितनी चाहिये उतनी लाकर, निष्कपट हो गुरुके समर्पण करै और फिर आचमन करके पवित्र हो पूर्वको मुखकर भोजन करै ॥ ५१ ॥

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥ ५२ ॥

पूर्वकी ओर मुख करके खाय तो आयु भोगे, दक्षिणकी ओर मुख करके खाय तो यश भोगे, पश्चिमकी ओर मुख करके खाय तो लक्ष्मी पावै और उत्तरकी ओर मुखकर खाय तो सत्यका फल (मोक्ष) मिले ॥ ५२ ॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥ ५३ ॥

द्विज, नित्य आचमन करके सावधान हो अन्नका भोजन करै और भोजनके अनंतर अच्छी भांति आचमन करै और छः छिद्रोंका (अर्थात् नाक, कान, नेत्र का) जलसे स्पर्श करै ॥ ५३ ॥

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥ ५४ ॥

भोजनका नित्य आदर करै और इसकी निन्दा न करता हुआ भोजन करै, उसे देख हर्ष करै, और प्रसन्न हो सर्वदा मिलनेके लिये प्रार्थना करै ॥ ५४ ॥

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥ ५५ ॥

नित्य आदरपूर्वक भोजन करनेसे वह बल और वीर्यको देता है, और अनादरसे वह खायागयाभी दोनोंका नाश करता है ॥ ५५ ॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
नचैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥ ५६ ॥

किसीको उच्छिष्ट न दे और न खाय; दिन तथा संध्याके भोजनके बीचमें न खाय (इससे तीनवार भोजनका निषेध है); अति भोजन न करै और खाकर जूंठे मुंह कहीं न जाय ॥ ५६ ॥

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

अधिक भोजन करना आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाशक और लोकनिन्दित है इस लिये उसे त्याग दे ॥ ५७ ॥

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥ ५८ ॥

ब्राह्मणको ब्राह्म, प्रजापति वा दैव तीर्थसे नित्य आचमन करना चाहिये, पित्र्य तीर्थसे कभी न करै ॥ ५८ ॥

आङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥

अंगूठेकी जड़के नीचे ब्राह्म तीर्थ, कनिष्ठा अंगुलीके मूलमें प्रजापति तीर्थ, अंगुलियोंके अग्रभागमें दैव तीर्थ और अंगूठे और प्रदेशिनीके बीचमें पित्र्य तीर्थ कहा है ॥ ५९ ॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥

पहिले, जलका तीनवार आचमन करै, फिर मुखको दो वार धोवै और (नाक, कान, नेत्र इन) छिद्रोंको, हृदयको और शिरको जलसे स्पर्श करे ॥६०॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥ ६१ ॥

पवित्रताको चाहनेवाला धर्मात्मा मनुष्य एकान्तमें पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके जो गरम न हो और झागरहित हो ऐसे जलसे (ब्रह्म आदि) तीर्थसे सदा आचमन करे ॥ ६१ ॥

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ ६२ ॥

ब्राह्मण हृदयमें गए हुए, क्षत्री कंठमें गये हुए, वैश्य मुखमें गए हुए और शूद्र होठोंसे स्पर्श हुए जलसे पवित्र होता है ॥ ६२ ॥

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः।
सव्ये प्राचीनआवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥ ६३ ॥

जब यज्ञोपवीत वा वस्त्र दाहिने हाथको बाहर निकालकर बायें कन्धेपर रक्खा जाय तब द्विज उपवीती (सव्य) कहाता है। जब बायें हाथको बाहर निकालकर दाहिने कंधेपर रक्खा जाय तब प्राचीनावीती (अपसव्य) कहाता है, और जब कंठमें पहिना जाय तब निवीती कहाता है ॥ ६३ ॥

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्।
अप्सु प्राश्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥ ६४ ॥

जो मेखला, मृगचर्म, दंड, जनेऊ और कमंडलु कामके न रहैं तो उन्हें पानीमें पधराकर मंत्रसहित दूसरे धारण करे ॥ ६४ ॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥

केशान्त कर्म (अर्थात् ठोडी वनवाना) ब्राह्मणको सोलहवें, क्षत्रीको बाई-सवें और वैश्यको चौवीसवें वर्षमें कहा है ॥ ६५ ॥

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

स्त्रियोंको ये सब कर्म शरीरके संस्कारके लिये उचित समयपर, संपूर्णरीतिसे क्रमपूर्वक मंत्ररहित करने चाहियें ॥ ६६ ॥

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥

स्त्रियोंके विवाहकी विधि वैदिक संस्कार (यज्ञोपवीत) कहा गया है। पतिकी सेवाही गुरुकुलमें वास और घरका कामही अग्निकी सेवा है ॥ ६७ ॥

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥

द्विजातियोंके दूसरे जन्मकी जतानेवाली यह यज्ञोपवीतकी पवित्र विधि मैंने कही, अब उसके बादके कृत्योंको सुनो ॥ ६८ ॥

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥ ६९ ॥

गुरुको चाहिये कि शिष्यका जनेऊ करके आदिसे शौच, आचार अग्निसेवा (हवन) तथा संध्योपासन सिखलावै ॥ ६९ ॥

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः ।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥ ७० ॥

सीखनेवाला जब शास्त्रकी रीतिसे आचमन कर, उत्तराभिमुख हो, ब्रह्माञ्जलि बांधकर कोपीन धारण कर जितेन्द्री हो तब पढ़ानेके योग्य होता है ॥ ७० ॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥

वेद पढ़नेके आरंभ और अंतमें सदा गुरुके चरण छुए, और हाथ जोड़कर पढ़नाही ब्रह्माञ्जलि कहाती है ॥ ७१ ॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ७२ ॥

हाथोंको एर फेर करके गुरुके चरण छूने चाहियें—बायें हाथसे बायां और दाहिने हाथसे दहिना चरण छूना चाहिये ॥ ७२ ॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥ ७३ ॥

गुरु, नित्यप्रति आलस्यहीन होकर पढ़नेवालेसे "भो (शिष्य) पढ़" यह कहै और " विराम हो " ऐसे कहकर पढ़ना बंद कर दे ॥ ७३ ॥

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोंकृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ७४ ॥

वेद पाठके आदि और अंतमें सदा ओंकारका उच्चारण करै क्योंकि पूर्वमें ओंकार न कहनेसे धीरे २, और पीछे न कहनेसे उसी समय पाठ विस्मरण हो जाता है ॥ ७४ ॥

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति ॥ ७५ ॥

द्विज, पूर्वकी ओर जिनका अग्रभाग हो ऐसे कुशाओंके आसनपर बैठा हुआ (कुशाओंके बने हुए) पवित्रोंसे पवित्र और तीन प्राणायामोंसे पवित्र हो तब ओंकारके उच्चारणके योग्य होता है ॥ ७५ ॥

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवःस्वरितीति च ॥ ७६ ॥

ब्रह्माने तीनों वेदोंसे अकार उकार और मकार और भूर्भुवःस्वः (इन तीन व्याहृतियों) को क्रमसे निकाला है ॥ ७६ ॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ७७ ॥

परमेष्ठी ब्रह्माने तीनों वेदोंसेही " तत् " इस सावित्रीकी ऋचाका एक २ पाद निकाला है ॥ ७७ ॥

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम् ।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥

इस (ओं) अक्षर और इस व्याहृतिपूर्वक (सावित्री) को दोनों सन्ध्याओंमें जपता हुआ वेदपाठी ब्राह्मण वेदपाठके पुण्यके फलका भागी होता है ॥ ७८ ॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः ।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥

ब्राह्मण इन तीनोंको बाहर (एकान्तस्थानमें) सहस्रवार जपकर एक मासमें बड़े भारी पापसे भी ऐसे छूट जाता है जैसे सांप कांचलीसे ॥ ७९ ॥

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया ।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

इस ऋचासे और समयपर अपने कर्मोंसे हीन ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य ये सज्जनोंमें निन्दित होते हैं ॥ ८० ॥

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥

जिनके पहिले ओंकार है ऐसी अविनाशिनी (भूः भुवः स्वः इन) तीन महाव्याहृति और तीन पदवाली सावित्रीको ब्रह्मका मुख जानना चाहिये ॥ ८१ ॥

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥ ८२ ॥

जो आलस्य छोड़कर इसे नित्य प्रति तीन वर्षतक पढ़ता है वह पवनरूप और आकाशरूप होकर परब्रह्मके पास जाता है ॥ ८२ ॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥ ८३ ॥

एकाक्षर (ओं) परब्रह्म है, प्राणायामही परम तप है, गायत्रीसे बढ़कर कुछ नहीं है और मौनसे सत्य बढ़कर है ॥ ८३ ॥

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः ।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ८४ ॥

संपूर्ण वेदकी, हवन, यज्ञ (आदि) क्रिया नाशमान है ? अविनाशी तो केवल " ओं " अक्षर और प्रजापति ब्रह्मको जानना चाहिये ॥ ८४ ॥

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ ८५ ॥

विधियज्ञ (अमावास्या पूर्णिमादि) से जपयज्ञ दशगुना बढ़कर है और उपांशु (अर्थात् मौन) जप, जपयज्ञसे सौगुना और मानसजप हजार गुना बढ़कर कहा गया है ॥ ८५ ॥

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ८६ ॥

जो विधियज्ञ सहित चार पाकयज्ञ (वैश्वदेव, होम, बलिकर्म नित्यश्राद्ध और अतिथिभोजन) हैं वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके योग्यभी नहीं हैं ॥ ८६ ॥

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ८७ ॥

ब्राह्मण जपसे सब सिद्धि पाता है इसमें संदेह नहीं है, और वह कुछ करै वा न करै, वह ब्रह्ममें लीन और सबका मित्र कहाता है ॥ ८७ ॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

पण्डितको चाहिये कि मनके हरनेवाले विषयोंमें विचरनेवाली इन्द्रियोंके रोकनेमें ऐसा यत्न करै कि जैसा घोड़ोंके रोकनेमें सारथी करता है ॥ ८८ ॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

पहिले पण्डितोंने जो ग्यारह इन्द्रियां कहीं हैं उनको ठीक २ क्रमसे भली भांति कहता हूं ॥ ८९ ॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥

कान, त्वचा, दोनों नेत्र, जीभ, पांचवी नाक, गुदा, लिंग, हाथ, पैर और दशमी वाणी ये दश इन्द्रियां कहीं हैं ॥ ९० ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥

इनमें पहिली कान आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और पिछली गुदा आदि पांच कर्मेन्द्री हैं ऐसा कहा है ॥ ९१ ॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ९२ ॥

मनको ग्यारहवां इन्द्रिय जानना चाहिये यह अपने गुणसे कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनोंकाही आत्मा स्वरूप है । इसके जीतनेसे ऊपर कही दशों इन्द्रियां जय हो जाती हैं ॥ ९२ ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ९३ ॥

मनुष्य इन्द्रियोंके प्रसंगसे निःसन्देह दोषको प्राप्त होता है और उन्हींको रोककर सिद्धि पाता है ॥ ९३ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥

इच्छा, विषयोंके उपभोगसे कभी शांत नहीं होती, घृतसे अग्निके समान वार २ अधिक ही बढ़ती है ॥ ९४ ॥

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत् ।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥

जो इन सब विषयोंको प्राप्त करै और जो इन सबको त्याग दे, इन दोनों- मेंसे सब विषयोंके पानेसे उनका त्याग अधिक अच्छा है ॥ ९५ ॥

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

जैसे ये विषयोंमें लगी हुई इंद्रियां ज्ञानसे नित्यप्रति रोकी जासक्ती हैं वैसे विषयोंकी सेवा न करनेसे नहीं ॥ ९६ ॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥

दुष्ट स्वभाववाले मनुष्यके वेद, दान, यज्ञ, नियम और तप, ये कभी भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ९७ ॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ९८ ॥

जो मनुष्य सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूंघकर न तो प्रसन्न होता है और न उदास होता है उसे जितेन्द्रिय जानना चाहिये ॥ ९८ ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ ९९ ॥

सब इन्द्रियोंमेंसे जो एक इंद्रियभी अपने विषयमें लग जाय तो उससे मनुष्यकी बुद्धि ऐसे जाती रहती है जैसे चर्मपात्र (मशक) मेंसे जल निकल जाता है ॥ ९९ ॥

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

इन्द्रियसमूहको वशमें करके तथा मनको रोककर और उपायोंसे शरीरको पीड़ा न देकर मनुष्यको सब अर्थोंका साधन करना चाहिये ॥ १०० ॥

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१ ॥

प्रातःकालकी संध्याके समय सूर्यके उदयतक गायत्रीको जपता रहै और सायंकालकी संध्यामें अच्छे प्रकारसे तारे निकलनेतक बैठा रहै ॥ १०१ ॥

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १०२ ॥

प्रातःसंध्याके समय बैठकर जप करता हुआ मनुष्य रात्रिका पाप दूर करता है और सायंकालके समय बैठकर दिनका कियाहुआ पाप नाश करता है ॥ १०२ ॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥ १०३ ॥

जो मनुष्य न तो प्रातःसंध्या करता है और न सायंसन्ध्या करता है वह शूद्रके समान संपूर्ण द्विज कर्मोंसे बाहर निकालनेके योग्य है ॥ १०३ ॥

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥ १०४ ॥

वनमें जाकर जलके पास, इन्द्रियोंको रोककर, एकाग्र चित्तसे नित्यकी विधि कर चुकनेपर गायत्रीका जप करै ॥ १०४ ॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ १०५ ॥

वेदके अंग, नित्यके स्वाध्याय, और होमके मंत्रोंमें अनध्यायकी रुकावट नहीं है अर्थात् इन्है अनध्यायमेंभी करै ॥ १०५ ॥

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ १०६ ॥

नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है क्योंकि उसे मनुजीने ब्रह्मयज्ञ कहा है। वेदकी आहुतिका हवन और अनध्यायमें किया हुआ वषट्कारभी पुण्यरूप है ॥ १०६ ॥

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७ ॥

जो जितेन्द्री और शुद्ध होकर एक वर्षतक वेदको विधिपूर्वक पढ़ता है उसको यह दूध, दही, घृत और शहद नित्य देता है ॥ १०७ ॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम् ।
आ समावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥ १०८ ॥

जिसका जनेऊ हो गया है ऐसा द्विज वेद पढ़नेकी समाप्तितक अग्निमें ईंधन लगाना, भिक्षा मांगना, भूमिमें शयन करना और गुरुका हित ये करै ॥ १०८ ॥

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥१०९॥

आचार्यका पुत्र, सेवक, ज्ञानका दाता, धार्मिक, शुद्ध, बांधव, समर्थ धन देनेवाला, साधु और अपनी जातिका ये दश धर्मसे पढ़ाने योग्य हैं ॥ १०९ ॥

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ११० ॥

गुरु विना पूछे और अन्यायसे पूछनेवाले किसीसे न बोले अर्थात् न पढ़ावै, वह बुद्धिमान् जानता हुआभी लोकमें गूँगे के समान रहै ॥ ११० ॥

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं नाधिगच्छति ॥ १११ ॥

जो अधर्मसे कहता और अधर्मसे पूछता है उन दोनोंमेंसे एक मर जाता है या आपसमें शत्रुताको प्राप्त होता है ॥ १११ ॥

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥

जिस शिष्यमें धर्म और अर्थ नहीं हों और शास्त्रोक्त सेवाभी न हो उसे विद्या नहीं पढ़ानी चाहिये । उसे विद्यादान देना ऊसर भूमिमें अच्छे बीज बोनेके समान है, अर्थात् निष्फल है ॥ ११२ ॥

विद्ययैव समं कामं कर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥

वेदपाठीका विद्याके साथही अर्थात् किसीको विना पढ़ायेही मरना भला है परंतु घोर आपत्तिमेंभी इसे ऊसरमें न बोवै अर्थात् कुपात्रको न पढ़ावै ॥ ११३ ॥

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ११४ ॥

विद्याने किसी ब्राह्मणसे आकर कहा कि "मैं तेरा खजाना हूं, मेरी रक्षा कर, मुझे निन्दा करनेवालेको मत दे, इससेही मैं वीर्यवती होऊंगी ११४

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ११५ ॥

जिसे जितेन्द्री, ब्रह्मचारी और पवित्र जाने उसी (विद्यारूपी) खानिकी रक्षा करनेवाले सावधान ब्राह्मणको मुझे सुना अर्थात् मुझे दे" ॥ ११५ ॥

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

जो मनुष्य, अभ्यासके लिये पढ़ते या किसीको पढ़ाते हुए गुरुकी विना आज्ञाके वेदको प्राप्त करता है वह वेदकी चोरीसे युक्त नरकको जाता है ॥११६॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥

जिससे लौकिक, वैदिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करै उसे (सभामें) पहिले नमस्कार करै ॥ ११७ ॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ११८ ॥

केवल गायत्रीका जाननेवालाही जितेन्द्री ब्राह्मण श्रेष्ठ है, पर तीनों वेदका ज्ञाताभी जो सर्वभक्षी, सब वस्तु बेचनेवाला और अजितेन्द्री हो वह श्रेष्ठ नहीं है ॥ ११८ ॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवेनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

गुरु जन करके अंगीकार किये गए अर्थात् विद्या गुरुके, खाट और आसन पर न बैठें, और जो आप खाट वा आसन पर बैठा हो तो उठ कर (मातापिता आदि) गुरुको प्रणाम करै ॥ ११९ ॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥

वृद्धके आनेपर छोटे मनुष्यके प्राण ऊपरको चढ़ते हैं और उठकर प्रणाम करनेसे वह फिर उनको प्राप्त करता है, अर्थात् ठीक करता है ॥ १२० ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ १२१ ॥

जिसका प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है उसकी आयु, विद्या, यश और बल ये चार बढ़ते हैं ॥ १२१ ॥

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ १२२ ॥

ब्राह्मण नमस्कारके पीछे वृद्धको प्रणाम करता हुआ " अमुक नाम मैं हूं " इस भांति अपना नाम बतावै ॥ १२२ ॥

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥ १२३ ॥

जो कोई नामके उच्चारणपूर्वक नमस्कारको नहीं जानते उनसे पण्डित " मैं नमस्कार करता हूं " यह कहै, और उसी प्रकार सब स्त्रियोंसे कहै ॥१२३॥

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥ १२४ ॥

नमस्कारमें अपने नामके अंतमें " भो " शब्द कहै। " भो " का अर्थ नामोंका स्वरूप है यह ऋषियोंने कहा है ॥ १२४ ॥

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥ १२५ ॥

अभिवादन करनेपर " हे सौम्य ! आयुष्मान् हो " यह ब्राह्मणसे कहना चाहिये । नमस्कार करनेवालेके नामके अंतमें पूर्वके अक्षर अकारको प्लुत अर्थात् ह्रस्वसे तिगुने जोर से कहना चाहिये ॥ १२५ ॥

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥

जो ब्राह्मण नमस्कारके बदलेके नमस्कारको नहीं जानता है, पण्डितको चाहिये कि उसे नमस्कार न करै क्योंकि वह शूद्रके समान है ॥ १२६ ॥

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥

मिलनेपर ब्राह्मणसे कुशल, क्षत्रीसे अनामय, वैश्यसे क्षेम और शूद्रसे आरोग्य पूछै ॥ १२७ ॥

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ १२८ ॥

जो छोटाभी दीक्षित हो तो उसे नाम लेकर नहीं पुकारना चाहिये । धर्मज्ञ " भो " या " भवत् " शब्दपूर्वक उससे बोलै ॥ १२८ ॥

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनितः ।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥

जो स्त्री पराई हो और योनिसे संबन्ध न रखती हो (अर्थात् बहिन आदि न हो) उससे " भवति " " सुभगे " " भगिनी " यों बोलै ॥ १२९ ॥

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् ।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

मामा, चाचा, श्वशुर, ऋत्विज और गुरु इनको छोटा मनुष्य उठकर " यह मैं हूं " ऐसा कहै ॥ १३० ॥

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।
संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥

मौसी, मामी, सासू और बुआ ये गुरुपत्नीके समान आदरके योग्य हैं क्योंकि ये गुरुपत्नीके समान हैं ॥ १३१ ॥

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि ।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोषितः ॥ १३२ ॥

भाईकी सवर्णा भार्याके चरणोंको नित्य प्रति वंदना करै । जातिकी तथा संबन्धियोंकी स्त्रियोंके चरणोंको प्रदेशसे आकर वंदना करै ॥ १३२ ॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि ।
मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥ १३३ ॥

बुआ, मौसी और अपनी बड़ी बहिनके साथभी माताके समान बर्ताव करै, परंतु माता उनसे बहुत बड़ी है ॥ १३३ ॥

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥ १३४ ॥

पुरवालोंमें दशवर्षकी, कलाओंके जाननेवालोंमें पांच वर्षकी और वेदपाठियोंमें तीन वर्षकी छुटाई बड़ाई का विचार नहीं है, परंतु अपने कुलवालोंमें थोड़ीसी छुटाई बड़ाईकाभी विचार होता है ॥ १३४ ॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।
पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥ १३५ ॥

दश वर्षके ब्राह्मण और सौवर्षके क्षत्रियको पितापुत्र जाने । उनमें ब्राह्मण पिता है ॥ १३५ ॥

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥

धन, बन्धु, आयु, कर्म और पांचवीं विद्या ये मान्यताके स्थान हैं । जो जो पीछे है वही पहिलेसे बड़ा है अर्थात् धनसे बन्धु बड़ा है इत्यादि ॥ १३६ ॥

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ १३७ ॥

तीनों वर्णोंमें पांचों गुणोंमेंसे बहुतसे गुण जिसमें हों वह सन्मानके योग्य है, और नव्वै वर्षसे अधिक आयुवाला शूद्रभी माननीय है ॥ १३७ ॥

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ १३८ ॥

सवारीमें बैठे हुएको, नव्वैसे अधिक अवस्थावालेको, रोगीको, बोझवालेको, स्त्रीको, स्नातक (जिसका समावर्तन संस्कार हो चुकाहो उस)को, राजाको और दूलहको मार्ग देना चाहिये ॥ १३८ ॥

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥ १३९ ॥

उन इकट्ठे हुओंमेंसे स्नातक और राजा माननेके योग्य हैं, और राजा तथा स्नातक इन दोनोंमें स्नातकही राजासे अधिक मान्य है ॥ १३९ ॥

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

जो ब्राह्मण शिष्यका यज्ञोपवीत कर उसे यज्ञविद्या और उपनिषद्युक्त वेद पढ़ाता है उसे आचार्य कहते हैं ॥ १४० ॥

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ १४१ ॥

जो (ब्राह्मण) वेदके एक भाग अथवा वेदांगोंको जीविकाके लिये पढ़ाता है वह उपाध्याय कहाता है ॥ १४१ ॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

जो (ब्राह्मण) किसीके गर्भाधान आदि कर्मोंको विधिपूर्वक करता है और अन्नसे पालन करता है वह ब्राह्मण गुरु कहाता है ॥ १४२ ॥

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥ १४३ ॥

इस जगतमें जो अग्न्याधान, पाकयज्ञ और अग्निष्टोम आदि यज्ञोंको जिसकी ओरसे आचार्य होकर करता है उसका वह ऋत्विक् कहाता है ॥१४३ ॥

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥ १४४ ॥

जो दोनों कानोंको सत्य वेदसे भरता है अर्थात् वेद सुनाता है उसे मातापिता जानना चाहिये, उससे कभी द्रोह न करे ॥ १४४ ॥

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १४६ ॥

बड़कपनमें, दश उपाध्यायोंसे आचार्य, सौ आचार्योंसे पिता, और हजार पिताओंसे माता अधिक है ॥ १४५ ॥ जन्म देनेवाला और वेद पढ़ानेवाला इन दोनोंमें वेदका पढ़ानेवाला पितासे बड़ा है, क्योंकि ब्राह्मणको ब्रह्मजन्म (उपनयन संस्कार) से परलोकमें और यहां ब्रह्मकी प्राप्ति होती है ॥ १४६ ॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥ १४७ ॥

माता पिता परस्पर कामके वश होकर इसे पैदा करते हैं जिससे यह योनिमें उत्पन्न होता है, वह केवल इसका जन्म मात्र है ॥ १४७ ॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा ॥ १४८ ॥

वेदका जाननेवाला आचार्य इसको विधिपूर्वक जो गायत्रीसे जन्म देता है वही जाति सत्य, अजर और अमर है ॥ १४८ ॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥

जो गुरु जिसका थोड़े वा बहुत वेदके पढ़ानेसे उपकार करता हो उस वेद पढ़ानेसे उसकोभी संसारमें गुरु जाने ॥ १४९ ॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥ १५० ॥

वेद पढ़नेके लिये जन्म देनेवाला और अपने धर्मको सिखानेवाला ब्राह्मण बालकभी क्यों न हो धर्मसे वृद्धका पिता होता है ॥ १५० ॥

अध्यापयामास पितॄञ्शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इतिहोवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥

अंगिराके विद्वान् बालक पुत्रने अपने चाचा आदिको पढ़ाया और उनको ज्ञान दे, शिष्य बनाकर "हे पुत्रो" यह कहा ॥ १५१ ॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥

वे चाचा आदि क्रोधकर उस अर्थको देवताओंसे पूछने लगे और देवताओंने मिलकर उनसे कहा कि तुमसे बालकने ठीक कहा है ॥ १५२ ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १५३ ॥

अज्ञ बालक होता है और मंत्र देनेवाला पिता होता है, इस लिये अज्ञको बालक और मंत्रदाताको पिताही कहते हैं ॥ १५३ ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १५४ ॥

न बहुत वर्षोंसे, न सफेदबालोंसे, न धनसे, न भाई बन्धुओंसे कोई बड़ा होता है । ऋषिओंने यह धर्म किया है कि जो अंगोंसहित वेद पढ़नेवाला है वही बड़ा है ॥ १५४ ॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ १५५ ॥

ब्राह्मणोंका ज्ञानसे, क्षत्रियोंका वीर्यसे, वैश्योंका धनधान्यसे और शूद्रोंका आयुसेही बड़कपन होता है ॥ १५५ ॥

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १५६ ॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १५७ ॥

सिरके बाल सफेद होनेसे कोई बड़ा नहीं होता । जो तरुणभी पढ़ा लिखा हो तो देवता उसे वृद्ध कहते हैं ॥ १५६ ॥ काठका हाथी, चमड़ेका हरिण और बिना पढ़ा ब्राह्मण ये तीनों केवल नाम धारण करते हैं ॥ १५७ ॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ १५८ ॥

जैसे स्त्रियोंमें नपुंसक निष्फल है, जैसे गौ गौओंमें निष्फल है, जैसे अज्ञमें दान निष्फल है, वैसेही वेद नहीं पढ़ा ब्राह्मण निष्फल होता है ॥ १५८ ॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ १५९ ॥

धर्मकी इच्छा करनेवाला मनुष्य प्राणियोंको अहिंसासेही कल्याणके लिये शिक्षा दे और मीठी तथा कोमल वाणी बोले ॥ १५९ ॥

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

जिसके सदा वाणी और मन शुद्ध हैं और ये अच्छे प्रकारसे रक्षित हैं वही सब वेदान्तके फलको पाता है ॥ १६० ॥

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥

दुःखी होने परभी न तो दूसरेका मन दुखावे और न दूसरेसे द्रोह करनेमें मन लगावै । जिससे किसीको दुःख हो ऐसी बुरी वाणी न बोले ॥ १६१ ॥

संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि सन्मानसे विषके समान नित्य डरता रहै (क्योंकि गर्व हो जायगा) और अमृतके समान सदा अपमानकी इच्छा करता रहै अर्थात् तिरस्कार होनेपर खेद न करै, मान अपमान दोनोंको सहले ॥ १६२ ॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥

अपमान सहलेनेवाला मनुष्य सुखसे सोता है, सुखसे जागता है और इस संसारमें सुखसे विचरता है परंतु अपमान करनेवालेका नाश हो जाता है ॥ १६३ ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन्संचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥

इस क्रमसे संस्कार किया हुआ द्विज, गुरुके पास रहता हुआ धीरे २ वेदके ज्ञानके लिये तपका संचय करै ॥ १६४ ॥

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥ १६५ ॥

विधिपूर्वक बतलाए हुए तप विशेषोंसे और अनेक प्रकारके व्रतोंसे ब्राह्मणको उपनिषदयुक्त वेद पढ़ना चाहिये ॥ १६५ ॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १६६ ॥

ब्राह्मण तप करता हुआ सदा वेदकाही अभ्यास करता रहै क्योंकि इस लोकमें वेदका अभ्यासही ब्राह्मणका बड़ा भारी तप कहा गया है ॥ १६६ ॥

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥१६७

जो ब्राह्मण माला धारणकरके (अर्थात् ब्रह्मचर्यके नियमोंमें जो माला धारण करना निषेध है उसको पहिर कर) भी नित्यप्रति शक्तिके अनुसार वेद पढ़ता है वह चरणके नखोंतक अर्थात् सर्व देहव्यापी बड़ा भारी तप करता है ॥ १६७ ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥

जो ब्राह्मण वेदको न पढ़कर और शास्त्रोंमें परिश्रम करता है वह जीतेजी कुटुंब सहित शीघ्र शूद्र हो जाता है ॥ १६८ ॥

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥

वेदकी आज्ञानुसार ब्राह्मणका जन्म प्रथम मातासे, दूसरा यज्ञोपवीतमें और तीसरा यज्ञकी दीक्षामें होता है ॥ १६९ ॥

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १७० ॥

इन तीनों जन्मोंमें यज्ञोपवीतके चिह्नवाला जो ब्रह्मजन्म है उसमें इस (ब्राह्मण) की गायत्री माता और आचार्य पिता कहाता है ॥ १७० ॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते ।
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौञ्जिबन्धनात् ॥ १७१ ॥

वेदका दान करनेसे आचार्यको पिता कहा है क्योंकि इस (ब्राह्मण) को यज्ञोपवीत होनेसे पहिले कोई कर्म करनेका अधिकार नहीं है ॥ १७१ ॥

नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

स्वधा नियमके विना अर्थात् श्राद्धमंत्रोंके सिवाय वेदमंत्र (यज्ञोपवीतके पहिले) नहीं उच्चारण करै क्योंकि जबतक वेदमें अधिकारी नहीं होता तबतक शूद्रके समान है ॥ १७२ ॥

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १७३ ॥

यज्ञोपवीतके अनंतर व्रतोंका उपदेश और वेद पाठ. क्रमसे विधिपूर्वक कहे गये हैं ॥ १७३ ॥

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला ।
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥
सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

ब्रह्मचारीको जो चर्म, सूत्र, मेखला, दंड और वस्त्र यज्ञोपवीतमें कहा है वही उसके व्रतोंमेंभी होना चाहिये ॥ १७४ ॥ ब्रह्मचारी गुरुके यहां रहता

हुआ अपना तप बढ़ानेके लिये इन्द्रियोंके समूहको अच्छी भांति रोककर इन नियमोंका सेवन करै ॥ १७५ ॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥

ब्रह्मचारी नित्य स्नानसे शुद्ध होकर देव, ऋषि, पितृतर्पण और देवताओंका पूजन तथा अग्निहोत्र करै ॥ १७६ ॥

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥

शहद, मांस, सुगंधित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री, सिरकेकी भांति बनी हुई वस्तु और प्राणियोंकी हिंसा इनको त्याग दे ॥ १७७ ॥

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥

उवटना, आँखोंका आँजना, जूते, छत्री धारण करना, काम, क्रोध. लोभ, नाचना, गाना, बजाना इनकोभी त्याग दे ॥ १७८ ॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ १७९ ॥

जुआ, झगड़ा, निंदा, तथा झूठ, स्त्रियोंको देखना, आलिंगन करना और पराया तिरस्कार करना (ये भी ब्रह्मचारीको नहीं करने चाहियें) ॥ १७९ ॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८० ॥

सब जगह अकेला सोवै, वीर्यको कभी नहीं गिरावै, कामसे वीर्यको गिराता हुआ ब्रह्मचारी अपने व्रतका नाश करता है ॥ १८० ॥

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ १८१ ॥

ब्रह्मचारी ब्राह्मण सुपनेमें अनजाने वीर्यको गिराकर स्नान करै और सूर्यकी पूजा कर " पुनर्मामैत्विन्द्रियं " इस ऋचाको तीनवार पढ़ै ॥ १८१ ॥

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान्।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

पानीका घड़ा, फूल, गोवर, मिट्टी और कुशा इनको जितना कामके लिये चाहियें उतनाही लावै और नित्य भिक्षा मांगे ॥ १८२ ॥

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥

जो वेद और यज्ञोंसे रहित नहीं हैं और अपने कर्मोंमें सावधान हैं उनके घरोंसे ब्रह्मचारी पवित्र हो कर नित्य भिक्षा लावै ॥ १८३ ॥

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

गुरुके कुलमें भिक्षा न मांगै, और ज्ञाति, कुल बन्धुओंमेंभी न मांगे। दूसरे घर न मिलने पर तो पहिला २ त्यागदे, अर्थात् प्रथम कुलबन्धुओंमें भिक्षा माँगे, वहां न मिलै तो ज्ञातिमें, और जो ज्ञातिमें भी न मिले तो गुरुके कुलमेंभी मागे ॥ १८४ ॥

सर्वं वापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥

पहिले कहेहुओंका अभाव हो तो वाणीको रोककर पवित्रहो सब गांवमें (भिक्षाके लिये) फिरै परंतु वहां पातकियोंको छोड़ दे ॥ १८५ ॥

दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि।
सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

दूरसे समिधा लाकर खुलेमें रक्खै और आलस्यरहित होकर उनसे सांझ और सबेरे अग्निमें हवन करैं ॥ १८६ ॥

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥
भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥
व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत्।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥

नीरोग ब्रह्मचारी भिक्षा विना मांगे और अग्निमें विना समिधा होमे सात रात्रितक रहै तो "अवकीर्णि" नाम व्रत करै ॥ १८७ ॥ ब्रह्मचारी नित्य भिक्षा मांगै, एक मनुष्यका अन्न खानेवाला न बनैं। ब्रह्मचारीको भिक्षासे आजीविका करना उपवासके समान कहा है ॥ १८८ ॥ ब्रह्मचारी, देवताओंके कर्ममें व्रतके समान और पितर कर्ममें ऋषिके समान, न्यौता हुआ इच्छा-पूर्वक भोजन करै; इससे इसके व्रतका लोप नहीं होता ॥ १८९ ॥

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

पण्डितोंने यह कर्म (अर्थात् श्राद्ध भोजन) ब्राह्मणकोही कहाहै, क्षत्री-वैश्योंको इस प्रकारका काम नहीं कहा है ॥ १९० ॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

गुरुसे प्रेरणा किया जाय वा न किया जाय, ब्रह्मचारी पढ़नेमें और गुरुके हितमें नित्य यत्न करै ॥ १९१ ॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ १९२ ॥
नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥ १९३ ॥

शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रिय और मन इनको रोककर हाथ जोड़े, गुरुके मुखको देखता हुआ खड़ा रहै ॥ १९२ ॥ नित्य ओढ़नेके वस्त्रसे हाथको बाहर निकाले रहै, सुन्दर आचरण रक्खें, वस्त्रसे देहको ढके रहै, और जब गुरु "बैठ जाओ" कहैं तब उनके सामने बैठे ॥ १९३ ॥

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ १९४ ॥

गुरुके सामने सदा सामान्य अन्न, वस्त्र और वेशसे रहै, और गुरुके पहिले उठै और पीछे सोवै ॥ १९४ ॥

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥ १९५ ॥

गुरुकी आज्ञाका स्वीकार और उनसे वार्तालाप ये सोता, बैठा, भोजन करता, खड़ा और मुंह फेरे हुए नहीं करै ॥ १९५ ॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥ १९६ ॥

बैठे हुए गुरुको खड़े होकर, खड़े हुएको सामने जाकर, आते हुएके कुछ पद आगे जाकर, दौड़ते हुएके पीछे दौड़कर उनसे बात चीत करै ॥ १९६ ॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७ ॥

गुरु मुँह फेरें हों तो उनके सामने जाकर, दूर हों तो पास जाकर, सोते और बैठे हों तो प्रणाम करके वार्तालाप करै ॥ १९७ ॥

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८ ॥

गुरुके समीप इसका पलंग और आसन सदा नीचा रहै और गुरुकी आँखोंके सामने मनमाने आसनसे न बैठे ॥ १९८ ॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यनुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥

गुरुके पीठ पीछेभी उनका खाली नाम न ले, और उनकी गति, बोलचाल और चेष्टाकी कदापि नकल न करै ॥ १९९ ॥

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ २०० ॥

जहां गुरुकी बुराई वा निंदा होती हो वहां कानोंको बंद कर लेना चाहिये वा वहांसे और जगह चला जाना चाहिये ॥ २०० ॥

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः ।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥ २०१ ॥

शिष्य गुरुकी बुराईसे गधा, निन्दासे कुत्ता, उनके धन भोगनेसे कृमि, और उनके साथ डाह करनेसे कीट होता है ॥ २०१ ॥

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

शिष्य दूरसे (किसीके द्वारा) क्रुद्ध होकर वा स्त्रीके पास बैठा हुआ गुरुका पूजन न करै, और जो सवारी पर बैठा हो तो उतर कर गुरुको प्रणाम करै ॥ २०२ ॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

जहां गुरुके बैठनेके प्रदेशसे शिष्यके बैठनेके प्रदेशको वायु चलती हो और शिष्यके बैठनेके प्रदेशसे गुरुके बैठनेके प्रदेशको चलती हो वहां गुरुके साथ न बैठै, और जहां गुरु सुनने न पावैं वहां कोई बात न कहै ॥ २०३ ॥

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च ।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥

बैल, घोड़ा वा ऊंट जुती हुई सवारी तथा महलमें बिछाई चटाइयोंपर, और शिला, तखत तथा नौकापर गुरुके साथ बैठ जाय ॥ २०४ ॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

गुरुके गुरुके पास होनेपर उनके साथ गुरुके समान ही बर्ताव करै, और गुरुसे आज्ञा लिये विना अपने गुरु अर्थात् माता पिता आदिको प्रणाम न करै ॥२०५॥

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥

विद्या पढ़ानेवालोंमें यही बर्ताव करना चाहिये; और जो अपने वंशके हों, अधर्मको मनें करैं और धर्मका उपदेश करैं उनमेंभी यही रीति नित्य चाहिये ॥ २०६ ॥

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥

बड़े लोगोंमें, श्रेष्ठ गुरुपुत्रोंमें और गुरुके बंधुओंमें नित्य गुरुके समान ही बर्ताव करै ॥ २०७ ॥

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

गुरुका पुत्र छोटा हो वा समान अवस्थाका हो, अथवा यज्ञविद्यादिमें शिष्य हो यदि वह वेदके पढ़ानेमें समर्थ हो तो उसका गुरुके समान सन्मान करना चाहिये ॥ २०८ ॥

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।
न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥

गुरुपुत्रके अंगोंमें उवटना लगाना, उसे स्नान कराना, उसका जूठा भोजन और उसके चरणोंका धौना इनका निषेध है ॥ २०९ ॥

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।
असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ २१० ॥

सवर्ण गुरुपत्नियां गुरुके समान पूज्य हैं, और अन्य जातिकी हों तो अभ्युत्थान और प्रणामसे सत्कारके योग्य होती हैं ॥ २१० ॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ २११ ॥

गुरुपत्नीके तैलमर्दन, स्नान, शरीरके अंगोंपर उवटना और वालोंपर सुगंध लगाना ये काम नहीं करने चाहियें ॥ २११ ॥

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥

इस जगतमें पूरे वीस वर्षके तथा गुण दोप जाननेवाले शिष्यको, तरुण गुरुपत्नीके चरणोंमें गिरकर प्रणाम नहीं करना चाहिये ॥ २१२ ॥

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ २१३ ॥

इस संसारमें पुरुषोंको दूषण लगाना स्त्रियोंका स्वभाव होता है, इस लिये पण्डित जन स्त्रियोंमें असावधानतासे नहीं रहते हैं ॥ २१३ ॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥

संसारमें स्त्रियां मूर्खको अथवा काम क्रोधके वशीभूत पण्डितको बुरे मार्गमें ले जानेके लिये समर्थ होती हैं ॥ २१४ ॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
वलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥

मनुष्यको चाहिये कि माता, वहिन वा लड़कीके साथ एकांतमें स्थित न हो क्योंकि वली इन्द्रियोंका समूह पण्डितकोभी धर खेंचता है ॥ २१५ ॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥

तरुण शिष्यको चाहिये कि तरुण गुरु पत्नियोंको "यह मैं हूं" यह कहता हुआ पृथ्वीपर अच्छी भांति विधिसहित प्रणाम करै ॥ २१६ ॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥

शिष्य, सज्जनोंके धर्मको याद करता हुआ प्रदेशसे आकर गुरु पत्नियोंका चरणस्पर्श करै और उन्हें नित्य प्रणाम करै ॥ २१७ ॥

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

जिस भांति मनुष्य फावड़ेसे खोदता हुआ जलको पाता है उसी भांति सेवा करनेवाला शिष्य गुरुके पासकी विद्या पाता है ॥ २१८ ॥

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्कचित् ॥ २१९ ॥

ब्रह्मचारी, मूड़मुड़ाए अथवा जटा रखाए हो, अथवा शिखाकी ही जटा बनाये हो पर इसके गांवमें रहते न तो कभी सूर्य छिपे और न उदय हो अर्थात् सूर्यास्त और सूर्योदयके पहिले यह गांवसे बाहर जाकर अपना अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म करै ॥ २१९ ॥

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥

जो इच्छापूर्वक सोते हुए उसको सूर्य उदय हो जाय वा भूलसे अस्त हो जाय तो गायत्रीको जपता हुआ दिनभर व्रत करै ॥ २२० ॥

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥

जो सोते हुएको सूर्य अस्त हो जाय और उदय हो जाय तो प्रायश्चित्तके न करनेसे उसे बड़ा पाप होता है ॥ २२१ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

पवित्र और सावधान ब्रह्मचारी आचमन करके शुद्ध स्थानमें गायत्रीको विधिपूर्वक जपता हुआ दोनों संध्याओंमें उपासना करै ॥ २२२ ॥

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत् ।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

स्त्री अथवा शूद्र जो कुछ अच्छा काम करैं उस सबको, अथवा जिसमें इसका मन लगे उसे सावधान होकर करै ॥ २२३ ॥

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

इस संसारमें कितनेही (आचार्य) धर्म और अर्थको कल्याणरूप कहते हैं, कितनेही काम और अर्थको, और कितनेही धर्मको अथवा अर्थहीको कल्याण-रूप कहते हैं, परंतु धर्म, अर्थ और काम ये तीनों कल्याणरूप हैं यह सिद्धान्त है ॥ २२४ ॥

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२५ ॥

आचार्य, पिता, माता, बड़ा भाई इनका दुखी मनुष्य भी, और विशेषकर ब्राह्मणभी अपमान न करै ॥ २२५ ॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ २२६ ॥

आचार्य परमात्माकी मूर्त्ति है, पिता ब्रह्माकी मूर्त्ति, माता पृथ्वीकी मूर्ति और भाई अपनी ही मूर्ति है ॥ २२६ ॥

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥

मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता पिता सहते हैं उसका बदला सौ वर्षोंमेंभी नहीं दिया जासक्ता ॥ २२७ ॥

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥

इसलिये नित्य उन दोनोंका और सदा आचार्यका प्रिय करै, उन्हीं तीनोंके तुष्ट होनेपर सब तप समाप्त हो जाता है ॥ २२८ ॥

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥

इन तीनोंकी सेवाही बड़ा भारी तप कहा गया है । इन तीनोंकी आज्ञा विना शिष्य अन्य धर्मको न करै ॥ २२९ ॥

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ २३० ॥

वे ही तीनों लोक, वेही तीनों आश्रम, वेही तीनों वेद और वेही तीनों अग्नि कहे गये हैं ॥ २३० ॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥

पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि, गुरु आहवनीय अग्नि है ऐसा कहाहै, और वह अग्निसमूह अत्यंत श्रेष्ठ है ॥ २३१ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्गृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥ २३२ ॥

गृहस्थी, इन तीनोंमें सावधान रहनेसे तीनों लोकोंको जीतता है, और अपने शरीरसे तेजस्वी होता हुआ स्वर्गमें देवताके समान प्रसन्न होता है ॥ २३२ ॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३ ॥

माताकी भक्तिसे इस लोकको, पिताकी भक्तिसे मध्य लोकको और गुरुकी भक्तिसे ब्रह्मलोकको पाता है ॥ २३३ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥

जिसने इन तीनोंका आदर किया उसने सब धर्मोंका आदर किया, और जिसने इनका अनादर किया उसके सब काम निष्फल हुए ॥ २३४ ॥

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ २३५ ॥

जबतक ये तीनों जियें तबतक दूसरा धर्म न करै, उन्हींकी प्रीति और हित चाहता हुआ नित्य उनकीही सेवा करै ॥ २३५ ॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

उनके कहेसे जो जो परलोकके लिये, मन, वाणी और कर्मसे करै वह उन्हींके अर्थ अर्पण कर दे ॥ २३६ ॥

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥

इन तीनोंकी सेवासे पुरुषका सब कर्म सफल होता है, यही साक्षात् परम धर्म है, इसके अतिरिक्त उपधर्म कहा गया है ॥ २३७ ॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥
विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥ २३९ ॥

श्रद्धापूर्वक नीचसेभी अच्छी विद्याको, चाण्डालसेभी परम धर्मको, और नीच कुलसेभी स्त्रीरत्नको ग्रहण करै ॥ २३८ ॥ विषसेभी अमृतको, बालकसेसी सुन्दर वचनको, वैरीसेभी सुन्दर आचरणको, और अशुद्ध जगहसेभी सुवर्णको ले लेना चाहिये ॥ २३९ ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ २४० ॥

स्त्रियोंको और रत्न, विद्या, धर्म, पवित्रता, सुन्दर वचन और अनेक प्रकारकी कारीगरी इनको सबसे ले लेना चाहिये ॥ २४० ॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥

आपत्कालमें क्षत्री आदिसेभी पढ़ना कहा है, परंतु उस गुरुका अनुगमन और सेवा जबतक पढ़ता रहै तबतक ही करै ॥ २४१ ॥

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥
यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥

उत्तम गतिको चाहते हुए शिष्यको चाहिये कि जो ब्राह्मण न हो और जो अंगसहित वेद न जानता हो उसकेपास ब्रह्मचर्यके लिये न बसै ॥ २४२ ॥ जो ब्रह्मचारी गुरुके कुलमें अपने जीवनतक वास करना चाहै तो शरीरके अंततक सावधानीसे गुरुकी सेवा करै ॥ २४३ ॥

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ २४४ ॥

जो ब्रह्मचारी शरीरकी समाप्तितक गुरुकी सेवा करता है वह ब्रह्मके शाश्वत स्थान अर्थात् स्वर्गको शीघ्र जाता है ॥ २४४ ॥

न पूर्वं गुरवे किंचिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥

धर्मका ज्ञाता शिष्य पहिले गुरुको कुछ दक्षिणा न दे, परंतु जब गुरुकी आज्ञानुसार व्रत समाप्त करके स्नान करै तो गुरुके लिये यथाशक्ति भेट लावै ॥ २४५ ॥

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥ २४६ ॥

भूमि, सुवर्ण, गौ, घोड़ा, छत्री, जूता, आसन, अन्न, शाक और कपड़े ये गुरुके लिये प्रीतिसे लावै ॥ २४६ ॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥

आचार्यके मरनेपर गुणवान् गुरुपुत्रमें, गुरुपत्नीमें अथवा गुरुके सपिंड लोगोंमें गुरुके समान वर्ताव करै ॥ २४७ ॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् ।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥

इनके विद्यमान नहीं होनेपर आचार्यकी अग्निके पासही स्नान, आसन, विहार और अग्निकी सेवा करता हुआ अपनी देहको साधै ॥ २४८ ॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

जो ब्राह्मण अखंडित होकर इस प्रकार ब्रह्मचर्यको करता है वह उत्तम स्थानको जाता है और इस संसारमें फिर नहीं आता ॥ २४९ ॥ इति

पं. रामेश्वरभट्टकृत सरलाटीकासहित मनुस्मृतिका द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥ शुभम् ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥

ब्रह्मचारीको गुरुके पास तीनों वेदोंका व्रत अर्थात् उनका पढ़ना, ३६ वर्षतक वा १८ वर्षतक वा ९ वर्षतक वा ब्रह्मचर्यके अंततकही करना चाहिये ॥१॥

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥

जिसका ब्रह्मचर्य खंडित नहीं हुआ हो ऐसा ब्रह्मचारी तीनों वेदोंको वा

दो वेदोंको, वा एक वेदको क्रमसे पढ़कर गृहस्थाश्रममें वास करै, अर्थात् अपना विवाह करै ॥ २ ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥
गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥
असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥

अपने धर्म करनेसे प्रसिद्ध, पितासे (वा पिताके अभावमें गुरुसे) वेद पढ़े हुए, माला धारण किये और उत्तम आसन वा पलंगपर बैठे हुए ब्रह्मचारीका पूजन (आचार्य) पहिले गो दुग्ध आदिके मधुपर्कसे करै ॥ ३ ॥ जब द्विज विधिपूर्वक (व्रत) स्नान और समावर्तन कर चुके तब गुरुकी आज्ञासे अपने वर्णकी अच्छे लक्षणवाली कन्यासे विवाह करै ॥ ४ ॥ जो माताकी सपिंडा (अर्थात् माताकी सातवीं पीढ़ीमें) नहो और जो पिताके गोत्र (और सपिंड) की न हो ऐसी स्त्री द्विजातियोंको (अग्न्याधानादि) स्त्रीकर्म और मैथुनमें श्रेष्ठ होती है ॥ ५ ॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसंवन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

जो गौ, वकरी, भेड़, धन और अन्नसे (भलेंही) बढ़े हुए और बड़े हों परन्तु इन (आगे कहे हुए) दश कुलोंको स्त्री संवन्धमें त्यागदे अर्थात् इनमें विवाह न करै ॥ ६ ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ ७ ॥

जो (जातिकर्मआदि) क्रियारहित हो, जिसमें पुत्र उत्पन्न न होता हो, जिसमें वेदका पठन पाठन न हो, जिस कुलके मनुष्योंके शरीरपर रोम हों, जिसमें ववासीर, क्षयी, मंदाग्नि, मिरगी, श्वेतदाग और कुष्ठ रोग हों (ये १० कुल हैं जिनमें विवाहका निषेध है–आगे कन्याका निषेध करते हैं) ॥ ७ ॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ ८ ॥

पीले केश तथा अधिक अंगवाली, रोगयुक्त, जिसके देहपर रोम न हों वा अधिक रोम हों, बहुत बकवादिन और पीले नेत्रवाली ऐसी कन्यासे विवाह न करै ॥ ८ ॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥

---

१ त्यागनेका कारण यह है कि इन वंशोंकी लड़कियोंसे मूर्ख और रोगी संतान होगी ॥

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥ १० ॥

नक्षत्र, वृक्ष, नदी, म्लेच्छ, पर्वत, पक्षी, सर्प और दासीपर जिसका नाम हो और जिसका भयंकर नाम हो ऐसी कन्याके साथ विवाह न करै ॥ ९ ॥ जो अंगहीन न हो, जिसका सुन्दर सीधा नाम हो, जिसकी हंस और हाथीके समान चाल हो, और जिसके रोम, केश और दांत छोटे हों ऐसी कोमल अंगवाली कन्याके साथ विवाह करै ॥ १० ॥

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥

जिस (कन्या) का भाई न हो उसे पुत्रिकाकी[1] शंकासे, और जिसके पिताका निश्चय न हो उसे अधर्मकी शंकासे उसके साथ बुद्धिमानको विवाह नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥ १२ ॥

द्विजातिको, पहिले विवाहमें अपने वर्णकी ही स्त्री उत्तम होती है, परन्तु कामसे प्रवृत्त हुए द्विजातियोंको क्रमसे ये (आगे कहीं गई) स्त्रियां श्रेष्ठ हैं ॥१२॥

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्चस्वा चाग्रजन्मनः ॥ १३ ॥

शूद्रकी स्त्री एक शूद्राही हो, वैश्यकी वैश्या और शूद्रा हों, क्षत्रीकी शूद्रा, वैश्या और क्षत्रिया हों, और ब्राह्मणकी ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या तथा शूद्रा कही गई हैं ॥ १३ ॥

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥ १४ ॥
हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससंतानानि शूद्रताम् ॥ १५ ॥

आपत्तिमेंभी ब्राह्मण और क्षत्रीको शूद्रा स्त्री किसीभी पुराणमें नहीं कही है ॥ १४ ॥ जो द्विजाति (ब्रा० क्ष० वै०) मोहसे, हीन जातिकी स्त्रीके साथ विवाह करे तो संतान सहित अपने कुलोंको शीघ्रही शूद्रताको पहुंचाता है १५

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥

शूद्राको व्याहनेवाला पतित[2] होता है यह अत्रि ऋषि और गौतमका मत (ब्राह्मणके लिये) है। और शूद्रामें पुत्रकी उत्पत्तिसे पतित होता है यह

---

१ पुत्रिका उसे कहते हैं जिसका पिता कहे कि इसका ज्येष्ठ पुत्र मुझे पिंड दान देगा। २ मेधातिथि और गोविन्दराजके मतसे तो शूद्राके साथ विवाह करनेवाला पतित होताही है।

शौनक ऋषिका मत (क्षत्रीके लिये) है। और पौत्रसे पतित होता है यह भृगुजीका मत (वैश्यकेलिये) है ॥ १६ ॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ १७ ॥

ब्राह्मण शूद्राको पलंगपर बैठानेसे अधोगतिको प्राप्त होता है, और उसमें पुत्र उत्पन्न करके ब्राह्मणतासेही नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ।
नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥ १८ ॥

जिसके यहां देव, पितृ और अतिथिके कर्म शूद्राकी प्रधानतासे होते हैं उसके हव्यकव्यको देव पितर नहीं खाते हैं और वह स्वर्गको नहीं जाता ॥१८॥

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च ।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १९ ॥

शूद्राके होठोंका रस पीनेवाला, जिसके मुखपर शूद्राका स्वास लगा हो या जो शूद्रामें स्वयं उत्पन्न हुआहो ऐसे पुरुषका निस्तारा नहीं कहा गया है ॥ १९ ॥

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥

इस लोकमें और मरकर चारोंही वर्णोंके बुराई भलाई करनेवाले स्त्रियोंके आठ प्रकारके विवाह हैं उन्हें संक्षेपसे (कहताहूं) सुनो ॥ २० ॥

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, इनमें आठवां वहुत बुरा है ॥ २१ ॥

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।
तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥ २२ ॥

जिस वर्णका जो (विवाह) धर्म है, जिसके विवाहके जो गुण और दोष हैं और संतानकी उत्पत्तिमें जो गुण और दोष हैं ये सब तुमसे कहूंगा ॥ २२ ॥

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानराक्षसान् ॥ २३ ॥

ब्राह्मणको क्रमसे कहे हुए छः, क्षत्रीको पिछले चार, वैश्य और शूद्रकोभी वेही धर्मके चार विवाह जानना, राक्षस विवाह नहीं (कहा) है ॥ २३ ॥

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥

विद्वानोंने ब्राह्मणको पिछले चार अच्छे, क्षत्रीको एक राक्षस अच्छा और वैश्य, शूद्रोंको एक आसुर अच्छा कहा है ॥ २४ ॥

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ॥ २५॥

पिछले पांच विवाहोंमेंसे तीन अर्थात् प्राजापत्य, गान्धर्व और राक्षस ये धर्मसे हैं। और दो अर्थात् आसुर और पैशाच यहां अधर्मसे कहे गये हैं इसलिये पैशाच और आसुर विवाह कभी नहीं करने चाहियें ॥ २५ ॥

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ २६ ॥

गान्धर्व और राक्षस जो पहिले कहे हुए दो विवाह हैं वे दोनों अलग २ वा मिलेहुए क्षत्रीको धर्मसे कहे गये हैं ॥ २६ ॥

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ २७ ॥
यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८॥

पढ़े लिखे शीलवान् वरको आप बुलाकर और (कन्यावरको) वस्त्र अलंकार पहिराकर और पूजन करके जो कन्याका दान है वह ब्राह्म धर्म कहागया है ॥ २७ ॥ प्रारंभ किये हुए यज्ञमें अच्छे प्रकारसे कर्म करनेवाले ऋत्विजको वस्त्र और आभूषणसे सजाकर जो कन्यादान दिया जाता है वह दैव धर्म कहा गया है ॥ २८ ॥

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥

वरसे एक गाय बैलका जोड़ा वा दो गौके जोड़े धर्मसे लेकर विधिपूर्वक कन्यादान करना आर्ष धर्म कहा जाता है ॥ २९ ॥

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥

तुम दोनों मिलकर धर्म करो ऐसी वाणी कहकर और पूजन करके जो कन्यादान होता है वह प्राजापत्य विधि कही गई है ॥ ३० ॥

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

जातिके लोगोंको और कन्याको शक्तिके अनुसार धनदेकर अपनी इच्छाके अनुसार जो कन्यादान लेना है वह आसुर धर्म कहा गया है ॥ ३१ ॥

इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥ ३२ ॥

कन्या और वरकी इच्छासे मैथुन और कामके लिये जो आपसका संयोग होता है उसे गांधर्व विवाह जानना चाहिये ॥ ३२ ॥

हत्वा छित्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३॥

घरवालोंको मारकर (उनके अंगोंको) छेदकर और (घर कोट आदि) तोड़ फोड़कर पुकारती हुई कन्याका घरसे हठपूर्वक हरलाना राक्षसी रीति कही जाती है ॥ ३३ ॥

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥

जहां सोती हुई, (मदिरासे) मतवाली अथवा असावधान कन्याके साथ एकान्तमें संग किया जाता है वह विवाहोंमें पापी नीच आठवां पैशाची विवाह है ॥ ३४ ॥

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणोंको जलमात्रसे और अन्यवर्णोंको आपसकी इच्छासे कन्यादान श्रेष्ठ कहा है ॥ ३५ ॥

यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः।
सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतो मम ॥ ३६ ॥

हे ब्राह्मणो ! इन विवाहोंमेंसे जिस विवाहका जो गुंण मनुजीने कहा है उस सबको मुझसे सुनो, मैं संपूर्ण कहता हूं ॥ ३६ ॥

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम्।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितॄन् ॥ ३७ ॥

ब्राह्म विवाहसे व्याही हुई कन्याका पुत्र (पुण्यात्मा) होनेसे दश आगेके (पिताआदिको) और दश पिछले (पुत्रआदिको) और इक्कीसवें अपनेको पापसे छुड़ाता है ॥ ३७ ॥

दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान्।
आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्षट्षट् कायोढजः सुतः ॥ ३८ ॥

दैव विवाहवाली स्त्रीसे उत्पन्न हुआ पुत्र पिछले और अगले सात २ को, और आर्ष विवाहवाली स्त्रीसे उत्पन्न हुआ पुत्र तीन २ को, और प्राजापत्य विवाहसे उत्पन्न हुआ पुत्र ६।६ को पापसे छुडाता है ॥ ३८ ॥

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ ३९ ॥

ब्राह्म आदि चारोंही विवाहोंमें क्रमसे सज्जनोंके प्यारे, शास्त्रके पढ़नेवाले और तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ ४० ॥

---

१ यद्यपि विवाहोंका गुणदोष पहिले भी कह आये हैं परंतु बहुतसी विशेष बातें जतानेके लिये फिर कहते हैं।

वे स्वरूपवान्, सत्वगुणसे युक्त, धनवान्, यशस्वी, पूर्ण भोग भोगनेवाले और धर्मात्मा होकर १०० वर्षतक जीते हैं ॥ ४० ॥

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥

अन्य शेष (आसुर आदि) नीच विवाहोंमें घातक, झूठे और ब्रह्मधर्मसे वैर करनेवाले पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ ४१ ॥

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

स्त्रियोंके निन्दारहित विवाहोंसे उत्तम संतान और निन्दित स्त्रियोंके विवाहोंसे नीच संतान होती है इसलिये निन्दित विवाहोंको त्याग दे ॥ ४२ ॥

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥ ४३ ॥

जातिकी स्त्रियोंसे हाथपकड़कर विवाह करनेको पाणिग्रहण संस्कार कहा हैं, और अन्य जातिके विवाह कर्ममें (आगेकी) यही रीति जाननी चाहिये ॥ ४३ ॥

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया ।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥

अपनेसे ऊंची जाति (ब्राह्मण) के साथ विवाहकरनेमें क्षत्रिया शरको, वैश्यकी कन्या (ब्राह्मण, क्षत्रीके साथ विवाहमें) प्रतोद (बैल हांकनेकी चाबुक आदि) को ग्रहण करे और शूद्रकी कन्या (तीनों जातियोंके साथ विवाहमें) वस्त्रकी दशा ग्रहण करे ॥ ४४ ॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥

अपनी स्त्रीमें अनुरक्त मनुष्यको चाहिये कि ऋतुकालमें अवश्य उसके साथ गमन करे और उसीके पास रतिकी इच्छासे पर्वदिन छोड़कर जाय ॥ ४५ ॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्भिर्गर्हितैः ॥ ४६ ॥

सज्जनोंसे निन्दित रुधिर दीखनेके चार दिनों समेत स्त्रियोंके सोलह रात्रि दिन स्वाभाविक ऋतुकाल कहा है ॥ ४६ ॥

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ४७ ॥

उनमें आदिकी चार और ग्यारहवीं तथा तेरहवीं रात्रियां निन्दित हैं और शेष १० रात्रियां अच्छी हैं ॥ ४७ ॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥

युग्म (छठी आठवीं आदि) रात्रियोंमें संगम करनेसे पुत्र होते हैं और अयुग्म (पाचवीं सातवीं आदि) रात्रियोंमें संगम करनेसे कन्याएं उत्पन्न होती हैं. इसलिये पुत्र चाहनेवालेको ऋतुके समय स्त्रीकेपास युग्म रात्रियोंमें जाना चाहिये ॥ ४८ ॥

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४९ ॥

पुरुषका वीर्य अधिक हो तो पुरुष होता है, स्त्रीका वीर्य अधिक हो तो स्त्री होती है, समान वीर्य होनेसे नपुंसक होता है अथवा लड़का लड़की जुड़े होते हैं, क्षीण तथा थोड़ा वीर्य हो तो विपरीत होता है अर्थात् गर्भही नहीं रहता ॥ ४९ ॥

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्रतत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥

जो मनुष्य निन्दित छः और अन्य (विषम) आठ रात्रियोंमें स्त्रीसंसर्गको त्यागता है वह चाहै जिस आश्रममें वास करै ब्रह्मचारी होता है ॥ ५० ॥

न कन्यायाः पिता विद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णंश्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥ ५१ ॥

बुद्धिमान् पिताको चाहिये कि कन्याका थोड़ासा भी शुल्क (मोल) न ले, लोभसे शुल्क लेनेवाला मनुष्य संतान बेचनेवाला होता है ॥ ५१ ॥

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।
नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥ ५२ ॥

जो भाई बन्धु अज्ञानसे स्त्रीधनको वा स्त्रियोंकी सवारीको वा वस्त्रको लेकर जीते हैं वे पापी बुरीगति पाते हैं ॥ ५२ ॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३ ॥

कितनेही ऋषियोंने आर्ष विवाहमें गौका जोड़ा अर्थात् एक गाय एक बैल कन्याके पलटेमें लेना कहा है सो झूठ ही है क्योंकि इसप्रकार थोड़ा या बहुत लेना निश्चय करके बेचनाही कहा है ॥ ५३ ॥

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ ५४ ॥

जातिवाले जिन कन्याओंपर शुल्क नहीं लेते वह बेचना नहीं है वह (न लेना) तो कन्याओंका पूजन और हिंसारहित कर्म है, अर्थात् दयाका काम है॥५४॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥

अधिक कल्याण चाहैं तो पिता, भाई, पति तथा देवर इनको चाहिये कि वे स्त्रियोंका आदर करैं और उनको आभूषण पहिरावें ॥ ५५ ॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥

जहां स्त्रियोंका आदर किया जाता है वहां देवता रमण करते हैं, और जहां इनका अनादर होता है वहां सब काम निष्फल होते हैं ॥ ५६ ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥

जिस कुलमें जामि (स्त्री, पुत्रवधू) स्त्रियां शोक करती हैं वह कुल शीघ्रही नष्ट होजाता है, और जहां यह शोक नहीं करतीं वह कुल निश्चय करके बढ़ता है ॥ ५७ ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥

जिन स्त्रियोंका आदर नहीं होता है वे जिन कुलोंको शाप देती हैं वे मारणसे मारेजानेके समान चारों ओरसे नष्ट होजाते हैं ॥ ५८ ॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥

इसलिये संपत्ति चाहनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि आदरके अवसरोंपर और उत्सवोंमें वस्त्राभूषण और भोजनोंसे सदा स्त्रियोंका आदर करें ॥ ५९ ॥

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥

जिस कुलमें स्त्रीसे पति प्रसन्न रहता है और उसी प्रकार पतिसे स्त्री प्रसन्न रहती है वहां निश्चय करके अचल कल्याण होता है ॥ ६० ॥

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥

स्त्री (वस्त्राभूषणोंसे) शृंगार विनाकिये पुरुषको प्रसन्न नहीं करसकती और पुरुषके प्रसन्न न करनेसे (अच्छी) संतान नहीं होती है ॥ ६१ ॥

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥
कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ६३ ॥
शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ।
गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥

स्त्रीके शृंगार करनेसे सब कुल सुन्दर लगता है और उसके शृंगार न करनेसे सब फीका लगता है ॥ ६२ ॥ निन्दित (आसुर आदि) विवाहोंसे, (जातिकर्म आदि) क्रियाओंके लोप होनेसे, वेदके न पढ़नेसे और ब्राह्मणके अपमानसे अच्छे कुल भी नीच होजाते हैं ॥ ६३ ॥ शिल्प अर्थात् वस्त्रके

बुनने आदि कर्मसे (धनके लैन दैनके) व्यापारसे, केवल शूद्रा स्त्रीकी संतानोंसे, गौ, घोड़े, सवारीके मोल लेने देनेसे, खेतीसे और राजाकी सेवासे अच्छे कुलभी नीच होजाते है ॥ ६४ ॥

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् ।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥ ६५ ॥

जिन (व्रात्य आदिलोगों) को यज्ञ करानेका अधिकार वा योग्यता नहीं है उनके द्वारा यज्ञ करानेसे, कर्मोंकी नास्तिकतासे, और वेदमंत्रसे रहित होनेसे कुल शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ ६६ ॥

जिनके पास थोड़ा धन है ऐसे कुल भी वेदाध्ययनसे बड़े और उत्तम कुलोंकी गिनतीमें होजाते हैं और बड़े यशको पाते हैं ॥ ६६ ॥

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥

गृहस्थीको चाहिये कि गृहस्थका कर्म, पंच यज्ञविधान, नित्यका भोजन और पाक इनको विवाहकी अग्निमें विधिपूर्वक करै ॥ ६७ ॥

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ६८ ॥

गृहस्थीके यहां चूल्हा, चक्की, बुहारी, ओखली और जलका घड़ा ये पांच हिंसाके स्थान हैं, इनको काममें लानेवाला गृहस्थी पापसे बंधता है ॥ ६८ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥

उन सबोंके निस्तारके लिये बड़े २ ऋषियोंने गृहस्थियोंके लिये नित्यके पांच यज्ञ क्रमसे वनाये हैं ॥ ६९ ॥

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥

पढ़ना पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है, (अन्न वा जलसे) तर्पण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, वलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथिपूजन मनुष्ययज्ञ है ॥ ७० ॥

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥

जो द्विज इन पंच महायज्ञोंको शक्तिके अनुसार नहीं त्यागता है वह घरमें रहता हुआ भी नित्यकी हत्याके दोषोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ७१ ॥

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ७२ ॥

जो देवता, अतिथि, सेवक, पितर और आत्मा इन पांचोंको अन्न नहीं

देता है वह स्वास लेता हुआ भी नहीं जीता है अर्थात् वह मरेके समान है ॥ ७२ ॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च ।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥

अहुतं, हुतं, प्रहुतं, ब्राह्महुतं और प्राशितं यह पांच यज्ञ कहते हैं ॥ ७३ ॥

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः ।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥

जप अहुतयज्ञ है, हवन हुतयज्ञ है, प्रहुत भूतयज्ञ है, श्रेष्ठ ब्राह्मणोंमेंसे श्रेष्ठका पूजन ब्राह्म्ययज्ञ है और पितरोंका तर्पण प्राशितयज्ञ है ॥ ७४ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि ।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम् ॥ ७५ ॥

इसलिये इस जगतमें द्विजको चाहिये कि वेदपाठमें और देवकर्ममें नित्य लगा रहे क्योंकि देवकर्ममें लगा हुआ मनुष्य इस चराचरको पालता है ॥७५॥

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥

अग्निमें अच्छे प्रकारसे दी हुई आहुति सूर्यको जाती है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे प्रजा उत्पन्न होती है ॥ ७६ ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥

जैसे सब प्राणी वायुका सहारा लेकर जीते हैं वैसेही सब आश्रम गृहस्थाश्रमके आश्रयसे निर्वाह करते हैं ॥ ७७ ॥

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥

तीनोंही आश्रमी अर्थात् ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये गृहस्थोंके द्वारा नित्य विद्या और अन्न आदिसे प्रतिपालित होते हैं इसलिये गृहस्थाश्रमही सबसे बड़ा आश्रम है ॥ ७८ ॥

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ७९ ॥

जो (मरनेपर) अविनाशी स्वर्गकी और जगतमें जीतेजी सुख भोगनेकी इच्छा करें उनको नित्य यत्नपूर्वक गृहस्थाश्रम पालन करना चाहिये । उस आश्रमको दुर्बल इन्द्रियोंवाले धारण नहीं कर सक्ते ॥ ७९ ॥

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥ ८० ॥

ऋषि, पितर, देवता, भूत और अतिथि ये कुटुम्बियोंसेही आशा करते हैं इसलिये बुद्धिवान् गृहस्थीको यह करना चाहिये ॥ ८० ॥

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि ।
पितॄन्श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥

वेदपाठसे ऋषियोंको, होमसे देवताओंको, श्राद्धसे पितरोंको, अन्नसे मनुष्योंको और बलिकर्मसे भूतोंको विधिपूर्वक पूजना चाहिये ॥ ८१ ॥

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥

गृहस्थीको चाहिये कि अन्न आदिसे वा जलसे वा दूध मूल और फलोंसे पितरोंके अर्थ प्रीतिपूर्वक नित्य श्राद्ध करै ॥ ८२ ॥

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके ।
न चैवात्राशयेत्कंचिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥ ८३ ॥

पंचयज्ञमें पितरोंके निमित्त एकही ब्राह्मणको जिमावे; इसमें वैश्वदेवके निमित्त किसी ब्राह्मणकोभी न जिमावै ॥ ८३ ॥

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि घरकी अग्निमें बनाये हुए वैश्वदेवके अन्नका हवन आगे कहे देवताओंके लिये नित्य विधिपूर्वक करै ॥ ८४ ॥

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥

पहिले अग्निके अर्थ, फिर सोमके अर्थ, फिर उन दोनोंके लिये, फिर विश्वेदेवाओंके लिये और फिर धन्वन्तरिके लिये हवन करै ॥ ८५ ॥

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।
सहद्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ ८६ ॥

कुहू अनुमति, प्रजापति, द्यावापृथिवी और स्विष्टकृत् इनके अर्थ स्वाहा शब्द जोड़कर हवन करै ॥ ८६ ॥

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥ ८७ ॥

इस प्रकार अच्छीतरह हवन करके अनुचरोंसहित इन्द्र, यम, वरुण और चन्द्रमाके निमित्त सब दिशाओंमें परिक्रमा देकर बलि देना चाहिये ॥ ८७ ॥

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि ।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥

मरुतको द्वारदेशमें, जलको जलोंमें, वनस्पतिको मुसल और उलूखल में बलि देना चाहिये ॥ ८८ ॥

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः ।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ८९ ॥

"श्रियैनमः" इसमंत्रसे वास्तु पुरुषके शिरपर "भद्रकाल्यै नमः" इससे

पैरोंकी तरफ और "ब्रह्मणे नमः" तथा "वास्तोष्पतये नमः" इन दोनोंसे वास्तु के बीचमें बलि देना चाहिये ॥ ८९ ॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत् ।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च ॥ ९० ॥

और विश्वेदेवाओंको तथा दिवाचर और रात्रिंचर भूतोंको आकाशमें बलि देना चाहिये ॥ ९० ॥

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये ।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥

"सर्वात्मभूतये नमः" इस मंत्रसे वास्तुपीठकी ओर बलि दे, फिर दक्षिण दिशामें स्वधा कहकर (पितृभ्यो नमः इस मंत्रसे) सब बचाखुचा बलि पितरोंको दे ॥ (यह बलि अपसव्य होकर करना चाहिये) ॥ ९१ ॥

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ ९२ ॥

फिर (अन्य सब अन्नको निकालकर) कुत्तोंको, पतितोंको, चांडालोंको, पाप रोगियोंको, कौओंको और छोटे २ कीड़ोंको धीरे २ (अर्थात् पत्तोंपर धरकर जिसमें धूल न मिलने पावे) पृथ्वीपर बलि दे ॥ ९२ ॥

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिपथर्जुना ॥ ९३ ॥

जो ब्राह्मण इसप्रकार नित्य सब प्राणियोंको पूजता है वह सीधे और तेजमय मार्गके द्वारा स्वर्गको जाता है ॥ ९३ ॥

कृत्वैतद्बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥ ९४ ॥

इसप्रकार यह बलिकर्म करके पहिले अतिथिको भोजन करावे और फिर विधिपूर्वक ब्रह्मचारी और भिखारीको भिक्षा दे ॥ ९४ ॥

यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद्गुरोः ।
तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्वा द्विजो गृही ॥ ९५ ॥

ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारीको वा गुरुको विधिपूर्वक गौदान देकर जिस पुण्यके फलको पाता है वही पुण्यका फल गृहस्थी भिक्षा देकर पाता है ॥ ९५ ॥

भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ।
वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ९६ ॥

भिक्षा हो वा जलका भरापात्र हो विधिसे अर्थात् स्वस्ति कहवाकर, वेदके यथार्थ अर्थके ज्ञाता ब्राह्मणको सत्कारपूर्वक दान करै ॥ ९६ ॥

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ।
भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः ॥ ९७ ॥

जो अज्ञानी मनुष्य दातारूपसे मूर्ख ब्राह्मणोंमें हव्य कव्यको अज्ञानतासे देते हैं तो वे हव्य[1] कव्य नाश हो जाते हैं, अर्थात् वे देव पितरोंको नहीं लगते ॥ ९७ ॥

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु।
निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥ ९८ ॥

विद्याशील और तपस्वी ब्राह्मणोंके मुखरूपी अग्निमें होमा गया पदार्थ कठिन व्याधि और भारी पापसे तारता है ॥ ९८ ॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥

अपने आप आये हुए अतिथिको आसन, जल और शक्तिके अनुसार अन्न-ये सत्कार करके विधिपूर्वक अर्थात् स्वस्ति कहा कर दे ॥ ९९ ॥

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥ १०० ॥

चाहे शिल[2] जीवी हो चाहे पंचाग्निमें हवन करता हो उसके यहां आया हुआ अपूजित ब्राह्मण सत्कारित न होनेसे उसके पुण्यको हरकर चल देता है ॥१००॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥

आसन, बैठनेकी जगह, जल, और चौथी मीठी वाणी इनकी सज्जनोंके घरमें कभी कमी नहीं होती ॥ १०१ ॥

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥
नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा।
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥ १०३ ॥

जो ब्राह्मण एक रात्रि पराये घरमें रहै उसे अतिथि कहते हैं क्योंकि वह नित्य नहीं ठहरता है और इसी लिये वह अतिथि कहाता है ॥ १०२ ॥ जिस घरमें स्त्री वा अग्नि हो वहां रहता हो, एक ग्रामका निवासी हो, दुःसंग करनेवाला हो तो ऐसेको अतिथि नहीं जानना चाहिये ॥ १०३ ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥

जो अज्ञानी गृहस्थी पराये अन्नको (खानेके लालचसे कहीं जाकर) खाते हैं वे मरकर अन्न आदि देनेवालोंके पशु होते हैं ॥ १०४ ॥

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत् ॥ १०५ ॥

---

१ हव्य उसे कहते है जो देवताओंके लिये दिया जाय, और कव्य जो पितृओंके अर्थ दिया जाय.

२ कटे हुए खेतमें बचे हुए अन्नको शिल कहते हैं.

गृहस्थीको चाहिये कि सायंकालको सूर्यास्तके समय आये हुए अतिथिको मनें न करै क्योंकि समय वा कुसमय आया हुवा अतिथि गृहस्थीके घरपर विना भोजनके नहीं रहना चाहिये ॥ १०५ ॥

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम् ॥ १०६ ॥

जिस पदार्थको अतिथिको भोजन न करावे उसे आपभी न खाय, (यदि अतिथि नाहीं कर दे तो भले ही खाले) क्योंकि अतिथिका पूजन, धन, यंश, आयु और स्वर्गको देनेवाला है ॥ १०६ ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥

आसन, रहनेकी जगह, पलंग, पीछे गमन, और सेवा इनको (यदि बहुत अतिथि हों तो) उत्तमोंमें उत्तम, हीनोंमें हीन और समानवालोंमें समानका आदर करै, अर्थात् जिसको जैसा योग्य देखे वैसा करै ॥ १०७ ॥

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत् ।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥ १०८ ॥

बलि वैश्वदेव हो चुकनेपर जो दूसरा अतिथि आजाय तो उसको भी शक्तिके अनुसार फिर पाक करके अन्न देना चाहिये–बलि न करै ॥ १०८ ॥

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ १०९ ॥

ब्राह्मण, भोजनके लिये अपने कुल और गोत्रको न जतलावे, क्योंकि भोजनके लिये कुल और गोत्रको जतलानेवाले ब्राह्मणको पण्डित जन उगली हुई वस्तुका खानेवाला कहते हैं ॥ १०९ ॥

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते ।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ११० ॥

ब्राह्मणके घर क्षत्री, वैश्य, शूद्र, मित्र, जातिवाले और गुरु अतिथि नहीं होते (अतिथि अपनेसे ऊंची या समान जातिका होना चाहिये)॥११०॥

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत् ।
भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

जो क्षत्री अतिथिधर्मसे आवे तो न्योंते हुए ब्राह्मणोंको भोजन करानेके उपरांत उसको भी इच्छापूर्वक जिमा देना चाहिये ॥ १११ ॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२ ॥

और कुटुंबमें अतिथिधर्मसे आए हुए वैश्यशूद्रोंको भी सेवकोंके साथ दया करके भोजन करा दे ॥ ११२ ॥

इतरानपि सख्यादीन् संप्रीत्या गृहमागतान् ।
सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥ ११३ ॥

और बड़े प्रेमसे घरपर भोजन समय आएहुए अन्य मित्रोंको भी स्त्रीके सहित सत्कारपूर्वक शक्तिके अनुसार भोजन खिला देना चाहिये ॥ ११३ ॥

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥ ११४ ॥
अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥ ११५ ॥
भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥

नई वहू, लड़की, रोगी और गर्भिणी स्त्री इन सबको अतिथियोंसे पहिलेही विना विचारे भोजन करादे ॥ ११४ ॥ जो मूर्ख इनको विनादिये भोजन करलेता है वह मरनेपर कुत्ते और गीधोंसे अपने भक्षणको नहीं जानता अर्थात् उसके शरीरको कुत्ते और गीध खाते हैं ॥११५॥ जब ब्राह्मण और अपने सेवक भोजन करचुकें उसके पीछे बचे खुचे अन्नको स्त्री पुरुष भोजन करें ॥ ११६ ॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥

गृहस्थको चाहिये कि देवता, ऋषि, मनुष्य और पितृ तथा घरके देवता इनका पूजन करके पीछे बचे हुए अन्नका आप भोजन करै ॥ ११७ ॥

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥

जो मनुष्य अपनेही लिये भोजन पकाता है वह केवल पापको खाता है, क्योंकि यज्ञका शेष भोजनही सज्जनोंका अन्न कहा गया है ॥ ११८ ॥

राजर्त्विक्स्नातकगुरून्प्रियश्वशुरमातुलान् ।
अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात्पुनः ॥ ११९ ॥

राजा, ऋत्विक्, स्नातक, गुरु, प्रिय (जामाता), श्वशुर और मामा इनका वर्षवें दिन मधुपर्कसे पूजन करना चाहिये ॥ ११९ ॥

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ।
मधुपर्केण संपूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥ १२० ॥
सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायंप्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

राजा तथा वेदपाठी यज्ञ कर्ममें आवें तो ये मधुपर्कसे पूजने योग्य हैं परंतु यज्ञके अभावमें पूजै यही रीति है ॥ १२० ॥ स्त्री संध्याको बनाए अन्नमेंसे विनाही मंत्रपढ़े बलि दे दे, क्योंकि यह वैश्वदेव नाम कर्म सायंकाल और प्रातःकाल करना कहा गया है ॥ १२१ ॥

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान्।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम्॥ १२२॥
पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः।
तच्चामिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः॥ १२३॥

अग्निहोत्री ब्राह्मणको चाहिये कि पितृयज्ञको करके महीने २ अमावास्याके दिन "पिण्डान्वाहार्यक" श्राद्ध करै॥ १२२॥ पण्डित लोग पितृयोंके मासिक श्राद्धको अन्वाहार्य कहते हैं वह यत्नपूर्वक सबसे श्रेष्ठ मांससे करना चाहिये॥ १२३॥

तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः।
यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ १२४॥

उसमें जो उत्तम ब्राह्मण जिमाने योग्य हैं और जो वर्जने योग्य हैं और जिन अन्नोंसे जिमाने चाहियें तथा गिनतीमें जितने जिमाने चाहियें उन्हें मैं पूर्ण रीतिसे कहूंगा॥ १२४॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे॥ १२५॥

सामर्थ्यवान् भी देवकार्यमें दो, पितृकार्यमें तीन वा दोनोंकार्योंमें एक एकको जिमावै और विस्तारमें न लगे अर्थात् अधिक ब्राह्मण जिमानेका उद्योग न करै॥ १२५॥

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसंपदः।
पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्॥ १२६॥

सत्कार, देश, काल, पवित्रता और सुपात्र ब्राह्मणोंका मिलना इन पाचों बातोंको (ब्राह्मणोंका) विस्तार नाश कर देता है इसलिये अधिक ब्राह्मण जिमानेकी चेष्टा न करै॥ १२६॥

प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये।
तस्मिन्युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी॥ १२७॥

अमावास्याके दिन पितरोंके निमित्त किये गए श्राद्धको प्रेतकृत्या कहते हैं और उसमें लगे हुएको लौकिक प्रेतकृत्या नित्य प्राप्त होती है अर्थात् प्रेतकृत्या कर्ताको पुत्रपौत्र धनधान्यादि रूपसे प्राप्त होती है॥ १२७॥

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम्॥ १२८॥

दाता लोगोंको चाहिये कि वेदपाठी और पूजने योग्य ब्राह्मणकोही हव्यकव्य दें क्योंकि उसको देनेसे बड़ा फल होता है॥ १२८॥

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान्बहूनपि॥ १२९॥

जो देवता और पितर कर्ममें एक २ भी ब्राह्मणको जिमाता है वह बहुतसे

फलको पाता है और वेदहीन बहुतसोंको जिमानेसेमी कुछ फल नहीं होता ॥ १२९ ॥

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्।
तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥

संपूर्ण वेद पढ़े ब्राह्मणकी दूरसेही परीक्षा करै, क्योंकि वह उन हव्य-कव्योंके देनेमें तीर्थरूप अतिथि कहा गया है ॥ १३० ॥

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते।
एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥

जहां वेदके न जाननेवाले दसलाख ब्राह्मण भोजन करते हैं वहां वेद-पाठी एकही भोजनादिसे प्रसन्न होकर दश लाख (ब्राह्मणभोजन) का फल देता है ॥ १३१ ॥

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च।
न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः ॥ १३२ ॥

बड़े ज्ञानी ब्राह्मणको हव्य और कव्यको देना चाहिये क्योंकि रुधिरसे सने हुए हाथ रुधिरसेही शुद्ध नहीं होते, अर्थात् मूर्खोंके भोजनसे उत्पन्न हुए दोषोंको मूर्खोंके भोजन दूर नहीं करसक्ते; उसे तो वियावानूही दूर कर-सक्ता है ॥ १३२ ॥

यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्।
तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्ट्ययोगुडान् ॥ १३३ ॥

वेद न जाननेवाला ब्राह्मण हव्यकव्योंके जितने ग्रास खाता है श्राद्ध करनेवाला मरकर उतनेही गरम त्रिशूल, ऋष्टि (दुधारा शस्त्र) और लोह-पिंडोंको खाता है ॥ १३३ ॥

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथाऽपरे।
तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥ १३४ ॥

कितनेही ब्राह्मण ज्ञानमें सावधान, कितनेही प्राजापत्य आदि व्रतमें साव-धान, कितनेही यागादि कर्ममें सावधान और कितनेही तप और वेदपाठमें तत्पर होते हैं ॥ १३४ ॥

ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥ १३५ ॥

कव्योंको तो यत्नपूर्वक ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मणोंकोही देना चाहिये और देवताओंके लिये जो अन्न है उसे चारोंको यथायोग्य देना चाहिये ॥ १३५ ॥

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः।
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः ॥ १३६ ॥

जिसका पिता वेदपाठी न हो और पुत्र सब वेद जानता हो वा पुत्र वेदपाठी-न हो और पिता वेदमें पारंगत हो ॥ १३६ ॥

ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता ।
मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥

तो जिसका पिता वेदपाठी हो उसे इन दोनोंमें बड़ा जानना, और दूसरा अर्थात् वेद न जाननेवालेका पुत्र वेदमंत्रोंके पूजनके लिये सत्कारके योग्य है ॥ १३७ ॥

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः ।
नारिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजयेद्द्विजम् ॥ १३८ ॥

श्राद्धमें मित्रको न जिमावे, इसकी मित्रता धनसेही निवाहनी चाहिये, और जिसको जाने कि यह न वैरी है और न मित्र है उस ब्राह्मणको श्राद्धमें जिमावे ॥ १३८ ॥

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ।
तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च ॥ १३९ ॥

जिसके श्राद्ध और हवनमें मित्रके विना काम नहीं चलता उसके श्राद्ध और हवनका फल परलोकमें नहीं होता ॥ १३९ ॥

यः संगतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः ।
स स्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रो द्विजाधमः ॥ १४० ॥

जो मनुष्य अज्ञानसे श्राद्धके द्वारा अर्थात् श्राद्धमें मित्रको जिमाकर उससे मित्रता करता है तो वह श्राद्धमें जिमाकर मित्रता करनेवाला द्विजोंमें नीच स्वर्ग लोकसे गिरता है अर्थात् उसे स्वर्ग नहीं मिलता ॥ १४० ॥

संभोजनी साभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः ।
इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥ १४१ ॥

मुनियोंने वह दक्षिणा (दानकी क्रिया) और संभोजनी (ज्यौंनार) पिशाचोंके करने योग्य कही है और (मित्रताके लिये होनेके कारण) वह क्रिया एक घरमें रहनेवाली अंधी गौके समान इसी लोकमें रहती है, अर्थात् परलोकके फलको देनेवाली नहीं होती ॥ १४१ ॥

यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम् ।
तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम् ॥ १४२ ॥

जैसे बोनेवाला ऊसर भूमिमें बीज बोकर फल नहीं पाता वैसेही दाता वेदहीन ब्राह्मणको हवि देकर फल नहीं पाता ॥ १४२ ॥

दातॄन्प्रतिग्रहीतॄंश्च कुरुते फलभागिनः ।
विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च ॥ १४३ ॥

विधिपूर्वक जो दक्षिणाका दान पण्डितको दिया जाता है वह दाता और लेनेवालोंको परलोक और इस लोकमें फलका भागी करता है ॥ १४३ ॥

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम् ।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥ १४४ ॥

(जो पण्डित ब्राह्मण न मिले तो) श्राद्धमें मित्रका ही इच्छापूर्वक सत्कार

करै, परंतु विद्वान् वैरीका न करै, क्योंकि जिस हविको वैरी भोजन करता है वह परलोकमें निष्फल होता है ॥ १४४ ॥

यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् ।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥

श्राद्धमें ऐसे ब्राह्मणको यत्नपूर्वक जिमावे जो बहुतसी ऋचा जानताहो, वेदमें पारंगत हो वा वेदकी शाखाओंका ज्ञाता ऋत्विज हो, वा जिसने वेदको समाप्तितक पढ़ा हो ॥ १४५ ॥

एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः ।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥ १४६ ॥

इनमेंसे जिसके यहां कोईसा पूजित ब्राह्मण श्राद्ध वस्तुको खाता है उसके पितृयोंकी तृप्ति सात पीढ़ीतक बराबर होती है ॥ १४६ ॥

एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥

हव्य कव्यके देनेमें यह मुख्य विधान कहा गया है, और सत्पुरुषोंसे किया गया (जो आगेके श्लोकमें कहेंगे) इसे तो सदा गौण जानना चाहिये ॥१४७॥

मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥ १४८ ॥

नाना, मामा, भानजा, सुसर, गुरु, धेवता, जमाई, बन्धु और ऋत्विक् तथा यज्ञकर्ता इनको जिमावै ॥ १४८ ॥

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।
पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥

धर्मात्माको चाहिये कि देवताके कर्ममें ब्राह्मणको न परखै परंतु जब पितृ-कर्म आवे तब बड़े यत्नसे उसकी परीक्षा करै ॥ १४९ ॥

ये स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः ।
तान्हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥

मनुजीने, चौर, पातकी, नपुंसक और नास्तिकवृत्तिवाले ब्रह्माणोंको देव-पितृकर्मके अयोग्य कहा है ॥ १५० ॥

जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा ।
याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् ॥ १५१ ॥

जटावाला, मूर्ख, दुर्बल, धूर्त और जो बहुतसोंको यज्ञ करावे इनकोभी श्राद्धमें नहीं जिमावै ॥ १५१ ॥

चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा ।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥ १५२ ॥

वैद्य, पुजारी, मांसके बेचनेवाले और जो व्यापारसे जीविका करते हों ये भी हव्य कव्य दोनोंमें मनें किये गए हैं, अर्थात् इनकोभी देव पितृकार्यमें न जिमावै ॥ १५२ ॥

प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः ।
प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्धुषिस्तथा ॥ १५३ ॥

गांवका और राजाका नौकर, बुरे नाखून वा काले दांतवाला, गुरुके विरुद्ध काम और अग्निहोत्र त्यागनेवाला तथा व्याजखोरभी (श्राद्धमें वर्जित) हैं ॥ १५३ ॥

यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ।
ब्रह्मद्विट् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च ॥ १५४ ॥

क्षई रोगवाला, ग्वाला, परिवेत्ता[1], निराकृति[2], ब्राह्मणका शत्रु, परिवित्ति[3] और गणाभ्यंतर अर्थात् चन्देके धनको खानेवाला येभी (श्राद्धमें वर्जित) हैं ॥१५४॥

कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च ।
पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ १५५ ॥

नाचनेवाला, स्त्रीगमनसे भ्रष्ट ब्रह्मचर्यवाला अथवा प्रथम आश्रममें जो संन्यासी हो गया हो, शूद्राको व्याहनेवाला, धरेचेवाली स्त्रीका पुत्र, काणा और जिसके घरमें स्त्रीका जार रहता हो (येभी श्राद्धमें वर्जित हैं) ॥ १५५ ॥

भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा ।
शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥ १५६ ॥

जो तनक्खा लेकर पढ़ावे, जो मजदूरी देकर पढ़े, शूद्रका शिष्य, शूद्रका गुरु, कड़ा बोलनेवाला, कुंड[4] (असल बापके होते जो जारसे उत्पन्न हो) तथा गोलक (अर्थात् जो असल बापकी मृत्युके पीछे जारसे पैदा हो) येभी (देवकार्य और श्राद्धमें वर्जित हैं) ॥ १५६ ॥

अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा ।
ब्राह्मैर्यौनैश्च संबन्धैः संयोगं पतितैर्गतः ॥ १५७ ॥

माता पिता तथा गुरुको विना कारण त्याग करनेवाला, पठन पाठन आदिसे और विवाहादि संबन्धोंसे पतितोंका संसर्गी येभी (श्राद्धमें मने हैं)॥१५७॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥ १५८ ॥

घरमें आग लगानेवाला, विष देनेवाला, जो कुंडेके यहां भोजन करै, सोमलताको बेचनेवाला, समुद्रकी राह (किसी दूसरे द्वीपमें) जानेवाला, भाट, तेली और झूठी गवाही देनेवाला येभी (श्राद्धमें मने हैं) ॥ १५८ ॥

पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा ।
पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी ॥ १५९ ॥

पिताके संग झगड़ा करनेवाला, धूर्त, शराबी, कोढ़ी, जिसे श्राप लगा हो, जो पाखंडसे धर्म करै, जो रसोंको बेचै–येभी मने हैं ॥ १५९ ॥

---

१. ३. परिवेत्ता और परिवित्ति आगेके १७१ वें श्लोकमें देखो.
२. निराकृति, देवताओंके तिरस्कार करनेवालेको कहते है ।
४. कुंडको १७४ वें श्लोकमें देखो.

धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रेदिधिषूपतिः ।
मित्रध्रुग्द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥

धनुष बाण बनानेवाला और अग्रेदिधिषूका पति अर्थात् जो बड़ी बहनके विवाहके पहिले छोटी बहनको व्याहै, जो मित्रसे द्रोह करै, जुआरी, तथा अपने पुत्रका शिष्य ये भी वर्जित हैं ॥ १६० ॥

भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा ।
उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥ १६१ ॥

जिसे मिरगी, गंडमाला और श्वेत कुष्टका रोग हो और जो चुगलखोर, उन्मत्त, अंधा और वेदनिंदक हो येभी हव्यकव्यमें मने हैं ॥ १६१ ॥

हस्तिगोश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ।
पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥

जो हाथी, घोड़ा, ऊंट, बैल इनको सिखाता हो, जो राशिसे ग्रह बताकर जीविका करताहो, जो पक्षियोंको पाले और जो आयुधविद्याका शिक्षक हो येभी हव्यकव्यमें मने हैं ॥ १६२ ॥

स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः ।
गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥

झरनोंके रोकने और तोड़नेवाला, घर बनानेकी जीविकावाला, दूत, और वृक्षोंके (दामलेकर) लगानेवाला येभी वर्जित हैं ॥ १६३ ॥

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च ।
हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥ १६४ ॥

कुत्तोंका पालनेवाला, बाज पक्षीकी जीविका करनेवाला, कन्याके साथ भोग करनेवाला, हत्यारा, शूद्रका सेवक, बहुतसे यज्ञ अथवा विनायकशांति करानेवाला येभी हव्यकव्यमें वर्जित हैं ॥ १६४ ॥

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा ।
कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च ॥ १६५ ॥

आचाररहित, नपुंसक (धर्मकार्यमें उत्साहरहित) भिक्षुक, खेतिहार, मोटे पांवकी बीमारीवाला, और सज्जन जिसकी निन्दा करते हों येभी वर्जित हैं ॥ १६५ ॥

औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा ।
प्रेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥

भैड़े भैंसोंकी जीविका करनेवाला, विधवा स्त्रीका पति और मुर्दोंको (धन-लेकर) उठानेवाला येभी बड़े यत्नसे वर्जित हैं ॥ १६६ ॥

एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान्द्विजाधमान् ।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥

द्विजातियोंमें श्रेष्ठ मनुष्यको चाहिये कि इन बुरे आचारवाले और पंगतिमें बैठानेके अयोग्य ब्राह्मणोंको दोनों (हव्य और कव्य) में विशेष कर वर्ज दे १६७

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति।
तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते॥ १६८॥

विना लिखा पढ़ा ब्राह्मण तृणोंकी अग्निके समान है जो बुझ जाती है, इस लिये उसे हव्य कव्य नहीं देना चाहिये, क्योंकि राखमें होम नहीं होता है १६८

अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भवत्यूर्ध्वं फलोदयः।
दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ १६९॥

जो पुरुष पंक्तिहीन ब्राह्मणको देव पितृ कार्यकी हवि देता है उसे जो फलका उदय परलोकमें होता है उसे संपूर्ण कहता हूं॥ १६९॥

अव्रतैर्यद्द्विजैर्भुक्तं परिवेत्रादिभिस्तथा।
अपाङ्क्तैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते॥ १७०॥

वेदके व्रतसे रहित और परिवेत्ता आदि अन्य पंक्तिसे निकाले हुओंसे खाये गये अन्नको निश्चय करके राक्षस खाते हैं, अर्थात् श्राद्ध निष्फल होता है॥ १७०॥

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः॥ १७१॥

जो ब्राह्मण बड़े भाईके (अविवाहित) होते व्याह और अग्निहोत्र करता है वह परिवेत्ता और बड़े भाईको परिवित्ति जानना चाहिये॥ १७१॥

परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः॥ १७२॥

परिवित्ति, परिवेत्ता और जिस कन्याके संग विवाह किया जाता है वह, और कन्यादान देनेवाला, और पांचवा विवाह करानेवाला पुरोहित ये सब नरकको जाते हैं॥ १७२॥

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः॥ १७३॥

जो पुरुष धर्मसे (पुत्र उत्पन्न करनेके लिये) धरेचाकीगई मरे भाईकी स्त्रीमें कामसे मैथुन करता है (अर्थात् नियोग धर्म जो आगे कहेंगे उसके विरुद्ध करता है) उसे दिधिषूपति जानना चाहिये (यहभी श्राद्धमें मने है)॥ १७३॥

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः॥ १७४॥

पराई स्त्रीमें दो पुत्र उत्पन्न होते हैं कुंड और गोलक, पतिके जीते हुए कुंड और पतिके मरनेपर गोलक होता है॥ १७४॥

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च ।
दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥ १७५ ॥

पराई स्त्रीमें उत्पन्न हुए वे दोनों प्राणी अर्थात् कुंड और गोलक दाताओंके दिये हुए हव्यकव्योंका परलोकमें और इस लोकमें नाश करते हैं, इसलिये इन्हें हव्य कव्य न दे ॥ १७५ ॥

अपाङ्क्त्यो यावतः पाङ्क्त्यान्भुञ्जानाननुपश्यति ।
तावतां न फलं तत्र दाता प्राप्नोति बालिशः ॥ १७६ ॥

जो पंक्तिके अयोग्य ब्राह्मण है वह जितने पंक्तियोग्य ब्राह्मणोंको भोजन करते हुए देखता है उतनेहीका फल मूर्खदाता स्वर्गमें नहीं पाता है ॥ १७६ ॥

वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य तु ।
पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥ १७७ ॥

अंधा देखकर नब्बैके, काणा साठके, श्वेतकुष्ठी सौके और राजरोगवाला हजार ब्राह्मणोंके (जिमानेवाले) दाताके फलको नाश करताहै ॥ १७७ ॥

यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः ।
तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥ १७८ ॥

शूद्रको यज्ञ करानेवाला जितने ब्राह्मणोंको अंगोंसे छूता है उतनेही ब्राह्मणोंके दानका पूर्ण फल, देनेवालेको, नहीं होता है ॥ १७८ ॥

वेदविद्यापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम् ।
विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १७९ ॥

वेदपाठी ब्राह्मणभी इस (शूद्रके यहां यज्ञ करानेवाले) का लोभसे दान ग्रहण करके जलमें मिट्टीके कच्चे पात्रके समान शीघ्र ही नाश हो जाता है ॥ १७९ ॥

सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् ।
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ॥ १८० ॥

सोमलताके वेचनेवालेको दिया गया दान विष्ठा, हकीमको दियागया दान राद और लोहू, पुजारीको दिया दान निष्फल और व्याजखोरको दिया दान वृथा होता है ॥ १८० ॥

यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत् ।
भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥

व्यापार अर्थात् लेनदेन करनेवालेको दियागया दान न इस लोकके लिये और न परलोकके लिये होता है, और उसी तरह पुनर्भू (धरेचेकी) स्त्रीसे उत्पन्न द्विजको दिया दानभी राखमें होमे हुए हव्यके समान (निष्फल) होता है ॥ १८१ ॥

इतरेषु त्वपाङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु ।
मेदोसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ १८२ ॥

पंक्तिमें बैठानेके अयोग्य और जैसे कह आये हैं ऐसे अन्य असाधुओंको जो अन्न दिया जाता है उसे पण्डितोंने मेदा, लोहू, मांस, चरबी और हाड़रूप कहाहै, अर्थात् इनको दान देनेवाले मेदा आदिके खानेवालोंकी योनिमें होते हैं ॥ १८२ ॥

अपाङ्क्त्योपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः।
तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान्पङ्क्तिपावनान् ॥ १८३ ॥

जो उत्तम द्विज, अपंक्ति वालोंसे नाशकी हुई पंक्तिको पवित्र करते हैं उन पंक्तिको पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ द्विजोंको पूर्ण रीतिसे सुनों ॥ १८३ ॥

अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ॥ १८४ ॥

जो सब वेदोंमें और उनके सब अंगोंमें मुख्य और वेद पाठियोंके वंशमें उत्पन्न हुए ब्राह्मण हैं उनकोही पंक्तिपावन जानना चाहिये ॥ १८४ ॥

त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित्।
ब्रह्मदेयात्मसंतानो ज्येष्ठसामग एव च ॥ १८५ ॥

त्रिणाचिकेत[1], अग्निहोत्री, त्रिसुपर्ण[2], छः अंगोंका जाननेवाला, ब्राह्मविवाहसे उत्पन्न और ज्येष्ठ सामोंका गानेवाला (ये पंक्तिपावन ब्राह्मण हैं) ॥ १८५ ॥

वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः।
शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः ॥ १८६ ॥

वेदके अर्थका ज्ञाता तथा कहनेवाला, ब्रह्मचारी, हजार (गौओं) का दाता, सौवर्षकी आयुवाला इनको भी पंक्तिपावन ब्राह्मण जानना चाहिये ॥ १८६ ॥

पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते।
निमन्त्रयेत त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान्यथोदितान् ॥ १८७ ॥

श्राद्ध कर्मके उपस्थित होनेपर कमसे कम तीन जैसे कहे हैं वैसे ब्राह्मणोंको पहिले दिन वा उसी दिन अच्छी तरह न्यौता दे ॥ १८७ ॥

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा।
न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत् ॥ १८८ ॥

पितृश्राद्धमें न्यौता हुआ द्विज और जिसके यहां श्राद्ध हो वह सदा जितेन्द्री रहै अर्थात् स्त्रीसंग न करै और (नियतसे अधिक) वेद न पढ़ै ॥ १८८ ॥

निमन्त्रितान्हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥

---

१. अध्वर्यु वेदके एक भागको जो पढ़े; और उस भागके पढनेमें जो व्रत करना पड़ता है उस व्रतको जो करै उसे त्रिणाचिकेत कहते हैं।

२. बहृचोंके एक वेद भागको जो पढ़ै और उसके पठनमें जो व्रत होता है उसे जो करै वह त्रिसुपर्ण है।

पितर, ऐसे न्यौते हुए ब्राह्मणोंके पास आते हैं और वायुके समान पीछे २ जाते हैं तथा बैठेहुओंके पास बैठते हैं ॥ १८९ ॥

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः ।
कथंचिद्प्यतिक्रामन्पापः सूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥
आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते ।
दातुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

शास्त्रके अनुसार न्यौता गया उत्तम ब्राह्मण यदि किसी प्रकार भी देव और पितृकर्ममें अन्यथा आचरण करै अर्थात् भोजन न करै तो वह पापी शूकर-योनि पाता है ॥ १९० ॥ श्राद्धमें न्यौता हुआ ब्राह्मण जो शूद्रा स्त्रीके संग भोग करता है वह दाताका जो कुछ पाप है उस सबको पाता है (और जो दाता पापी न हो तो ब्राह्मण पापी होता है) ॥ १९१ ॥

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥ १९२ ॥

पितर जन, क्रोधरहित, पवित्रतामें तत्पर, नित्य ब्रह्मचारी, शस्त्ररहित, महाभाग और अनादिसे देवतारूप हैं (इसलिये श्राद्धमें भोजन करनेवाले और श्राद्धकरनेवालेको इसी प्रकार होना चाहिये) ॥ १९२ ॥

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।
ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥

जिससे इन सबोंकी उत्पत्ति है और जो पितर हैं और जिन नियमोंसे उनकी उत्पत्ति होती है उनकी संपूर्ण रीति सुनों ॥ १९३ ॥

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्याद्यः सुताः ।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १९४ ॥

ब्रह्माके पुत्र मनु हैं और उनके जो मरीचि आदि पुत्र हैं उन सब ऋषियोंके पुत्र (सोमप आदि) पितृगण कहे गए हैं ॥ १९४ ॥

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः ॥ १९५ ॥

विराटके पुत्र सोमसद साध्योंके पितर, और लोकमें विख्यात मरीचिके पुत्र अग्निष्वात्त देवताओंके पितर कहे गए हैं ॥ १९५ ॥

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ १९६ ॥
सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥ १९७ ॥

अत्रिके पुत्र बर्हिषद हैं; यह देव, दानव, यक्ष, गंधर्व, सर्प, राक्षस, सुपर्ण और किन्नर इनके पितर कहे गए हैं ॥ १९६ ॥ और ब्राह्मणोंके सोमपा, क्षत्रि-योंके हविर्भुज, वैश्योंके आज्यपा और शूद्रोंके सुकाली पितर हैं ॥ १९७ ॥

सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः ।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वशिष्ठस्य सुकालिनः ॥ १९८ ॥
अग्निदग्धाननग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥ १९९ ॥
य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥

सोमपा भृगुके पुत्र, हविर्भव अंगिराके पुत्र, आज्यपा पुलस्त्यके पुत्र और सुकालि वशिष्ठके पुत्र हैं ॥ १९८ ॥ अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद तथा अग्निष्वात्ता और सौम्य ये ब्राह्मणोंकेही पितर कहे गए हैं ॥ १९९ ॥ ये जो पितरोंके मुख्य गण कहे गए हैं उनके भी इस जगतमें अनगिनती पुत्र पौत्र जानने चाहियें ॥ २०० ॥

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः ।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ २०१ ॥

(मरीचि आदि) ऋषियोंसे पितर उत्पन्न हुए हैं, पितरोंसे देवता और मनुष्य उत्पन्न हुए हैं और देवताओंसे चराचर संपूर्ण जगत् क्रम २ से उत्पन्न हुआ है ॥ २०१ ॥

राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः ।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥ २०२ ॥

इनको चांदीके पात्रोंसे वा चांदी करके युक्त (तांबेके) पात्रोंसे श्रद्धापूर्वक दिया हुआ जल अक्षय फलका देनेवाला कहा गया है ॥ २०२ ॥

देवकार्याद्द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ।
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥ २०३ ॥

द्विजातियोंको देवकार्यसे पितरकार्य अधिक कहा है क्योंकि देवकार्य पहिले होनेसे पितृकार्यका पूर्ण करनेवाला कहा गया है ॥ २०३ ॥

तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् ।
रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥ २०४ ॥

पहिले पितरोंकी रक्षा करनेवाला दैव श्राद्ध करै क्योंकि रक्षारहित श्राद्धका राक्षस लोप करदेते हैं ॥ २०४ ॥

दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत् ।
पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥ २०५ ॥

इसीलिये श्राद्धके आदिमें (आवाहन और अंतमें विसर्जन) देवकार्य होता है यह पितृश्राद्धके अंतमें न करै, नहीं तो करनेवाला मनुष्य वंशसहित नष्ट हो जाता है ॥ २०५ ॥

शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत् ।
दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥

पवित्र और एकांत स्थानको गोवरसे लिपावै और दक्षिणकी ओर बड़े यत्नसे ढलवाँ करावे ॥ २०६ ॥

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि ।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥ २०७ ॥

स्वभावसे शुद्ध वन आदि देशोंमें, नदीके तीरपर और एकांत स्थानोंमें दिये हुए श्राद्धसे पितर सदा संतुष्ट होते हैं ॥ २०७ ॥

आसनेषूपक्लृप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक्पृथक् ।
उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०८ ॥

पूर्वोक्त देशोंमें अलग २ रक्खे हुए कुशाके आसनोंपर स्नान और आचमन किये ब्राह्मणोंको अच्छी तरह बैठावै ॥ २०८ ॥

उपवेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान् ।
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद्देवपूर्वकम् ॥ २०९ ॥

उन निन्दारहित ब्राह्मणोंको बैठाकर सुगन्धित चंदन और (पुष्प) मालाओंसे पहिले देवताओंको और फिर ब्राह्मणोंको पूजै ॥ २०९ ॥

तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि ।
अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥ २१० ॥

ब्राह्मण, उन ब्राह्मणोंके अर्घ जलमें पवित्रियोंसहित तिलोंको मिलाकर ब्राह्मणोंकी आज्ञासे अग्निमें होम करै ॥ २१० ॥

अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः ।
हविर्दानेन विधिवत्पश्चात्संतर्पयेत्पितॄन् ॥ २११ ॥

पहिले अग्नि, सोम और यमको विधिपूर्वक तृप्त करके अर्थात् उनको हवि देकर पीछे अन्न आदिके दानसे पितरोंको तृप्त करै ॥ २११ ॥

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत् ।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ २१२ ॥

अग्नि न हो तो ब्राह्मणोंके हाथमें आहुति दे, क्योंकि जो अग्नि है वही ब्राह्मण है ऐसा वेदज्ञाता ब्राह्मणोंने कहा है ॥ २१२ ॥

अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान्पुरातनान् ।
लोकस्याप्यायने युक्ताञ्श्राद्धदेवान्द्विजोत्तमान् ॥ २१३ ॥
अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् ।
अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४ ॥

क्रोधरहित, प्रसन्नमुख, पुराने और लोकको तृप्त करनेमें लगेहुए उत्तम द्विजोंको श्राद्धका देवता कहते हैं ॥ २१३ ॥ अग्नौकरण होम करनेके क्रमको, दक्षिणकी ओर धरकर फिर अपसव्य होकर दाहिने हाथसे (जहां पिंड हो उस) भूमिपर जल छिड़क दे ॥ २१४ ॥

त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः ।
औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥

अर्थात् बचे हुए (उस अग्नि होमके) हविके तीन पिंड बनाकर दक्षिणकी ओर मुख करके सावधानीसे जल देनेकी विधिसे (कुशाओंके ऊपर) वह तीन पिंड दे ॥ २१५ ॥

न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम्।
तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥

फिर सावधान होकर (स्वगृह्यमें कही हुई विधिसे) उन कुशाओंपर उन पिंडोंको विधिपूर्वक देकर उन्हीं कुशाओंकी जड़पर लेपकर भोक्ताओंके लिये अपने हाथोंका मार्जन करै ॥ २१६ ॥

आचम्योदक्परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून्।
षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्यात्पितॄनेव च मन्त्रवित् ॥ २१७ ॥

मंत्रोंका जाननेवाला आचमन करके और उत्तरकी ओर मुख करके तथा धीरे २ तीन वार प्राणायाम करके (वसंत आदि) छओं ऋतुओंको और ("नमो वः पितरो रसाय" इस मंत्रसे) पितरोंको नमस्कार करै ॥ २१७ ॥

उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः।
अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः ॥ २१८ ॥

(जलपात्रमेंके) बचे हुए जलको एक पिंडके पास फिर धीरे २ छोड़े और सावधान होकर जिस प्रकार क्रमसे धरे थे (उसी प्रकार उनमेंसे एक २) उठाकर उन पिंडोंको सूंघै ॥ २१८ ॥

पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः।
तेनैव विप्रानासीनान्विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९ ॥

और उन पिंडोंमेंसे थोड़ासा भाग लेकर क्रमसे इन्हीं बैठे हुए ब्राह्मणोंको भोजनसे पहिले विधिपूर्वक भक्षण करादे ॥ २१९ ॥

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्।
विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥ २२० ॥

पिता यदि जीता हो तो पूर्व अर्थात् दादा पड़दादाओंकाही श्राद्ध करै वा श्राद्धमें अपने पिताको भी ब्राह्मणोंके समान भोजन करावै ॥ २२० ॥

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः।
पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥ २२१ ॥

जिसका पिता मरगया हो और दादा जीता हो वह पिताका नाम लेकर पड़दादाको पिंड दे ॥ २२१ ॥

पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥ २२२ ॥

अथवा दादाही उस श्राद्धके अन्नको भोजन करै यह मनुजीने कहा है; अथवा (पितामहकी) आज्ञा पाकर पौत्रही उनकी इच्छानुसार आप श्राद्ध करै ॥ २२२ ॥

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम् ।
तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् ॥ २२३ ॥

उन (ब्राह्मणों) के हाथोंमें पवित्रों सहित तिलजल देकर (पिता आदिको) स्वधा हो यह कहता हुआ उस पिंडके आगेके भागको (पिता आदि ३ ब्राह्मणोंको) दे ॥ २२३ ॥

पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम् ।
विप्रान्तिके पितॄन्ध्यायञ्शनकैरुपनिक्षिपेत् ॥ २२४ ॥

फिर अन्नके भरेहुए पात्रको हाथोंसे लेकर पितृओंका ध्यान करता हुआ ब्राह्मणोंके पास धीरे २ धरे ॥ २४४ ॥

उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते ।
तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥

दोनों हाथोंसे छुटाहुआ अर्थात् एक हाथसे लायाहुआ जो अन्न (ब्राह्मणोंके पास) लाया जाता है उसे दुष्ट चित्तवाले राक्षस जल्दीसे छीन लेते हैं (इसलिये एक हाथसे कभी न लावै ॥ २२५ ॥

गुणांश्च सूपशाकाद्यान्पयो दधि घृतं मधु ।
विन्यसेत्प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥

पहिले पवित्र और सावधान होकर दाल, तरकारी आदि व्यंजनोंको और दूध, दही, घी, शहदको धरतीपरही रखदे ॥ २२६ ॥

भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च ।
हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥ २२७ ॥

भक्ष्य (अर्थात् लड्डू आदि) और अनेक प्रकारके भोज्य (खीर आदि) तथा मूल (जिमीकंद) फल और चित्त प्रसन्न करनेवाले मांस और सुगंधित जल (पृथ्वीपर) धरै ॥ २२७ ॥

उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः ।
परिवेषयेत प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥

फिर सावधान होकर उस संपूर्णको धीरे २ पास लाकर सबके गुणोंको कहता हुआ परोसे ॥ २२८ ॥

नास्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् ।
न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ॥ २२९ ॥

कभी भी आँसू न टपकावे, न क्रोध करै, न झूठ बोले, न पैरसे अन्नको छुए और न इस अन्नको उछालकर पात्रमें धरै ॥ २२९ ॥

अस्रं गमयति प्रेतान्कोपोऽरीनानृतं शुनः ।
पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥

आँसू प्रेतोंको, कोप शत्रुओंको, झूठ कुत्तोंको, पैरसे सर्श करना राक्षसोंको और उछालना पापियोंको पहुंचाता है ॥ २३० ॥

यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः ।
ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितॄणामेतदीप्सितम् ॥ २३१ ॥

ब्राह्मणोंको जो जो अच्छा लगे उसे द्वेषरहित होकर दे, और परमात्माके निरूपणकी कथा कहै, पितरोंको यह अच्छा लगताहै ॥ २३१ ॥

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥ २३२ ॥

श्राद्धमें वेद, धर्मशास्त्र, व्याख्यान, (सोपर्ण मैत्रावरुण आदि), इतिहास, पुराण और खिल (अर्थात् श्रीसूक्त शिवसंकल्प आदि) सुनावै ॥ २३२ ॥

हर्षयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः ।
अन्नाद्येनासकृच्चैतान्गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३ ॥

प्रसन्न मनसे ब्राह्मणोंको प्रसन्न करे और धीरे २ उनको भोजन करावे और इन (ब्राह्मणों) को अन्न खीर आदि से उनके गुणोंको वारंवार कहकर (भोजनकी) प्रेरणा करै ॥ २३३ ॥

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् ।
कुतपं चासने दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम् ॥ २३४ ॥

धेवता ब्रह्मचारी हो तो भी उसे श्राद्धमें यत्नसे भोजन करावे और आसनकी जगह नैपाली कंबल दे और तिलोंको पृथ्वीपर बिखेरै ॥ २३४ ॥

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥ २३५ ॥

धेवता, नैपाली कम्बल और तिल ये तीन श्राद्धमें पवित्र हैं, और श्राद्धमें पवित्रता रखना तथा क्रोध और शीघ्रताका त्याग करना इन तीन बातोंकी (मनुआदि ऋषि) बड़ाई करते हैं ॥ २३५ ॥

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद्भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः ।
न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥ २३६ ॥

सब अन्न खूब गरम हो उसे (वे ब्राह्मण) मौन होकर भोजन करैं और दाताके पूछने पर भी ब्राह्मण, अन्नके गुणोंको न कहैं ॥ २३६ ॥

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः ।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥ २३७ ॥

जबतक अन्न गरम होता है, जबतक ब्राह्मण मौन होकर खाते हैं और जबतक अन्नके गुण नहीं कहे तबतक पितर खाते हैं ॥ २३७ ॥

यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः ।
सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ २३८ ॥

शिरपर वस्त्र लपेट कर, दक्षिणको मुख करके और जूते पहिन कर जो खाता है उसके भोजन किए (अन्न आदि) को निश्चय करके राक्षस खावे हैं ॥ २३८ ॥

चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च।
रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान्॥ २३९॥

चांडाल, शूकर, मुरगा, कुत्ता, रजस्वला और नपुंसक ये खाते हुए ब्राह्मणोंको न देखें॥ २३९॥

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते।
दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्गच्छत्ययथातथम्॥ २४०॥

हवनमें (गौ आदिके) दानमें, ब्रह्मभोजमें, देवकर्ममें, वा श्राद्धमें जिस वस्तुको ये देखते हैं वह वृथा जाती है॥ २४०॥

घ्राणेन सूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः।
श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः॥ २४१॥

शूकर सूंघनेसे, मुर्गा पंखोंकी वायुसे कुत्ता दृष्टिके फेंकनेसे और शूद्र स्पर्शसे श्राद्धकी वस्तुका नाश करता है (इसलिये ऐसी जगह श्राद्ध न करै)॥ २४१॥

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योपि वा भवेत्।
हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः॥ २४२॥

जो ब्राह्मण लँगड़ा वा काना वा देनेवालेका सेवक वा छोटे बड़े अंगवाला हो, उसे भी निकाल दे॥ २४२॥

ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम्।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत्॥ २४३॥

भोजनके लिये आए हुए ब्राह्मणका वा भिखारीका (श्राद्धमें आए हुए सुपात्र) ब्राह्मणोंसे आज्ञा पाकर शक्तिके अनुसार (भोजन आदिसे) आदर करै॥ २४३॥

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा।
समुत्सृजेद्भुक्तवतामग्रतो विकिरन्भुवि॥ २४४॥

सब प्रकारके अन्न आदिको सानकर और पानीसे गीला करके भोजन कर चुके हुए ब्राह्मणोंको सामने भूमिमें कुशाओंपर बखेरता हुआ गेरै॥ २४४॥

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम्।
उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः॥ २४५॥

जो कुशाओंपर बखेरा गया है वह जूठा अन्न, विना अग्नि संस्कारके मरे हुए बालक तथा कुलकी स्त्रियोंको त्यागनेवालोंका भाग होता है॥ २४५॥

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च।
दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते॥ २४६॥

श्राद्धमें जो धरतीपर पड़ा हुआ जूठा अन्न है वह सीधे और अकुटिल दासवर्गका भाग कहा है॥ २४६॥

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु।
अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत्॥ २४७॥

सपिंडीकरण पर्यन्त मरे हुए द्विजातिका श्राद्ध वैश्वदेवरहित करना चाहिये, उसमें (एक ब्राह्मण) एक पिंड (और एक पवित्रेय) होता है ॥ २४७ ॥

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः ।
अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

धर्मसे इसकी सपिंडी क्रिया हो चुकनेपर पुत्रोंको चाहिये कि इसी (पार्वण) की रीतिसे पिंडदान करें ॥ २४८ ॥

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति ।
स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥
श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति ।
तस्याः पुरीषे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

जो मनुष्य श्राद्धमें जीमकर जूठा भोजन शूद्रको देता है वह मूर्ख नीचा शिर किये हुए कालसूत्र नाम नरकको जाता है ॥ २४९ ॥ उस दिन जो श्राद्धमें भोजन करनेवाला शूद्राके साथ रमण करता है उसके पितर उस स्त्रीकी विष्ठामें एक मासतक सोते हैं ॥ २५० ॥

पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः ।
आचान्तांश्चानुजानीयादभितो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥

"अछी तरह भोजन किया" पूछ कर और उन ब्राह्मणोंके तृप्त होने पर आचमन करावे और जब वे आचमन करचुकें तब उन आचमन कियोंको यहां रहिये वा अपने घर आराम करिये यह जतलावे ॥ २५१ ॥

स्वधास्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् ।
स्वधाकारः पराह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ २५२ ॥

इसके पीछे उनसे ब्राह्मण यह कहैं कि "स्वधाहो" अर्थात् पितरोंका श्राद्ध प्राप्त हो, क्योंकि सब पितृकर्मोंमें स्वधा कहना ही बड़ा भारी आशीर्वाद है ॥२५२॥

ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् ।
यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥

फिर उन भोजन किये हुओंको बचा हुआ अन्न निवेदन करै; फिर यजमान ब्राह्मणोंसे आज्ञा पाकर जैसे वे कहैं (कि इस बचे हुए अन्नका यह करो) वैसे करै ॥ २५३ ॥

पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम् ।
संपन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥

पितर (मातापिताके एकोद्दिष्ट) श्राद्धमें ब्राह्मणोंकी तृप्तिके लिये स्वदितं (अर्थात् अच्छी तरह भोजन किया) यह कहै । गोष्ठ श्राद्धमें सुश्रुत, अभ्यु-दय (वृद्धश्राद्ध) में संपन्न और दैव श्राद्धमें रुचित यह कहना चाहिये ॥२५४॥

अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसंपादनं तिलाः ।
सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्मसु संपदः ॥ २५५ ॥

दो प्रहर पीछेका समय, कुशा, घरकी सफाई, तिल, उदार चित्तसे दान,

सफाईसे अन्न बनाना और श्रेष्ठ ब्राह्मण ये श्राद्ध कर्ममें संपत्तियां हैं, अर्थात् इनसे श्राद्ध पूरा होता है ॥ २५५ ॥

दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः ।
पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसंपदः ॥ २५६ ॥

कुशा, मंत्र, पूर्वाह्ण काल, सब हविष्य और जो पहिले पवित्र कह आए ये हव्य (देव कर्म) की संपत्ति जाननी चाहिये ॥ २५६ ॥

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ।
अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥ २५७ ॥

मुनियोंके अन्न (अर्थात् नीवार आदि) दूध, सोमलताका रस, दुर्गन्धरहित मांस और सेंधा नोन ये वस्तु स्वभावसेही हव्य कही गई हैं ॥ २५७ ॥

विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः ।
दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान्पितॄन् ॥ २५८ ॥

उन ब्राह्मणोंको विदाकरके एकाग्र चित्त मौन तथा शुद्ध होकर दक्षिण दिशाकी ओर याचता हुआ पितृयोंसे इन वरोंको मांगे ॥ २५८ ॥

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च ।
श्रद्धा च नो माव्यगमद्बहुदेयं च नोऽस्त्विति ॥ २५९ ॥

हमारे वंशमें दाता, वेद और संतान इनकी वृद्धि हो, हमारी श्रद्धा न जाय, और हमारे यहां देनेके लिये वहुत हो ॥ २५९ ॥

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।
गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥

इस प्रकार पिंडोंका दानकरके उन पिंडोंको गाय वा ब्राह्मण वा बकरा इनको खवादे, अथवा अग्नि वा जलमें फेंकदे ॥ २६० ॥

पिण्डनिर्वपणं केचित्पुरस्तादेव कुर्वते ।
वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥ २६१ ॥

कितनेही आचार्य (ब्राह्मणभोजनके) पीछे पिंडदान करते हैं, कितनेही पक्षियोंको खिलाते हैं वा अग्नि या जलमें फेंक देते हैं (यहां अपनी इच्छानुसार विकल्प जानना) ॥ २६१ ॥

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।
मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक्सुतार्थिनी ॥ २६२ ॥

पितरोंके पूजनेमें लगी हुई, अच्छे पुत्रको चाहनेवाली ऐसी पतिव्रता धर्मपत्नी उनमें से बीचके पिंडको भोजन करे (और उस समय यह मंत्र पढ़े "सम्यगाधत्त पितरो गर्भम्") ॥ २६२ ॥

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा ॥ २६३ ॥

वह पत्नी बड़ी आयुवाला, यश और बुद्धिसे युक्त, धनवान्, संततिवाला सतोगुणी और धर्मात्मा पुत्रको जनती है ॥ २६३ ॥

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत्।
ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बान्धवानपि भोजयेत्॥ २६४॥

दोनों हाथ धोकर और आचमन करके वह अन्न जातिवालोंको भोजन करादे और सत्कारपूर्वक जातिवालोंको देकर भाई बन्धुओंको भी भोजन करावे॥२६४॥

उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः।
ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥ २६५॥

जबतक ब्राह्मण विदा किये जांय तबतक वह जूठन पड़ी रहै, फिर गृहबलि (वैश्वदेव) करै यह धर्म निश्चय किया गया है॥ २६५॥

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्प्यते।
पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ २६६॥

पितृओंकी विधिपूर्वक दी गई जो हवि बहुतकाल और अनंत तृप्तिके लिये होती है उसे संपूर्ण रीति से कहता हूं॥ २६६॥

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा।
दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम्॥ २६७॥

मनुष्योंके पितर तिल, चावल, जौ, कालेउड़द, जल वा मूल फल इनमेंसे किसीके विधिपूर्वक देनेसे एकमास तृप्त होते हैं॥ २६७॥

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान्हारिणेन तु।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै॥ २६८॥

मछलीके मांससे दो महीने, हरिणके मांससे तीन महीने और मैढ़ेके (मांस) से चार महीने और पक्षियोंके मांससे पांच (महीने)॥ २६८॥

षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु॥ २६९॥

बकरीके मांससे छः महीने और चित्र मृगके मांससे सात महीने, कालेमृगके मांससे आठ और पाठीन मछली तथा रुरुनाम हरिणके मांससे नौ मास तक तृप्त होते हैं॥ २६९॥

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु॥ २७०॥

सूकर और भैंसेके मांससे दशमास, खरगोश और कछुएके मांससे ग्यारह मास तक तृप्त होते हैं॥ २७०॥

संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी॥ २७१॥

गऊके दूध और उसकी खीरसे एक वर्षतक तृप्त होते हैं और वैध्रींणसके मांससे १२ वर्षतक तृप्त होते हैं॥ २७१॥

---

१ वध्रींणस उसे कहते हैं कि जिसके जल पीनेके समय दोनों कान और जीभ जलका स्पर्श करते हों, जिसकी निर्बल इन्द्रियां हों शुक्ल वर्ण हो और अनेक संतान हों॥

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु ।
आनन्त्यायैव कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥ २७२ ॥

कालशाक और महाशल्क, गैंडे और लालछाग इनके मांससे तथा शहद और सब मुनिअन्नसे अनन्त वर्ष तक तृप्त रहते हैं ॥ २७२ ॥

यत्किंचिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम् ।
तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च ॥ २७३ ॥

जो मनुष्य शहदसे मिलाहुआ थोड़ासा भी अन्न वर्षाकालमें मघा नक्षत्र युक्त तेरसके दिन देता है सो भी अक्षय होता है ॥ २७३ ॥

अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम् ।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४ ॥

हमारे वंशमें भी ऐसा पैदा हो जो हमको तेरसके दिन और हस्तिकी छाया जब पूर्व दिशाको जाय उस दिन शहद और घीके साथ क्षीर देवै ॥ २७४ ॥

यद्यद्ददाति विधिवत्सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।
तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥

मनुष्य अच्छी तरह श्रद्धावान् होकर जो जो पदार्थ विधिपूर्वक पितरोंको देता है वह पितृओंको परलोकमें अनन्त और अक्षय होता है ॥ २७५ ॥

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ॥ २७६ ॥

कृष्ण पक्षमें चौदसको छोड़ दशमीको आदि लेकर जैसी तिथियां श्राद्धमें श्रेष्ठ होती हैं वैसी (प्रतिपदा आदि) और नहीं होती है ॥ २७६ ॥

युक्षु कुर्वन्दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते ।
अयुक्षु तु पितॄन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७ ॥

(द्वितीया, चतुर्थी आदि) सम दिन और (भरणी, रोहिणी आदि) सम नक्षत्र इनमें श्राद्ध करनेवाला सब कामनाओंको पाता है और (पड़वा तृतीया आदि) विषम दिन और अश्विनी, कृत्तिका आदि विषम नक्षत्र इनमें श्राद्धसे सब पितरोंको तृप्त करनेवाला बहुतसी संतान पाता है ॥ २७७ ॥

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते ।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते ॥ २७८ ॥

जैसे शुक्ल पक्षसे कृष्ण पक्ष (श्राद्धमें) विशेष फलका दाता है वैसेही पूर्वाह्णसे अपराह्ण काल श्राद्धका अधिक फल दाता है ॥ २७८ ॥

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।
पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥ २७९ ॥

दाहिने कंधेपर जनेऊ रखकर, सावधान होकर और कुशा हाथमें लेकर मनुष्यको जीवन पर्यंत अपसव्य हो विधिपूर्वक अच्छीतरह श्राद्ध करना चाहिए ॥ २७९ ॥

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ।
संध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥

रात्रिमें श्राद्ध न करै क्योंकि रात्रि निश्चय करके राक्षसी कही गई है । दोनों संध्याओंमें और सूर्यके शीघ्र उदय होते हुएमें भी श्राद्ध न करै ॥ २८० ॥

अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् ।
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१॥

(पहिले प्रतिमास श्राद्ध करना कह आए हैं और जो वह न बने तो) इस विधिसे हेमंत ग्रीष्म और वर्षा ऋतुमें वर्षके तीन श्राद्ध करै और पंचयज्ञके कर्मको नित्य करै ॥ २८१ ॥

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते ।
न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥ २८२ ॥

यदेव तर्पयत्यद्भिः पितॄन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥

वसून्वदन्ति तु पितॄन्रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥

लौकिक अग्निमें पितरोंके लिये यज्ञका हवन और अग्निहोत्री ब्राह्मणको अमावास्याके विना श्राद्ध नहीं कहा है ॥२८२॥ श्रेष्ठ द्विज स्नान करके जिस जलसे पितरोंको तर्पण करता है उससेही उसे सब पितरोंकी क्रियाका फल मिलता है ॥ २८३ ॥ (मनुजी आदि) पितरोंको वसुस्वरूप, पितामहोंको रुद्रस्वरूप, प्रपितामहोंको आदित्यस्वरूप कहते हैं यही सनातनकी रीति है ॥ २८४ ॥

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ २८५ ॥

मनुष्य नित्य विघस खानेवाला अथवा सदा अमृत भोजन करनेवाला हो ब्राह्मणोंके भोजनसे बचा विघस और यज्ञका शेष अमृत कहा गया है ॥२८५॥

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् ।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥

यह मैंने तुमसे पंच यज्ञका संपूर्ण विधान कहा है, अब द्विजातियोंकी मुख्य वृत्तियोंका विधान सुनो ॥ २८६ ॥ इति

आगरानिवासी पं. रामेश्वर भट्टकृत सरला टीकासहित
मनु० का तीसरा अध्याय समाप्त हुआ—शुभम् ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि आयुके पहिले चौथे भागमें गुरुके यहां रहकर, आयुके दूसरे भागमें स्त्रीसे विवाहकर घरमें निवास करै ॥ १ ॥

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि प्राणियोंके अद्रोहसे अर्थात् जिसमें किसी प्राणीकी कुछ बुराई न हो अथवा थोड़े द्रोहसे अर्थात् जिसमें प्राणीकी थोड़ी बुराई हो ऐसी अपनी (शिलोञ्छ आदि) आजीविका करके अनापद कालमें जीवन वितावै ॥ २ ॥

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥ ३ ॥

अपने श्रेष्ठ कर्मोंसे कि जिससे शरीरको क्लेश न हो अपने कुटुंबपालन के लिये धनका संचय करै ॥ ३ ॥

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥

ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत वा सत्यानृतसे अपना जीवन बितावै परंतु श्वान-वृत्ति अर्थात् पराई सेवा करके न जीवै ॥ ४ ॥

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥

उञ्छ[1] और शिल[2]को ऋत जानना चाहिये, अयाचित अमृत होताहै, याचित-भिक्षा मृत कहती है, और खेतीको प्रमृत कहते हैं ॥ ५ ॥

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते ।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

वाणिज्यको सत्यानृत कहते हैं, उसकी भी मनुष्य जीविका करते हैं. सेवाको श्ववृत्ति कहते हैं इसलिये उसे त्याग देना चाहिये ॥ ६ ॥

कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा ।
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ७ ॥

कुसूलधान्यक अर्थात् तीन वर्ष वा इससे भी अधिक तक चलनेवाले धान्यका संग्रह करनेवाला, वा कुंभी-धान्य अर्थात् एक वर्षतक निर्वाहके योग्य धान्यसंग्रह करनेवाला, वा तीन दिनके योग्य धान रखनेवाला अथवा उसी दिनके लायक धान रखनेवाला हो ॥ ७ ॥

---

१ खेतमें पड़े हुए अन्नके दानें जो चुटकी से बीने जांय उनको उञ्छ कहते हैं ।
२ धान्योंकी फलियां बीननेको शिल कहते हैं ।

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम् ।
ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥ ८ ॥

इन चारोंही गृहस्थी ब्राह्मणोंमेंसे आगे २ का श्रेष्ठ जानना चाहिये और वही धर्मसे स्वर्ग आदि लोकोंका जीतनेवाला होता है ॥ ८ ॥

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते ।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥

इन गृहस्थियोंमेंसे एक छः कर्म, दूसरा तीन कर्म, तीसरा दो कर्म और चौथा वेद पढ़ाकर जीवन विताता है ॥ ९ ॥

वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः ।
इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ॥ १० ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि शिल उञ्छ इन दोनोंसे निर्वाह करता हुआ अग्निहोत्रमें लगा रहै और पर्व तथा अयनोंमें होनेवाले (दर्श पौर्णमास आग्रयण) यज्ञोंकोही केवल सदा करै ॥ १० ॥

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥ ११ ॥

अपनी आजीविकाके लिये कभी भी संसारको प्रसन्न करनेका आचरण न करै । ब्राह्मणको चाहिये कि सीधी कि जिसमें दंभ आदि न हो, ऐसी ब्राह्मणोंकी शुद्ध आजीविका करै ॥ ११ ॥

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ १२ ॥

जो सुख चाहै उसे परम संतोषी और संयमी होना चाहिये क्योंकि संतोष सुखकी जड़ है और असंतोष दुःखका मूल है ॥ १२ ॥

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः ।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥ १३ ॥

इसलिये स्नातक ब्राह्मण (पूर्व कथित आजीविकाओंमें से) किसी एक आजीविकासे जीता हुआ, स्वर्ग, आयु और यशके देनेवाले इन व्रतोंको धारण करै ॥ १३ ॥

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः ।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ १४ ॥

वेदमें कहे हुए अपने कर्मको नित्य सावधान होकर करै । जो कोई उसे शक्तिपूर्वक करता है वह परमगतिको पाता है ॥ १४ ॥

नेहेतार्थान्प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा ।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ १५ ॥

गानेबजाने आदि शास्त्रके विरुद्ध कर्मसे धनको न चाहै, और धनके होनेपर तथा आपत्तिमेंभी इधर उधरसे (बुरी जीविकाकर) धन कमानेका यत्न न करै ॥ १५ ॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत् ॥ १६ ॥

इच्छासे इन्द्रियोंके सब विषयोंमें आसक्त न हो, इनकी अत्यंत प्रसक्तिको मनसे बिलकुल त्याग देना चाहिये ॥ १६ ॥

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥

जिस प्रकार हो वेदके विरोधी सब कामोंको त्याग कर वेद पढ़ता रहै क्योंकि वेदकी तत्परताही इस स्नातककी सफलता है ॥ १७ ॥

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥ १८ ॥

अपने आयु, कर्म, धन, वेद और कुल इनके अनुसार ही वेष, वाणी और बुद्धिका वर्ताव करता हुआ संसारमें विचरता रहै ॥ १८ ॥

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥

शीघ्र बुद्धिको बढ़ानेवाले, धन देनेवाले, तथा हित करनेवाले शास्त्रोंको और वेदके निरुक्तको नित्य विचारता रहै ॥ १९ ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २० ॥

पुरुष जैसे २ शास्त्रको पढ़ता जाता है वैसेही वैसे विशेष जानता जाता है, और इसीसे उसे अन्य शास्त्रका भी विशेष ज्ञान होता है ॥ २० ॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१ ॥

(१) ऋषियज्ञ (२) देवयज्ञ (३) भूतयज्ञ (४) नरयज्ञ और (५) पितृयज्ञ इन पांच यज्ञोंको जहांतक हो सदा कभी न छोड़ना चाहिये ॥ २१ ॥

एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः ।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२ ॥

यज्ञशास्त्रके जाननेवाले कितनेही लोग इन महायज्ञोंको न करके पांच ज्ञानेन्द्रियोंके विषयोंकाही हवन करते हैं, अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं होते हैं ॥ २२ ॥

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा ।
वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥ २३ ॥

कोई २ गृहस्थी, वाणी और प्राणमें यज्ञका अक्षय फल जानकर वाणीमें प्राणको और प्राणमें वाणीको सदा होमते हैं, अर्थात् वाणी और प्राणका संयम करते हैं ॥ २३ ॥

ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखैः सदा ।
ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥ २४ ॥

कितनेही ब्राह्मण ज्ञानरूपी नेत्रसे, ज्ञान है जड़ जिसकी ऐसी (पांच यज्ञोंकी) इस क्रियाको देखते हुए ज्ञानसे ही सदा इन यज्ञोंको करते हैं, अर्थात् यह सब जगत् ब्रह्मरूप है जब यह ज्ञान होता है तब ब्रह्मज्ञानको उत्पन्न करनेवाले इन पांचों यज्ञोंको भी ब्रह्मरूप ही ध्यान करते हुए पंचयज्ञ करनेका फल पाते हैं ॥ २४ ॥

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥

दिनरात्रिके आदिअंतमें सदा अग्निहोत्र करना चाहिये और अधिमासके अंतमें दर्श और पौर्णमास यज्ञ करै ॥ २५ ॥

सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः ।
पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥ २६ ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि पुराने अन्नके अंतमें नवसस्ययज्ञ, ऋतुके अंतमें चातुर्मास्य, अयनोंकी आदिमें पशुयज्ञ और वर्षके अंतमें अग्निष्टोमआदि यज्ञ करै ॥ २६ ॥

नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः ।
नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ २७ ॥

जिस अग्निहोत्री द्विजको दीर्घायुतक जीनेकी इच्छा हो उसे नवसस्ययज्ञ और पशुयज्ञ विना किये नवीन अन्न वा मांस नहीं खाना चाहिये ॥ २७ ॥

नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः ।
प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्धिनः ॥ २८ ॥

क्योंकि नवीन अन्न और पशु हव्यसे विना पूजी हुई और नये अन्न तथा मांसको चाहनेवाली अग्नि इस अग्निहोत्रीके प्राणोंको भक्षण करना चाहती है ॥ २८ ॥

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा ।
नास्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥ २९ ॥

किसी गृहस्थीके घरमें आसन, भोजन, शय्या, जल वा मूलफलसे शक्तिके अनुसार विना सत्कारके अतिथि वास न करने पावे, अर्थात् गृहस्थीको शक्तिके अनुसार अतिथिका सत्कार अवश्य कर्तव्य है ॥ २९ ॥

पाषण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान् ।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ ३० ॥

पाखंडी, बुरे कर्म करनेवाले, वैडालव्रतिक, शठ (वेदविरोधी) वेदमें तर्क करनेवाले तथा बैकवृत्ति इनका वाणीमात्रसे भी आदर न करै ॥ ३० ॥

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्श्रोत्रियान्गृहमेधिनः ।
पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

१।२ इन दोनोंका लक्षण आगे कहेंगे—

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना ।
संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥

वेदविद्यास्नातक, व्रतस्नातक, वेदविद्याव्रतस्नातक और वेदपाठी गृहस्थियोंका हव्यकव्यसे पूजन करै और जो इनसे विपरीत हैं उन्हें त्याग दे ॥ ३१ ॥ गृहस्थीको चाहिये कि जो अपने हाथसे नहीं पका सके हैं ऐसे संन्यासी ब्रह्मचारी आदिको यथाशक्ति (अन्न) दे, और जिसमें कुटुंबके पालनमें विरोध न पड़े इस प्रकार (वृक्षपर्यंत) सब प्राणियोंको जल अन्न आदिसे विभाग देना चाहिये ॥ ३२ ॥

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा ।
याज्यान्तेवासिनोर्वापि न त्वन्यत इति स्थितिः ॥ ३३ ॥

स्नातक यदि क्षुधासे पीड़ित हो तो राजासे, यजमानसे वा शिष्यसे धनकी इच्छा करै दूसरेसे नहीं; यही शास्त्रकी मर्यादा है ॥ ३३ ॥

न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथंचन ।
न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥ ३४ ॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः ।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ३५ ॥
वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् ।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥

समर्थ स्नातक ब्राह्मण–भूकसे कभी दुखी नहो और धन होनेपर फटे पुराने और मैले वस्त्र धारण न करे ॥ ३४ ॥ और वह (शिर न मुड़वावे) केश नख और दाढ़ी इनको कटाता रहै, क्लेश सहै, श्वेत वस्त्र धारण करै, पवित्र रहै और वेदपाठ तथा अपने हितमें सदा लगा रहै ॥ ३५ ॥ और बांसका दंड, जलभरा कमंडलु, यज्ञोपवीत, वेद और सुन्दर सुवर्णके कुंडल धारण करै ॥ ३६ ॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तंयन्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ ३७ ॥

उदय अस्त होतेहुए, राहुसे ग्रसेहुए, जलमें प्रतिबिंब पड़े हुए और आकाशके मध्यमें गये हुए सूर्यको कभी न देखै ॥ ३७ ॥

न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति ।
न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥

---

१ जो वेदोंको समाप्त करके और व्रतोंको समाप्त न करके गुरुके यहांसे गृहस्थ में आवे उसे वेदविद्यास्नातक कहते हैं ॥

२ जो व्रतोंको समाप्त करके और वेदविद्याको समाप्त न करके गृहस्थमें आवे उसे व्रतस्नातक कहते हैं ॥

३ और जो वेद और व्रत दोनोंको समाप्त करके गृहस्थमें आवे उसे वेदविद्याव्रतस्नातक कहते हैं–यह हारीतका वचन है ॥

बछड़े बांधनेकी रस्सीको न उलाँघे, मेहबरसतेमें न दौड़े, और पानीमें अपने रूपको न देखै, यह बात याद रखनेकी हैं ॥ ३८ ॥

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् ।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥

खुदी हुई मट्टी, गाय, देवमूर्ति, ब्राह्मण, घी, शहद, चौराहा और प्रसिद्ध वृक्ष (बड़ पीपल आदि) सन्मुख हों तो उन्हें दक्षिण दिशामें करै अर्थात् आप वाम भागमें होकर जाय ॥ ३९ ॥

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने ।
समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥
रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥

कामार्त हो तो भी मासिक धर्म होनेपर अपनी स्त्रीके पास न जाय और उसके साथ एक बिछौने पर न सोवै ॥ ४० ॥ जो कोई मनुष्य रजस्वला स्त्रीके पास जाता है उसके बुद्धि, तेज, बल, नेत्र और आयु ये घटते हैं ॥४१॥

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् ।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥
नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम् ।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ॥ ४३ ॥

रज निकलती हुई स्त्रीको त्यागनेवाले मनुष्यके बुद्धि, तेज, बल, नेत्र और आयु (ये सब) बढ़ते हैं ॥ ४२ ॥ स्त्रीके संग एक थालमें भोजन न करै और भोजन करती हुई, छींकती हुई, जंभाई लेती हुई वा सुखसे बैठी हुई स्त्रीको न देखे ॥ ४३ ॥

नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम् ।
न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

तेजकी इच्छा चाहनेवाले उत्तम ब्राह्मणको चाहिये कि वह, अपने नेत्रोंमें अंजन आंजती हुई, स्नान करती हुई, नंगी और संतान जनती हुई स्त्रीको न देखै॥४४॥

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत् ।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥
न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते ।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥
न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः ।
न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥

एक वस्त्र पहिरकर अन्न न खाय, नंगा स्नान न करै, और राखमें, मार्गमें तथा गौशालामें मलमूत्र न करै ॥४५॥ जुते हुए खेतमें, जलमें, अग्निकेलिये ईंटोंके समूहमें, पर्वतपर, टूटे फूटे देवताके मंदिरमें और बँबईमें कभी मलमूत्र न करै४६

जिनमें जीव रहते हों ऐसेबिलोंमें, चलता हुआ वा खड़ाहुआ, नदीके तीर-पर, पर्वतके शिखरपर भी मलमूत्र न करना चहिये ॥ ४७ ॥

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः ।
न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ४८ ॥

वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल तथा गौ इनको देखता हुआ भी मल मूत्रका त्याग कभी नहीं करना चाहिये ॥ ४८ ॥

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना ।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥ ४९ ॥

काठ, मट्टीका डेला, पत्ते, तृण आदिसे (भूमिको) ढककर, चुपका होकर और अंग तथा शिरको ढककर मलत्याग करना चाहिये ॥ ४९ ॥

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च तथा दिवा ॥ ५० ॥

दिनमें उत्तरकी ओर मुख करके और रात्रिमें दक्षिणकी ओर मुख करके और दोनों सन्ध्याओंमें दिनके समान मलमूत्र त्याग करना चाहिये ॥ ५० ॥

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।
यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च ॥ ५१ ॥

रातमें हो चाहे दिनमें जो बादल आदिकी छायासे अँधेरा होजाय तथा दिशा विदिशाका ज्ञान न रहै और प्राणोंकी बाधा तथा सिंहादिका भय हो तो इच्छापूर्वक जिधर चाहै उधर मुख करके मलमूत्र त्याग करै ॥ ५१ ॥

प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान् ।
प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥ ५२ ॥

अग्निके सामने, सूर्यके सामने और चन्द्रमा, जल, ब्राह्मण, गाय और हवा इनके सामने मलमूत्र करनेवाले पुरुषकी बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥ ५२ ॥

नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम् ।
नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥

मुखसे अग्निको न फूंकै, नंगी स्त्रीको न देखे, अग्निमें (विष्ठा आदि) अपवित्र वस्तु न फैंके और पैरोंको न सेकना चाहिये ॥ ५३ ॥

अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत् ।
न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अग्निको (खाट आदिके) नीचे न धरै और न अग्निको लाँघै, और न इसे पैरोंकी ओर धरै, और कोई काम ऐसा न करना चाहिये जिससे प्राणोंको पीड़ा हो ॥ ५४ ॥

नाश्नीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत् ।
न चैव प्रलिखेद्भूमिं नात्मनोपहरेत्स्रजम् ॥ ५५ ॥

सन्ध्याके समय न तो भोजन करै, न कहीं जाय, न सोवै, न भूमिको कुरेदे और आपही अपने गलेकी मालाको न उतारै ॥ ५५ ॥

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत् ।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥

पानीमें, मूत्र, विष्ठा, थूक वा इन अपवित्र वस्तुओंसे लिसी हुई कोई (वस्त्र आदि) अन्यवस्तु वा लोहू वा विष इनको न फैंके ॥ ५६ ॥

नैकः सुप्याच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत् ।
नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः ॥ ५७ ॥

सूने घरमें अकेला न सोवै, अपनेसे बड़े सोते हुएको न जगावै, रजस्वलासे न बोले, और विनावरण हुए यज्ञमें न जाय ॥ ५७ ॥

अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ ।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥

अग्निशालामें, गोशालामें, ब्राह्मणोंके पास, वेदपाठमें और भोजनमें दाहिने हाथको बाहर करै ॥ ५८ ॥

न वारयेद्गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् ।
न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥ ५९ ॥

(दूध वा जल) पीती हुई गाय वा वत्सको न रोके और न किसीसे कहै, और बुद्धिमान्को चाहिये कि आकाशमें इन्द्रधनुषको देखकर किसीको न दिखावै ॥ ५९ ॥

नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ।
नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ६० ॥

अधर्मियोंके गांवमें या जिसमें बहुतसी व्याधियां हों ऐसे गाँवमें बिलकुल वास न करै, मार्गमें अकेला न चलै और पर्वतपर बहुत कालतक न रहै ॥ ६० ॥

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ।
न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥

पुरुषको चाहिये कि शूद्रके राज्यमें और अधर्मी, बहुतसे पाखंडी और अंत्यज मनुष्योंसे भरे वा घिरे हुए गाँवमें न वसै ॥ ६१ ॥

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् ।
नाति प्रगे नाति सायं न सायं प्रातराशितः ॥ ६२ ॥

जिसमेंसे तेल निकल आया हो उस (तिल आदि)को न खाय, अति तृप्त होकर भोजन न करै और बहुत सवेरे बहुत साँझको भी भोजन न करै, और जो प्रातःकाल बहुत खालिया हो तो साँझको न खाय ॥ ६२ ॥

न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत् ।
नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥ ६३ ॥

वृथाके कामको न करै, अंजलियोंसे जल न पिए, खानेके पदार्थको गोदीमें रखकर न खाय, और न कभी विना प्रयोजन किसी कामके देखने भालनेकी इच्छा करै ॥ ६३ ॥

न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत् ।
नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥ ६४ ॥

न नाचै, न गावै, न बाजे बजावै, न ताली बजावै, न दांतोंको किड़-किड़ावै और न प्रेममें मगन हो कर (गधेकी भाँति) रेंकै ॥ ६४ ॥

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने ।
न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥ ६५ ॥

कांसेके पात्रमें कभी पैर न धोवै और फूटे बासनमें और जिस बासनमें मन न करै उसमें भोजन न करै ॥ ६५ ॥

उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।
उपवीतमलंकारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

जूते, वस्त्र, जनेऊ, आभूषण, माला और कमण्डलु ये दूसरेके धारण किये धारण न करै ॥ ६६ ॥

नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः ।
न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥

विना सिखाये हुए, भूख तथा रोगसे पीड़ित, जिनके सींग, नेत्र और खुर जाते रहेहों और जिनकी पूंछ कटी हो ऐसे घोड़े बैल आदि पशुओंपर चढ़कर न जाना चाहिये ॥ ६७ ॥

विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः ।
वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥

सिखाए गये, शीघ्र जानेवाले, अच्छे लक्षणयुक्त और जो रंग रूपके सुन्दर हों ऐसे बैल घोड़े, आदिपर, चाबुकसे अत्यन्त न मारता हुआ नित्य जाय ॥ ६८ ॥

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम् ।
न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥ ६९ ॥

बालसूर्यकी धूप, फुँकते हुए मुर्देका धुआँ और फटा आसन इनको त्याग देना चाहिये । तथा नोंह और रुओंको न काटै और नाखूनोंको दांतसे न उखाड़ै ॥ ६९ ॥

न मृल्लोष्ठं च मृद्नीयान्न च्छिन्द्यात्करजैस्तृणम् ।
न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥ ७० ॥

मट्टीके डेलेको न मलै, नखोंसे तृण न तोड़ै और निष्फल तथा आगेको जिससे सुख न हो ऐसा काम न करै ॥ ७० ॥

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥ ७१ ॥

जो मनुष्य मट्टीके डेलेको मलता है, तृण तोड़ता है, नखोंको चावता है, चुगली खाता है और जो अपवित्र रहता है वह मनुष्य शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ७१ ॥

न विगर्ह्य कथां कुर्याद्बहिर्माल्यं न धारयेत् ।
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥

विवादके आग्रहसे कथाको न कहै, वस्त्रोंके वाहर मालाको धारण न करै और बैल गायकी पीठपर बैठकर न जाय, यह सब प्रकारसे निन्दित है ॥७२॥

अद्वारेण च नातीयाद्ग्रामं वा वेश्म वावृतम् ।
रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥

जिसमें परकोटा बनाहो ऐसे गाँवमें वा घरमें रास्ता छोड़ लाँघकर न जाय और रात्रिको वृक्षकी जड़ोंको दूरसे त्याग दे, अर्थात् वृक्षकी जड़केपास न रहै ॥ ७३ ॥

नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् ।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥

कभी पाँसोंसे न खेले और न कभी आप अपने हाथोंसे जूते ले चले, न कभी खाटपर बैठकर भोजन करै और हाथपर खानेकी वस्तु धरकर और अन्नके पात्रको आसनपर धरकर भी न खाय ॥ ७४ ॥

सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ ।
न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥ ७५ ॥

सूर्यास्त होनेपर तिलकी कोई वस्तु न खाय, पलँग आदिपर नंगा न सोवै और झूठे मुंह कहीं न जाय ॥ ७५ ॥

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

पांव धोकर भोजन करै, धुले पांव न सोवे, जो कोई पांव धोकर भोजन करता है उसकी दीर्घ आयु होती है ॥ ७६ ॥

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित् ।
न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥ ७७ ॥

जो जगह (वृक्षलता आदिके कारण) न दीखै और जहांका मार्ग कठिन हो वहां कभी न जाय । विष्ठा मूत्रको न देखे और न भुजाओंसे नदीमें तैरै ॥७७॥

अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः ।
न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ ७८ ॥

बड़ी आयुतक जीनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह बाल, भस्म, हड्डी, ठींकरे, कपासकी लकड़ी और भुस इनपर न बैठै ॥ ७८ ॥

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७९ ॥

पतित, चांडाल, पुल्कस[1], मुर्ख, अभिमानी, अन्त्यज (धोबी आदि) और अन्त्यावसायी[2] इनके साथ न बैठैं ॥ ७९ ॥

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् ।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥ ८० ॥

शूद्रको उपदेश, झूठन और हवनसे बचा हुआ शाकल्य न दे, और इसे धर्मका और व्रतका भी उपदेश न करना चाहिये ॥ ८० ॥

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ।
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥ ८१ ॥

जो कोई शूद्रसे धर्म कहता है और उसे व्रतका उपदेश करता है वह उसीके साथ असंवृत नाम नरकमें गिरता है ॥ ८१ ॥

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥ ८२ ॥

दोनों हाथोंसे अपना शिर न खुजावे, झूठे मुंह शिरको न छुये, और विना शिरके धोए स्नान न करें ॥ ८२ ॥

केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् ।
शिरःस्नातश्च तैलेन नाङ्गं किंचिदपि स्पृशेत् ॥ ८३ ॥

(क्रोधमें आकर) किसीके बाल न पकड़े और शिरोंपर चोट भी न मारें, और मनुष्यको चाहिये कि शिरमें तेल लगाकर स्नानके पीछे फिर किसी अंगमें तेलका स्पर्श न करे ॥ ८३ ॥

न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः ।
सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ॥ ८४ ॥

जो क्षत्रीसे उत्पन्न न हो उस राजाका दान न ले, और कसाई, तेली, कलवार और भेस बदलकर जीविका करनेवाले इनका भी दान न ले ॥ ८४ ॥

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ ८५ ॥

एक तेली दश हिसकोंके समान है, एक कलार दश तेलियोंके समान हैं, एक भेस बदलनेवाला (बहुरूपिया) दश कलारोंके समान है, और एक राजा दश बहुरूपियोंके समान है ॥ ८५ ॥

दश सूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥ ८६ ॥

---

१ जो निषादसे शूद्रामें उत्पन्न हो. २ जो निषादकी स्त्रीमें चांडालसे उत्पन्न हो-यह बात आगे मनुजी कहेंगे—

जो कसाई दश हजार हत्या करता है अक्षत्रिय राजा उसके बराबर कहा गया है, इसलिये उसका दान बड़ा भयानक है ॥ ८६ ॥

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥

जो कोई, लोभी और शास्त्रको उल्लंघन करनेवाले राजासे दान लेता है वह क्रमसे इन आगे कहे इक्कीस नरकोंको जाता है ॥ ८७ ॥

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥

तामिस्र, अंधतामिस्र, महारौरव, रौरव, कालसूत्रनरक, महानरक ॥ ८८ ॥

संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् ।
संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम् ॥ ८९ ॥
लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् ।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥

संजीवन, महावीचि, तपन, संप्रतापन, संहात, काकोल, कुड्मल, प्रतिमूर्तिक, ॥ ८९ ॥ लोहशंकु, ऋजीष, पन्था, शाल्मली, वैतरणी नदी, असिपत्रवन और लोहदारक ॥ ९० ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः ॥ ९१ ॥

यही जानकर परलोकमें कल्याणकी इच्छासे विद्वान् ब्रह्मवादी ब्राह्मण राजासे दान नहीं लेते हैं ॥ ९१ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥ ९२ ॥

ब्राह्म मुहूर्तमें (अर्थात् रात्रिके पिछले प्रहरमें) जागना चाहिये और धर्म अर्थके उपार्जनके हेतु शरीरके क्लेशोंका और वेदके तत्त्वार्थ अर्थात् ब्रह्मका वारंवार चिंतवन करना चाहिये ॥ ९२ ॥

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥ ९३ ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि (शय्यासे) उठकर, (मलमूत्रादि) आवश्यक कामसे शुद्ध और सावधान होकर प्रातःसंध्या और सायंसंध्याको अपने अपने कालमें हुत देरतक गायत्रीका जप करता रहै ॥ ९३ ॥

ऋषयो दीर्घसंध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥
श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि ।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥ ९५ ॥

ऋषियोंने बहुत कालतक संध्या करनेके कारण, बड़ी आयु, बुद्धि, यश, कीर्ति और ब्रह्मतेजको पाया ॥ ९४ ॥ ब्राह्मणको चाहिये कि श्रावण वा भाद्रपदकी पूर्णिमाको विधिपूर्वक उपाकर्म (ऋषितर्पण) करके साढ़ेचार महीनेतक सावधान होकर वेद पढ़ै ॥ ९५ ॥

पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः ।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥
यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः ।
विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥

ब्राह्मण पुष्य नक्षत्रमें वा माघशुक्ल पड़वाको पूर्वाह्णके समय गाँवके बाहर वेदोंका उत्सर्जन करै ॥ ९६ ॥ इसप्रकार वेदमें कहेहुए वेदोत्सर्गको शास्त्रविधिसे गाँवके बाहर करके पक्षिणी रात्रितक (अर्थात् उत्सर्गका दिन, अगला दिन और इनके बीचकी रात्रि इस समयतक) अथवा उत्सर्गके दिन रातमें विश्राम करै अर्थात् वेदको न पढ़ै ॥ ९७ ॥

अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥

इसके अनंतर शुक्लपक्षमें नियमसे वेदोंको पढ़ै और कृष्णपक्षमें वेदोंके संपूर्ण (व्याकरणादि) अंगोंको अच्छी भांति पढ़ै ॥ ९८ ॥

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसंनिधौ ।
न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥ ९९ ॥
यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् ।
ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥ १०० ॥

जिसमें स्वरवर्ण स्पष्ट नहीं इसभांति न पढ़ै, और शूद्रके समीप भी न पढ़ै और रात्रिके पिछले प्रहरमें वेद पढ़कर थका हुआ मनुष्य फिर न सोवै ॥ ९९ ॥ ब्राह्मणको चाहिये कि सावधान होकर शास्त्रविधिसे नित्य गायत्री आदि छन्दोंसहित मंत्रोंको पढ़ै और स्वस्थता हो तो ब्राह्मणभाग और छंदोंसहित सब मंत्रोंका पाठ करै ॥ १०० ॥

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत् ।
अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥ १०१ ॥
कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने ।
एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥ १०२ ॥

वेद पढ़नेवाला शिष्य और शिष्योंको विधिपूर्वक पढ़ानेवाला गुरु, इन आगेकी अनध्यायोंको नित्य त्याग दे ॥ १०१ ॥ वर्षाऋतुमें रात्रिके समय जिसका शब्द कानोंको सुनाई दे और दिनमें पृथ्वीकी धूलिको उड़ावे जो ऐसी वायु चले तो अध्ययनकी विधिके ज्ञाता इनको भी अनध्याय कहते हैं ॥१०२॥

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च संप्लवे ।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥ १०३ ॥

जो विजली कड़कती हो, गर्ज २ कर वर्षा होती हो और बड़ी २ उल्काएं इधरउधर गिरती हों तो भी मनुजीने उस समयसे दूसरे दिनके उसी समयतक अनध्याय कही है ॥ १०३ ॥

एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु ।
तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥

हवनके लिये अग्निके प्रज्वलित होते समय जो इन (विजली आदि) को उत्पन्न हुआ जाने तो वर्षाऋतुमें अनध्याय माने, और जो वर्षाऋतु न हो तो मेघके दर्शनसेही अनध्याय माने ॥ १०४ ॥

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने ।
एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि ॥ १०५ ॥

आकाशमें जो उत्पातका शब्द हो तथा भूकंप और ग्रहोंका युद्ध हो तो इन अनध्यायोंको वर्षाऋतुमें भी आकालिक जाने ॥ १०५ ॥

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने ।
सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा ॥ १०६ ॥

होमकी अग्नि प्रज्वलित होनेके समय जो प्रातःसन्ध्यामें विजली कड़के, मेघ गर्जे वा वर्षा हो तो सूर्यास्ततक अनध्याय होती है, और जो रात्रिमें अग्नि प्रज्वलितके समय विजली आदि हो तो दिनके समान रात्रिमेंभी तारे दीखने तक अनध्याय होती है ॥ १०६ ॥

नित्यानध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च ।
धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥

जो कोई धर्ममें निपुण होंना चाहते हैं उनकी, बुरी गंध आनेपर ग्राम और नगरमें नित्य अनध्याय होती है ॥ १०७ ॥

अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च संनिधौ ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

जहां मुर्दा पड़ा हो ऐसे ग्राममें, शूद्रके पास, जहां रोनेका शब्द होता हो और जहां बहुतसे मनुष्योंका समूह हो वहां अनध्याय होती है ॥ १०८ ॥

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने ।
उच्छिष्टः श्राद्धभुक्चैव मनसापि न चिन्तयेत् ॥ १०९ ॥

जलमें, आधीरातको, विष्ठामूत्रके त्यागके समय, झूठेमुंह और श्राद्धमें भोजन करके मनसे भी वेदका स्मरण न करना चाहिये ॥ १०९ ॥

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् ।
त्र्यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥ ११० ॥

विद्वान् ब्राह्मण एकोद्दिष्ट श्राद्धके न्यौतेको मानकर और राजाके (पुत्रजन्म-आदिके) तथा (सूर्यचन्द्रके)ग्रहणके सूतकमें तीन दिनतक वेद न पढ़ै ॥११०॥

यावदेकानुदिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति।
विप्रस्य विदुषो देहे तावद्ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥ १११ ॥

जबतक शास्त्रज्ञ ब्राह्मणके शरीरमें एकोद्दिष्टश्राद्धकी गंध वा लेपन लगा रहै तबतक उसे वेद नहीं पढ़ना चाहिये ॥ १११ ॥

शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम्।
नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥ ११२ ॥

शय्यापर सोता हुआ, आसनपर पैर फैलाकर, दोनों घुटनोंको मोड़कर तथा मांस और सूतक के अन्नको खाकर वेद नहीं पढ़ना चाहिये ॥ ११२ ॥

नीहारे बाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः।
अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥ ११३ ॥

कोहिरेके समय, बाणके शब्द होते समय, दोनों सन्ध्याओंमें, अमावास्या, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अष्टमीके दिनभी वेद न पढ़ना चाहिये ॥ ११३ ॥

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी।
ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥ ११४ ॥

अमावस्या गुरुको, चौदस शिष्यको और पूर्णिमा तथा अष्टमी वेदको नष्ट करती हैं इसलिये वेद पठनमें उनको त्याग दे ॥ ११४ ॥

पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा।
श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद्द्विजः ॥ ११५ ॥

धूलि बरसते समय, दिशाओंके दाहमें, गीदड़, कुत्ता, गधा और ऊँट इनके शब्द करते समय और जहां ये बहुतसे इकट्ठे हों वहां ब्राह्मणको वेद नहीं पढ़ना चाहिये ॥ ११५ ॥

नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा।
वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ ११६ ॥

श्मशानके पास, ग्रामके पास, गोशालामें, मैथुनका वस्त्र धारण किये और श्राद्धका पदार्थ ग्रहण करके वेद नहीं पढ़ना चाहिये ॥ ११६ ॥

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवेत्।
तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः ॥ ११७ ॥

प्राणी अर्थात् गौ आदि वा अप्राणी अर्थात् वस्त्र आदि जो कुछ श्राद्धका हो उसे पाकर भी अनध्याय होता है क्योंकि मनु आदिकोंने ब्राह्मणका हाथही मुख कहा है ॥ ११७ ॥

चोरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते।
आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ॥ ११८ ॥

ग्राममें चोरोंका उपद्रव होनेके समय, अग्निदाहके समय और (भूमि आकाशके) सब अद्भुत पदार्थोंके देखनेके समय आकालिक अनध्याय जानना चाहिये ॥ ११८ ॥

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् ।
अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥ ११९ ॥

उपाकर्ममें और उत्सर्गमें तीन रात्रिका और अगहन सुदी पूनोंके पीछे तीन अष्टमियोंमें और ऋतुओंके अंतकी रात्रियोंमें एक रात दिनका अनध्याय कहा गया है ॥ ११९ ॥

नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम् ।
न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥ १२० ॥

घोड़ा, वृक्ष, हाथी, नाव, गधा और ऊँट इनपर बैठा हुआ तथा (जल• तृणरहित) ऊसर देशमें रहकर और सवारीमें जाताहुआ मनुष्य वेद न पढ़े ॥ १२० ॥

न विवादे न कलहे न सेनायां न संगरे ।
न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके ॥ १२१ ॥

विवादमें, कलहमें, सेनामें, युद्धमें, भोजनके पीछे, अजीर्णमें, वमन करके और खट्टीडकार आनेपर वेद नहीं पढ़ना चाहिये ॥ १२१ ॥

अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम् ।
रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥ १२२ ॥

अतिथिसे विना आज्ञा लिये, वा वायुके अत्यंत चलने पर, शरीरसे लोहू निकलने पर और हथयारसे घाव होनेपर भी वेद नहीं पढ़ना चाहिये ॥ १२२ ॥

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन ।
वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥ १२३ ॥

सामवेदकी ध्वनि सुननेपर, ऋग्वेद और यजुर्वेदको कभी न पढ़े, वा एक वेदको अंततक पढ़कर और आरण्यकके एक भागको पढ़कर (उस दिन रातको) अन्य वेद न पढ़े ॥ १२३ ॥

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः ।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥ १२४ ॥

ऋग्वेदके देवता देव हैं अर्थात् उसमें देवताओंका वर्णन है, यजुर्वेदके मनुष्य हैं अर्थात् उसमें मनुष्योंका वर्णन है, और सामवेदके पितर हैं इस लिये ऋग्वेद और यजुर्वेदके सामने सामवेदकी ध्वनि अपवित्र मानी जाती है ॥ १२४ ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् ।
क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥ १२५ ॥

यही जानकर विद्वान् लोग पहिले क्रमसे तीनों वेदोंके सार ओंकार, व्याहृति और गायत्री इनका नित्य अभ्यास करके पीछे वेदको पढ़ते हैं ॥ १२५ ॥

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ।
अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

जो पढ़तेसमय पशु, मैंडक, बिलाव, कुत्ता, सांप, नौला, चूहा इनमेंसे कोई गुरुशिष्यके बीचमें होकर निकल जाय तो रात्रिदिनका अनध्याय जानना चाहिये ॥ १२६ ॥

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥ १२७ ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि पढ़नेकी अशुद्ध भूमि और अपनी अपवित्र देह इन दोनोंही अनध्यायोंका यत्नसे नित्य त्याग करै, अर्थात् अशुद्ध भूमिमें बैठकर और अपवित्र देहसे वेद न पढ़ै ॥ १२७ ॥

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ १२८ ॥

स्नातक द्विजको चाहिये कि अमावास्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशीको स्त्रीके ऋतुकालके समय भी सदा ब्रह्मचर्यसे रहै, अर्थात् स्त्रीके साथ संसर्ग न करै ॥ १२८ ॥

न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि ।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥ १२९ ॥

भोजनके पीछे, रोगी होनेपर, आधी रातको और बहुतसे वस्त्र पहिरकर सदा स्नान न करै, और जिस तालाव की थाह न जानी हो उसमें भी स्नान न करै ॥ १२९ ॥

देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।
नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥ १३० ॥

देवमूर्तियोंकी, गुरुकी, राजाकी, स्नातककी, आचार्यकी, कपिला गौकी और यज्ञमें दीक्षितकी छायाको जान बूझकर उल्लंघन न करै ॥ १३० ॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् ।
संध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥

दिनके मध्यमें, अर्धरात्रिमें और जिसमें मांस बना हो ऐसे श्राद्धमें खाकर, और दोनों संध्याओंमें चौराहेपर न जाय ॥ १३१ ॥

उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च ।
श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥ १३२ ॥

उवटनेका मल, स्नानका जल, विष्ठा, मूत्र, लोहू, खकार, थूंक और वमन इनके पास जान बूझकर न वैठै ॥ १३२ ॥

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः ।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥

शत्रु, शत्रुका हिमायती, अधर्मी, चोर और पराई स्त्री इनसे मेल न रक्खै ॥ १३३ ॥

न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

इस संसारमें पुरुषकी आयु घटानेवाला ऐसा कोई कर्म नहीं है कि जैसा परस्त्रीगमन है ॥ १३४ ॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् ।
नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥ १३५ ॥

अपने प्रतापको चाहनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह क्षत्री, सर्प और विद्यावान् ब्राह्मण इन्हैं दीन समझकर इनका कभी अपमान न करै ॥ १३५ ॥

एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् ।
तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ १३६ ॥

ये तीनों अपमानित होनेसे पुरुषको भस्म कर देते हैं इसलिये बुद्धिमान्को चाहिये कि इन तीनोंका कभी अपमान न करै ॥ १३६ ॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ १३७ ॥

धनका प्रयत्न करनेपर यदि धन न मिलै तो पहिली असंपत्तियोंसे अपना अपमान न करै कि "मैं बड़ा मंदभाग्य हूं" और लक्ष्मीको दुर्लभ न जानकर मरणपर्यंत उसके पानेका उद्योग करता रहै ॥ १३७ ॥

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

ऐसी सत्य बात बोले जो प्यारी लगे, और जो सत्य तो होय और प्यारी न लगे ऐसी बात न कहै, और जो प्यारी बात झूठ हो तो उसे कहै ही नहीं, यही सनातनका धर्म है ॥ १३८ ॥

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥ १३९ ॥

किसीके बुरे कामको भी अच्छा ही अच्छा कहै, कोरा वैर और झगड़ा किसीके साथ न करै ॥ १३९ ॥

नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यंदिने स्थिते ।
नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ॥ १४० ॥

न बहुत सबेरे, न बहुत साँझको और न बीचोंबीच मध्यान्हसमय, विना जाने हुये मनुष्यके साथ, शूद्रोंके साथ और अकेला न जाय ॥ १४० ॥

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान् ।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥

हीन अंगवाले, अधिक अंगवाले, विद्याहीन, उमरमें बड़े, रूप और धन रहित तथा जातिहीन इनपर आक्षेप न करना चाहिये ॥ १४१ ॥

न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान् ।
न चापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि ॥ १४२ ॥

झूठे मुंहवाला ब्राह्मण आपने हाथसे गौ ब्राह्मण और अग्निका स्पर्श न करै, और अपवित्र होकर अच्छी दशामें भी आकाशमें सूर्यादि नक्षत्रोंको न देखै ॥ १४२ ॥

स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् ।
गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥ १४३ ॥

अशुद्ध ब्राह्मण इन गौ आदिका स्पर्श करके प्राणोंका अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोंका, सब शरीर और नाभिका अपनी हथेलीमें जल लेकर स्पर्श करै ॥ १४३ ॥

अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः ।
रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥ १४४ ॥

आरोग्य दशामें विना प्रयोजन अपनी इन्द्रियोंको न छुए, और सब गुप्त जगहके रोमोंको भी न छुए ॥ १४४ ॥

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः ।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥ १४५ ॥

सदा गुरुसेवा आदि मंगल कार्यमें लगा रहै, बाहर और भीतरसे पवित्र और जितेन्द्री रहै, और आलस्यको छोड़कर सदा गायत्रीका जप और अग्निमें हवन करै ॥ १४५ ॥

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥

जो मंगलदायक आचरणसे रहते हैं, नित्य अपनेको पवित्र रखते हैं और जप तथा हवन करते हैं ऐसे मनुष्योंको कोई उपद्रव नहीं होता है ॥ १४६ ॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥

सावधान होकर समयपर नित्य वेदका अभ्यास करता रहै, क्योंकि वेदका अभ्यास ब्राह्मणका परम धर्म और अन्य कार्य उपधर्म कहा गया है ॥ १४७ ॥

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ १४८ ॥

निरंतर वेदका अभ्यास, पवित्रता तप और प्राणियोंके अद्रोहसे मनुष्य पूर्वजन्मकी जातिका स्मरण करता है ॥ १४८ ॥

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥

पूर्वजन्मकी जातिको स्मरण करता हुआ फिर भी वेदकाही अभ्यास करै क्योंकि वेदके निरंतर अभ्याससे अनंत सुख अर्थात् मोक्ष पाता है ॥ १४९ ॥

सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः।
पितृंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥ १५० ॥

पर्वमें अर्थात् अमावास्या और पूर्णिमाको गायत्री जिनका देवता है ऐसे होम और (अनिष्ट दूर करनेके लिये) शांति–होम नित्य करै, और अगहन सुदी पूर्णिमाके पीछे कृष्ण पक्षकी तीन अष्टमी और उनके पीछेकी नौमीमें पितरोंका सदा पूजन करै ॥ १५० ॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।
उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥

गृहसे दूर मलमूत्रका त्याग और पाद प्रक्षालन करना चाहिये। और झूठे अन्न और वीर्यको भी दूरही त्यागना चाहिये ॥ १५१ ॥

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम्।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥

मलत्याग, श्रृंगार, स्नान, दंतधावन, अंजन और देवताका पूजन दिनके पूर्व भागमेंही करना चाहिये ॥ १५२ ॥

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान्।
ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥

पर्वके दिन, अपनी रक्षाके लिये देवता, धार्मिक श्रेष्ठ ब्राह्मण, राजा और गुरु इनका दर्शन करने सन्मुख जाय ॥ १५३ ॥

अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम्।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥

वृद्धोंको प्रणाम करै, उनको अपना आसन बैठनेके लिये दे, उनके सामने हाथ जोड़कर बैठे, और जब वे जांय तब उनके पीछे २ जाय ॥ १५४ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १५५ ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि सावधान होकर, अच्छे प्रकारसे श्रुति और स्मृतिमें कहे गये अपने कर्मोंमें मुख्य तथा धर्मकी जड़ ऐसे सदाचारको करै ॥ १५५ ॥

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥

मनुष्य, सदाचारसेही आयु, योग्य संतान और अक्षय धनको पाता है, और सदाचार बुरे फलको नाश करता है ॥ १५६ ॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १५७ ॥

दुराचारी पुरुष लोकमें निंदित, सदा दुःखभागी, रोगी और अल्पायु होता है ॥ १५७ ॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥

सब सुन्दर लक्षणोंसे रहित भी पुरुष जो सदाचारी और श्रद्धावान् है और दूसरोंको दोष नही लगाता वह सौ वर्ष जीता है ॥ १५८ ॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५९ ॥

जो जो कर्म पराये वश है उसे यत्नपूर्वक त्याग दे, और जो जो अपने आधीन हो उसे यत्नपूर्वक करै ॥ १५९ ॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥

पराये वशका काम सब दुःखरूप है और अपने वशका सब सुखरूप है, यह सुख दुःखका लक्षण संक्षेपसे जानना चाहिये ॥ १६० ॥

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ १६१ ॥

जिस कर्मके करनेमें मनुष्यके अंतःकरणको संतोष हो उसे बड़े यत्नसे करै और जिससे संतोष न हो उसे त्याग देना चाहिये ॥ १६१ ॥

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् ।
न हिंस्याद्ब्राह्मणान्गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥ १६२ ॥

वेद पढ़ानेवाला, वेदकी व्याख्या करनेवाला, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण, गौ और सब तपस्वी इनके प्रतिकूल आचरण न करै ॥ १६२ ॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥ १६३ ॥

नास्तिकता, वेदकी निन्दा, देवताओंकी बुराई, द्वेष, पाखंड, घमंड, क्रोध और क्रूरता इनको त्याग दे ॥ १६३ ॥

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत् ।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ ॥ १६४ ॥

पुत्र वा शिष्यको छोड़ दूसरेपर दंड न उठावै । क्रोधित होने पर भी दूसरेको दंड न मारै, केवल पुत्र और शिष्यको शिक्षाके लिये ताड़ना करै ॥ १६४ ॥

ब्राह्मणायावगूर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया ।
शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते ॥ १६५ ॥

द्विजाति भी ब्राह्मणको मारनेकी इच्छाकर उसपर दंड उठानेसेही तामिस्र नरकमें सौ वर्षतक भ्रमता है ॥ १६५ ॥

ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् ।
एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥ १६६ ॥

क्रोधसे जान बूझकर जो ब्राह्मणको तिनकेसे भी मारता है वह इक्कीस जन्म तक (कुत्ताआदि) पापयोनियोंमें जन्म लेता है ॥ १६६ ॥

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः ।
दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः ॥ १६७ ॥

युद्ध न करनेवाले ब्राह्मणके शरीरसे जो पुरुष विनाकारण लोहू गिराता है वह मरकर उस मूर्खतासे परलोकमें बड़ा दुःख पाता है ॥ १६७ ॥

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतलात् ।
तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते ॥ १६८ ॥
न कदाचिद्द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि ।
न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसृक् ॥ १६९ ॥

पृथ्वीतलमें पड़ेहुए ब्राह्मणके रुधिरसे धूलिके जितने परमाणु भीगते हैं उतनेही वर्ष रुधिर बहानेवालेको अन्य (कुत्ता गीदड़ आदि) भक्षण करते हैं ॥ १६८ ॥ इसलिये विद्वान् पुरुष ब्राह्मणके ऊपर कदापि प्रहार न करै । तिनकेसे भी न मारे और शरीरसे लोहू न गिरावै ॥ १६९ ॥

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७० ॥

जो मनुष्य अधर्मी है, जिसका झूठ बोलनाही धन है, जिसकी सदा हिंसामें प्रीति है वह संसारमें सुख नहीं पाता है ॥ १७० ॥

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥ १७१ ॥

पापी अधर्मियोंकी शीघ्रही बुरी गति होती है ऐसा समझकर पुरुषको चाहिये कि धर्मसे दुःख पाता हुआ भी अधर्ममें मन न लगावै ॥ १७१ ॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १७२ ॥

जैसे पृथ्वी शीघ्र फल नहीं देती वैसेही संसारमें किया हुआ अधर्म तत्काल फल नहीं देता है, किन्तु किया हुआ अधर्म करनेवालेको धीरे २ जड़ मूलसे नष्ट कर देता है ॥ १७२ ॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥

जो अधर्म अपने ऊपर फल नहीं करता तो पुत्रोंपर करता है, जो पुत्रोंपर नहीं तो पौत्रोंपर करता है; बात यह है, कि किया हुआ अधर्म कर्ताको विना फल दिये नहीं छोड़ता ॥ १७३ ॥

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥

अधर्मी पहिले अधर्मसे बढ़ता है, फिर उससे अपना भला देखता है, फिर शत्रुओंको जीतता है, फिर जड़सहित नाश हो जाता है ॥ १७४ ॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा ।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ १७५ ॥

सत्य, धर्म, सदाचार और पवित्रता इनमें सदा प्रीति करै और शिष्योंको सदा धर्मसे शिक्षा दे, तथा वाणी, भुजा और पेटका संयम करै, अर्थात् वाणीसे सत्य बोले, भुजासे किसीको न मारे और अल्प भोजन करै ॥ १७५ ॥

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६ ॥

जो धन और काम धर्मसे रहित हों (जैसे चोरीका धन और पर्वके दिन स्त्रीसंगम) उनको त्याग दे और जिसमें आगेको सुख न हो ऐसे धर्मको भी त्याग दे (जैसे अपने जीतेजी सब द्रव्य पुण्य कर देना), और जो जगतमें निन्दित काम है उसे भी त्याग देना चाहिये ॥ १७६ ॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः ।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥ ७७ ॥

हाथ और पैरोंसे चपलता न करै (अर्थात् वृथा किसीकी वस्तु हाथसे न छीने और पैरोंसे वृथा इधर उधर न डोले) और नेत्र चपल भी न हो, अर्थात् पराई स्त्री आदिको न देखे) और वाक्‌चपल भी न बनै (अर्थात् किसीसे कठोर और बुरा वचन न कहै) और दूसरेकी बुराईमें कभी मन न लगावै ॥ १७७ ॥

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ १७८ ॥

(यदि शास्त्रोक्त मार्ग बहुतसे दीखें तो) जिस मार्गसे उसके बापदादा गये हैं उसी मार्गसे आप जाय अर्थात् जो कुछ वे करते आए हैं वही आप भी करै, परंतु वह सज्जनोंका मार्ग हो (चोरी छिनाला नहो), उस मार्गसे जानेवाला अधर्मसे भी दुखी नहीं होता ॥ १७८ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः ॥ १७९ ॥

ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, आश्रित, बालक, बूढ़ा, रोगी, वैद्य, ज्ञातिजन, संबन्धी, बांधव ॥ १७९ ॥

मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥

माता, पिता, बहन, भाई, पुत्र, स्त्री, बेटी और नौकर चाकर इनके साथ विवाद न करै ॥ १८० ॥

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वांल्लोकानिमान्गृही ॥ १८१ ॥

इनके साथ झगड़ोंको न कर गृहस्थी सब पापोंसे छूट जाता है, और इनको जीतकर अर्थात् इनके साथ विवादको छोड़कर आगेके सब लोकोंको जीतता है ॥ १८१ ॥

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः ।
अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥ १८२ ॥

ब्रह्मलोकका स्वामी आचार्य है, प्रजापतिलोकका स्वामी पिता है, इन्द्रलोकका स्वामी अतिथि है और देवलोकके स्वामी ऋत्विज हैं ॥ १८२ ॥

जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः ।
संबन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥

अप्सरालोककी बहन तथा पुत्र वधू अधिष्ठात्री हैं, वैश्वदेवलोकके बांधव हैं, वरुणलोकके संबन्धी हैं और भूलोकके माता और मामा स्वामी हैं (अर्थात् इनकी प्रसन्नतासे ये लोक मिलते हैं) ॥ १८३ ॥

आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः ।
भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥ १८४ ॥

आकाशके स्वामी, बालक, बूढ़े, दुर्बल और रोगी जानने चाहियें, जेठा भाई पिताके समान और स्त्री पुत्र अपने शरीरके समान हैं (इनके साथ विवाद कैसे हो सक्ता है) ॥ १८४ ॥

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा ॥ १८५ ॥

अपना दासवर्ग अपनी छाया है, और अपनी कन्या परम कृपाका पात्र है, इसलिये ये चाहैं जितनी निंदा करैं, इनका बुरा न मान कर इनका सहन करै, क्रोध न करै ॥ १८५ ॥

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ १८६ ॥

दानसे ब्राह्मणका ब्राह्मतेज शीघ्र नष्ट हो जाता है इसलिये दान लेनेमें (तप आदिके कारण) समर्थ होनेपर भी उसके लेनेकी इच्छा त्याग दे ॥१८६॥

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे ।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥

बुद्धिमान्‌को चाहिये कि द्रव्योंके दान लेनेमें धर्मकी विधिको विना जाने भूखसे दुःख पाता हुआ भी दान ग्रहण न करै ॥ १८७ ॥

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम् ।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ १८८ ॥

अविद्वान् ब्राह्मण, भूमि, घोड़ा, गौ, अन्न, वस्त्र, तिल और घृत इनके दान लेनेसे लकड़ीके समान भस्म हो जाता है ॥ १८८ ॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम् ।
अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥ १८९ ॥

सौना और अन्न आयुको, पृथ्वी और गौ शरीरको, घोड़ा नेत्रको, वस्त्र खालको, घी तेजको और तिल संतानको जलाते हैं ॥ १८९ ॥

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९० ॥

जो ब्राह्मण तप और विद्यासे हीन होकर दान लेनेकी इच्छा करता है वह उस दातासहित इस प्रकार नरकमें डूबता है जैसे पत्थरकी नावसे तरता हुआ पत्थर नावसहित डूबता है ॥ १९० ॥

तस्मादविद्वान्बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् ।
स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥ १९१ ॥

इस लिये मूर्ख ब्राह्मणको ऐहरे गैरे दानसे डरना चाहिये, क्योंकि मूर्ख ब्राह्मण थोड़ेसेही दानसे कीचमें फँसी गौके समान नरकमें दुख पाता है ॥१९१॥

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥

धर्मज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह वैडालव्रती, बकव्रती (१९५, १९६ श्लोकमें देखो) और वेदको न जाननेवाले ब्राह्मणको जल भी न दे ॥ १९२ ॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥

विधिपूर्वक पैदा कियागया भी धन यदि पूर्वकथित तीन प्रकारके ब्राह्मणोंको दियाजाय तो दाता और लेनेवालेके लिये परलोकमें अनर्थ करता है ॥१९३॥

तथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥

जैसे पत्थरकी नावसे जलमें तैरता हुआ मनुष्य नीचे डूबता है वैसेही मूर्ख दाता और दान लेनेवाला दोनों नरकमें डूबते हैं ॥ १९४ ॥

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः ।
बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः ॥ १९५ ॥

धर्मध्वजी (पाखंडी), सदालोभी, कपटी, जगका ठगिया, हिंसक और सबका निन्दक इसको बैडालव्रतिक जानना ॥ १९५ ॥

अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ १९६ ॥

जिसकी नीचेको दृष्टि रहै और जो निठुर, मतलबी, शठ और वृथाकी विनय दिखावै वह ब्राह्मण बकव्रतचर कहाता है ॥ १९६ ॥

ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः ।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥ १९७ ॥

जो ब्राह्मण बगुलाभगत और बैडालव्रतचर हैं वे उस पापकर्मसे अंधतामिस्र नरकमें पड़ते हैं ॥ १९७ ॥

न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन्स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥ १९८ ॥

व्रतसे पापको ढककर अर्थात् व्रतसे हमारा पाप छूट जायगा ऐसा जानकर स्त्रीशूद्रोंके सामने पाखंड करता हुआ पुरुष धर्मके बहाने पाप करके फिर व्रत न करै ॥ १९८ ॥

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः ।
छद्मनाचरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥ १९९ ॥

ब्रह्मवादी जन ऐसे ब्राह्मणोंकी परलोकमें और यहां निंदा करते हैं, और जो व्रत कपटसे कियागया है वह राक्षसोंको पहुंचता है ॥ १९९ ॥

अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति ।
स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥ २०० ॥

जो पुरुष ब्रह्मचारी तो होय नहीं परंतु ब्रह्मचारीका वेष बनाकर जीविका करै वह ब्रह्मचारियोंके पापका भागी होता है और (सर्प आदिकी) तिर्यक् योनिमें उत्पन्न होता है ॥ २०० ॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन ।
निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१ ॥

दूसरेके निपान कहिये कुआ बावड़ी तालाव आदिमें कभी स्नान नहीं करना चाहिये और जो करै तो खुदाने वालेके चौथाई पापका भागी होता है ॥ २०१ ॥

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च ।
अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥ २०२ ॥

विना आज्ञा अथवा विना दिये जो किसीके सवारी, पलंग, आसन, कूप, उद्यान और गृहका भोग करता है वह पुरुष पापके चतुर्थांशका भागी होता है ॥ २०२ ॥

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च ।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥ २०३ ॥

नदियोंमें, देवताओंके नामसे खोदे हुए तालावोंमें, छोटे २ तालावोंमें, *गर्तोंमें और झरनोंमें नित्य स्नान करै ॥ २०३ ॥

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः ।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥ २०४ ॥

बुद्धिमान् पुरुष सदा †यमोंको करै, नित्य नियमोंको न करै, क्योंकि जो यमों-को नहीं करता है और केवल ‡नियमोंको करता है वह पतित होता है ॥२०४॥

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा ।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ २०५ ॥

जिस यज्ञको अवेदपाठी आरंभ कराता है उसमें और बहुतोंको यज्ञ करानेवालेके यज्ञमें और जिसमें स्त्री और नपुंसक आहुति दें ऐसे यज्ञमें ब्राह्मणको कभी नहीं जीमना चाहिये ॥ २०५ ॥

अश्लीकमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः ।
प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ २०६ ॥

जिस यज्ञमें ये हवन करते हैं वह यज्ञ साधुओंकी लक्ष्मीका नाशक है और यह देवताओंके भी प्रतिकूल है इसलिये उसे त्याग दे ॥ २०६ ॥

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन ।
केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ २०७ ॥

उन्मत्त, क्रोधी और रोगी इनके अन्नको, और जिसमें केश और कीट पड़े हों उस अन्नको, और-जिसको जानकर पैरसे स्पर्श किया हो उस अन्नको कदाचित् भी भोजन न करै ॥ २०७ ॥

---

* जिसका विस्तार आठ हजार धनुषसे कम न हो उसे गर्त कहते हैं-चार हाथका एक धनुष होता है ।

† ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्य नम्रता, अहिंसा, चोरीका त्याग, मधुर-स्वभाव और इन्द्रियदमन ये दश यम हैं ।

‡ स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, लिंग इन्द्रियका रोकना, गुरुकी सेवा, शौच, अक्रोध और अप्रमाद ये नियम कहे हैं (इति याज्ञवल्क्यः) ।

भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया ।
पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥

बालघातकसे देखे हुए, रजस्वलासे स्पर्श किये गए, पक्षीके जूठे और कुत्तेसे छुए अन्नको भी न खाय ॥ २०८ ॥

गवा चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः ।
गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥ २०९ ॥

गायसे सूंघा गया, विशेष करके पुकार कर दिया गया, 'उघाईका, वेश्याका और पण्डित जिसकी बुराई करैं ऐसा अन्न भी न खाय ॥ २०९ ॥

स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च ।
दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च ॥ २१० ॥

चोर, गानेवाला, बढ़ई, व्याज लेनेवाला, यज्ञमें दीक्षित, कृपण और कैदी इनके अन्नको भी भक्षण नहीं करना चाहिये ॥ २१० ॥

अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च ।
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥ २११ ॥

लोकनिंदित, नपुंसक, व्यभिचारिणी, पाखंडी इनका और जो बिगड़ गया हो तथा जो बासी हो, और शूद्रका जूंठा ऐसे अन्नको भी न खाना चाहिये ॥२११॥

चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः ।
उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥ २१२ ॥

वैद्यका, व्याधका, कठोर स्वभाववालेका, जूठन खोरका, कठोर कर्म करनेवालेका, सूतिकाका, दसूठनका और भोजन करतेमें जहां कोई आचमन करले वहांका अन्न भी न खाय ॥ २१२ ॥

अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः ।
द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ॥ २१३ ॥

विना आदरके दिया गया अन्न, देवताओंके लिये नहीं बनाया गया मांस और पुत्रहीन स्त्रीका, वैरीका तथा नगरपतितका अन्न, और जिसपर किसीने छींक दिया हो ऐसा अन्न नहीं खाना चाहिये ॥ २१३ ॥

पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा ।
शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च ॥ ॥ २१४ ॥

चुगलखोर और झूठेका, यज्ञफलको बेचनेवालेका, नट और दर्जीका तथा पराये उपकारको नहीं माननेवालेका भी अन्न न खाय ॥ २१४ ॥

कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च ।
सुवर्णकर्तुर्वैणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥

लुहार, बहेलिया, नाटक खेलनेवाला, सुनार, बांसवाला और हथियार बेचनेवाला इनके अन्नको भी न खाय ॥ २१५ ॥

श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च।
रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

कुत्ते पालनेवाले, कलार, धोबी, रंगरेज, घातक और जिसके घरमें जार रहै, इनका भी अन्न न खाय ॥ २१६ ॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः ।
अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥

जो मनुष्य अपने घरमें अपनी स्त्रीके यारको देख चुपके रहते हैं, जो सब प्रकारसे स्त्रियोंके वशमें हैं उनका अन्न, और दश दिनके भीतर प्रेतका अन्न न खाय, और जिस अन्नसे मन प्रसन्न न हो उस अन्नको भी न खाना चाहिये २१७

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥ २१८ ॥

राजका अन्न तेजको, शूद्रका अन्न ब्रह्मतेजको, सुनारका अन्न उमरको और चमारका अन्न यशको हरता है ॥ २१८ ॥

कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च ।
गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥ २१९ ॥

कारीगरका अन्न संतानको और धोबीका अन्न बलको नाश करता है। धाईका और रंडीका अन्न स्वर्गादि लोकोंको नष्ट करता है ॥ २१९ ॥

पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् ।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् ॥ २२० ॥
य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः ।
तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ २२१ ॥

वैद्यका अन्न राद, व्यभिचारिणीका अन्न वीर्य, व्याजखोरका अन्न विष्टा और शस्त्र बेचनेवालेका अन्न मलके तुल्य है ॥ २२० ॥ ये और अन्य जो अभोज्यान्नवाले क्रमसे कहे हैं उनके अन्नको विद्वान् त्वचा, हड्डी और रोमके तुल्य कहते हैं ॥ २२१ ॥

भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम् ।
मत्या भुक्त्वाचरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च ॥ २२२ ॥

इसलिये इनमेंसे किसीके अन्नको विना जाने खाकर तीन दिन उपवास करै, और जानकर भक्षण करनेसे कृच्छ्रव्रत करै, और वीर्य, विष्टा और मूत्र खानेसे भी कृच्छ्र करै ॥ २२२ ॥

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः ।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ २२३ ॥

विद्वान् ब्राह्मणको चाहिये कि श्राद्धके अनधिकारी शूद्रके पक्वान्नकोभी भक्षण

न करै, और जो कहीं भोजन न मिले तो शूद्रसे एक रातके लायक कच्चा अन्न लेले ॥ २२३ ॥

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥ २२४ ॥
तान्प्रजापतिराहैत्य मा कृध्वं विषमं समम्।
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५ ॥
श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥

लोभी वेदपाठी और व्याजखोर दाता इन दोनोंके अन्नको देवताओंने विचार कर बराबर निश्चय किया है ॥ २२४ ॥ परंतु ब्रह्माजी उन देवताओंके पास जाकर बोले कि इन दोनों अन्नोंको बराबर मत समझो, क्योंकि व्याजखोर दाताका श्रद्धासे दिया अन्न पवित्र है और विना श्रद्धाके दिया गया लोभी-का अन्न निषिद्ध है ॥ २२५ ॥ सावधान होकर श्रद्धासे सदा यज्ञ करै और कूप, तालाव आदि बनवावै, क्योंकि न्यायसे आये हुए धनसे, उनके श्रद्धापूर्वक करनेसे, वे मोक्ष देते हैं ॥ २२६ ॥

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥

यज्ञ और पूर्वसंवन्धी दानधर्मको, सुपात्र ब्राह्मणको पाकर प्रसन्नतासे अपनी शक्तिके अनुसार नित्य करै ॥ २२७ ॥

यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया।
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥ २२८ ॥

मांगनेसे ईर्ष्यारहित होकर थोड़ा वहुत ही दे, क्योंकि दाताको कभी ऐसा पात्र मिल जायगा कि जो सबतरह नरकसे तार देगा ॥ २२८ ॥

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः।
तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ २२९ ॥

जलका दाता तृप्तिको, अन्नका दाता अक्षय सुखको, तिलका दाता अच्छी संतानको और दीपकका दाता अच्छे नेत्र पाता है ॥ २२९ ॥

भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः।
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥

भूमिका दाता भूमिको, सुवर्णका दाता बड़ी आयुको, घरका दाता अच्छे २ घरोंको और चांदीका दाता उत्तम रूपको पाता है ॥ २३० ॥

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः।
अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥ २३१ ॥

वस्त्रका दाता चंद्रलोकको, घोड़ेका दाता अश्विनीकुमारलोकको, वृषभका दाता अधिक लक्ष्मीको और गौका दाता सूर्यलोकको पाता है ॥ २३१ ॥

यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः ।
धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥ २३२ ॥

सवारी और पलंगका दाता स्त्रीको, अभयका दाता ऐश्वर्यको, अन्नका दाता निरंतर सुखको और वेदका दाता ब्रह्म समान गतिको पाता है ॥ २३२ ॥

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्न गोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥

जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घी इन सबके दानोंमेंसे वेदका दान सबसे उत्तम है ॥ २३३ ॥

येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति ।
तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥

मनुष्य जिस २ भावसे जो जो दान करता है उसी २ भावसे उसेही वह बड़े आदरसे पाता है ॥ २३४ ॥

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ २३५ ॥

जो आदरसे देता है और जो आदरसे दिये हुएको लेता है वे दोनों स्वर्गको जाते हैं, और इससे विपरीत करनेसे, अर्थात् निरादरसे, देने लेनेवाले नरकको जाते हैं ॥ २३५ ॥

न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम् ।
नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

तप करके आश्चर्य न करै (कि मैंने कैसा कठिन चान्द्रायण आदि व्रत किया) और यज्ञ करके झूठ न बोले, और ब्राह्मणोंसे पीड़ित होकर भी उनकी निन्दा न करै, और दान देकर अपनी बड़ाई न करै ॥ २३६ ॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥ २३७ ॥

झूठसे यज्ञ, आश्चर्य वा गर्व करनेसे तप, ब्राह्मणोंकी बुराईसे आयु, और अपनी बड़ाई करनेसे दान नष्ट हो जाता है ॥ २३७ ॥

धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥

सब प्राणियोंको पीड़ा नहीं देता हुआ, परलोककी सहायताके लिये धीरे २ इसप्रकार धर्मका संचय करै कि जैसे दीमक वामीको संचय कर लेती हैं ॥ २३८ ॥

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥

पिता, माता, पुत्र, स्त्री और जातिवाले ये कोई परलोकमें सहायता नहीं करते, केवल एक धर्मही सहायक होता है (इसलिये धर्मको कभी न त्यागै) ॥२३९॥

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥

प्राणी अकेलाही उत्पन्न होता है अकेलाही मरता है और अकेलाही पुण्य तथा अकेलाही पाप भोगता है ॥ २४० ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥

वे भाईबन्धु आदि तो काठ और मट्टीके डेलेके समान मरे शरीरको पृथ्वीमें छोड़कर उलटे लौट जाते हैं, केवल धर्मही प्राणीके पीछे २ जाता है ॥ २४१ ॥

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥

इसलिये परलोकके सहायके लिये प्रतिदिन थोड़ा २ धर्मसंचय करै, क्योंकि मनुष्य धर्मकी सहायतासे कठिन नरकादिसे तर जाता है ॥ २४२ ॥

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् ।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥ २४३ ॥

तपसे पापको नष्ट करनेवाला और धर्म में तत्पर, ऐसे देदीप्यमान ब्रह्मस्वरूप पुरुषको धर्मही शीघ्र परलोकको लेजाता है ॥ २४३ ॥

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबन्धानाचरेत्सह ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥

अपने कुलकी बड़ाई चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि सदा अच्छों अच्छों के साथ संबन्ध करै और नीचोंको त्याग दे ॥ २४४ ॥

उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन् ।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥ २४५ ॥

जो ब्राह्मण अच्छों २ से व्यवहार करता है और नीचों २ को छोड़ता है वही श्रेष्ठ गिना जाता है, इसके विपरीत करनेसे शूद्रताको प्राप्त होता है ॥ २४५ ॥

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥ २४६ ॥

कामको दृढ़तासे करनेवाला, कोमल, जाड़ा गरमी आदि सहनेवाला, क्रूर आचरणवालोंसे दूर रहनेवाला, हिंसारहित, तथा व्रत करनेवाला ब्राह्मण, दम और दानसे स्वर्गको जीत लेता है ॥ २४६ ॥

एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥ २४७ ॥

लकड़ी, जल, मूल, फल, विना मांगा अन्न, मधुः और अभयदान सबसे लेले ॥ २४७ ॥

आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् ।
मेने प्रजापतिर्ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥

जो भिक्षा अपने आप लाकर आगे धरी गई हो और किसीसे मांगी न गई हो, और देनेवालेने भी देनेकी प्रतिज्ञा पहिलेसे न करी हो ऐसी भिक्षा पाप कर्मवालेकी भी ले लेनी चाहिये, यह ब्रह्माजीकी सम्मति है ॥ २४८ ॥

नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च ।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ २४९ ॥

जो उस भिक्षाको स्वीकार नहीं करता है उसके पितर पन्द्रह वर्षतक श्राद्धके अन्नको नहीं खाते हैं, और अग्नि उसके दिये हव्यको (देवताओंके पास) नहीं पहुंचाती है ॥ २४९ ॥

शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि ।
धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्नुदेत् ॥ २५० ॥

खाट, घर, कुशा, कर्पूर आदि गंध, जल, पुष्प, मणि, दधि, धान, मछली दूध, मांस और शाक इनको नाहीं न करे ॥ २५० ॥

गुरून्भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवतातिथीन् ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥ २५१ ॥

मनुष्यको चाहिये कि (माता पिता आदि) गुरु और सेवकोंके भरण पोषणके लिये और देवता तथा अतिथिके पूजन सत्कारके लिये सबसे दान ले ले, परंतु वह धन या वस्तु अपने काममें न लावै ॥ २५१ ॥

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् ।
आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन्गृह्णीयात्साधुतः सदा ॥ २५२ ॥

जिसके मातापिता मर गए हों अथवा घरमें उनसे अलग रहता हो ऐसा ब्राह्मण अपनी आजीविकाके लिये सदा साधुजनोंसे दान ले ले ॥ २५२ ॥

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ २५३ ॥

किसान, कुलका मित्र, अहीर, दास, नाई और जो अपनेको सेवाके लिये अर्पण करदे इतने शूद्रोंके यहां अन्न खानेमें दोष नहीं है ॥ २५३ ॥

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम् ।
यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् ॥ २५४ ॥

इस शूद्रके कुलशीलकी जैसी अवस्था हो, जो किया चाहता हो, और जैसे इस ब्राह्मणकी सेवा करनी हो इन सब बातोंको पहिले कह दे ॥ २५४ ॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५ ॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २५६ ॥

जो पुरुष सज्जनोंको मनकी बात न बताकर कुछकी कुछ बतलाता है वह अपनी आत्माका हरनेवाला चोर है और वह जगतमें बड़ा पापी है ॥ २५५ ॥ सब पदार्थ वचनमें रहते हैं, वचनही उनकी जड़ है, और वे वचनसेही निकलते हैं; इसलिये जो मनुष्य वचनको चुरावै अर्थात् झूठ बोले वह मनुष्य सब वस्तुओंका चुरानेवाला है ॥ २५६ ॥

महर्षिपितृदेवानां गत्वानृण्यं यथाविधि ।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः ॥ २५७ ॥

(वेदपाठसे) महर्षियोंके, (पुत्रोत्पत्तिसे) पितरोंके, और (यज्ञ करके) देवताओंके ऋणसे विधिपूर्वक छुटकर और (कुटुंबकी चिंताके भारको) पुत्रके आधीन करके तथा पुत्रादिकोंकी ममताको छोड़कर घरमें वास करै ॥ २५७ ॥

एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः ।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति ॥ २५८ ॥

और एकांतमें अकेला बैठकर अपने हितकी अर्थात् ब्रह्मभावकी चिंता करै क्योंकि अकेला चिन्ता करता हुआ पुरुष मोक्षको पाता है ॥ २५८ ॥

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती ।
स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २५९ ॥

गृहस्थी ब्राह्मणकी यह नित्यकी वृत्ति कही है और सतोगुणकी वृद्धि करनेवाला श्रेष्ठ स्नातकके व्रतका विधान कहा है ॥ २५९ ॥

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित् ।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

जो वेदज्ञ ब्राह्मण इस प्रकार शास्त्रमें कही हुई जीविका निभाता है वह सदा पापरहित होकर ब्रह्मलोकमें आदर पाता है ॥ २६० ॥

पण्डित रामेश्वरभट्टकृत सरलाटीकासहित मनुस्मृतिका
चौथा अध्याय समाप्त हुआ । शुभम् ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् ।
इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥

ऋषिलोगोंने इस प्रकार पूर्वकथित स्नातक गृहस्थोंके धर्म सुनकर अग्निसे उत्पन्न महात्मा भृगुजीसे पूछा ॥ १ ॥

एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ।
कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥

हे प्रभो ! शास्त्रकथित अपने धर्मोंको करनेवाले और वेदशास्त्र जाननेवाले ब्राह्मणोंकी (अल्पावस्थामें ही) कैसे मृत्यु हो जाती है ॥ २ ॥

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः ।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३ ॥

धर्मात्मा, मनुपुत्र भृगुजी महर्षियोंसे कहने लगे कि जिस पापसे मृत्यु ब्राह्मणोंको नष्ट करना चाहती है उसे सुनो ॥ ३ ॥

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥

वेदोंका अभ्यास न करनेसे, आचार छोड़देनेसे, आलस्यसे और अन्नके दोषसे, मृत्यु ब्राह्मणोंको मारना चाहती है ॥ ४ ॥

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ॥ ५ ॥

लहसन, गाजर, प्याज, छत्राक (कुम्हड़ा) और अशुद्ध जगहमें उत्पन्न हुए अन्न शाक आदि द्विजातियोंको नहीं खाने चाहियें ॥ ५ ॥

लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृश्चनप्रभवांस्तथा ।
शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

वृक्षका लाल गोंद या वृक्षके काटनेसे निकला हुआ गोंद, लहसौड़े फल और गौकी पेवसी इनको यत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये ॥ ६ ॥

वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च ।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥ ७ ॥

वृथा कृसर (जो अपनेही लिये तिल मिलाकर चावल पकाए जाँय, देवताओंके लिये नहीं) मोहनभोग, खीर, पुए, अनुपाकृत मांस (अर्थात् ऐसे पशुका मांस जिसका मंत्रोंसे स्पर्श नहीं हुआ हो) तथा जिस पदार्थका देवताके अर्थ भोग न लग चुकाहो, और होमसे पहिलेकी हवि इनको त्याग दे ॥७॥

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ।
आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ ८ ॥

व्याई हुई गौके पहिले दस दिनका, ऊंटनीका, घोड़ीका, भेड़का, व जो गौ बैलको चाहती हो वा जिसका बच्चा मरगया हो उस गौका दूध भी त्याग देना चाहिये ॥ ८ ॥

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना ।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ ९ ॥

भैंसको छोड़कर वनके सब दुधारू पशुओंका दूध, और स्त्रीका दूध, और कांजी इनका पीना भी वर्जित है ॥ ९ ॥

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम् ।
यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ १० ॥

शुक्तोंमें (अर्थात् कांजीके पदार्थोंमें) दही और दहीसे उत्पन्न हुए छाछ, मक्खन आदि खाने योग्य हैं, और जो शुक्त सुन्दर पुष्प मूलफलोंसे उत्पन्न होते हैं वे भी खाने योग्य नहीं हैं ॥ १० ॥

क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः ।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत् ॥ ११ ॥

सब कच्चे मांसको खानेवाले (गृध्रआदि) और ग्राममें रहनेवाले (कबूतर आदि) पक्षी और नहीं कहेहुए एक खुरवाले (घोड़े आदि) और टटीरी इनको भी त्याग देना चाहिये ॥ ११ ॥

कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम् ।
सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ १२ ॥

चिड़िया, प्लव नामपक्षी, हंस, चकवा, गांवका मुरगा, सारस, रज्जुवाल, जलकाक, तोता और मैना इनको भी त्याग दे ॥ १२ ॥

प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।
निमज्जतश्च मत्स्यादाञ्शौनं वल्लूरमेव च ॥ १३ ॥
बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम् ।
मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ १४ ॥

चौंचसे खानेवाले, जिनके पैर झिल्लीसे जुड़े हो, कोयष्टि–(टटीरी), नखोंसे बखेरकर खानेवाले और जलमें गोता लेकर मछलियोंको खानेवाले इनको और जहां पशु मारे जायं वहांका मांस और सूखा मांस इन सबको भी त्याग दे ॥ १३ ॥ बगुला, बत्तक, द्रोणकाक, खंजन, मछलियोंको खानेवाले (नक्र आदि) विष्टा खानेवाले शूकर और सब प्रकारके मत्स्य आदि इनको भी त्याग दे ॥ १४ ॥

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते ।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

जो जिसका मांस खाता है वह उसके मांसका खानेवाला कहाता है, मछ-

लीके मांसोंका खानेवाला सब मांसोंका खानेवाला होता है इसलिये मछलियोंको त्याग देना चाहिये ॥ १५ ॥

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।
राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥ १६ ॥

हव्य और कव्यमें निवेदित पाठीन, रोहित, राजीव और सिंहतुंड और जो शल्क (छिलके) सहित हों ये भक्षणयोग्य हैं ॥ १६ ॥

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ।
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान्पञ्चनखांस्तथा ॥ १७ ॥

अकेले विचरनेवाले (सर्प आदि) को, और जो मृग वा पक्षी ऐसे हैं, जिनके नाम व जातिका निश्चय नहीं है और खानेके जीवोंमें कहे गए हैं उनको और सब वानर आदि पंचनखोंको न खाय ॥ १७ ॥

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥

सेहिया, शल्य, गोधा, गेंडा, कछुआ और खरगोश ये पांच नखोंमें, और ऊंटको छोड़कर एक ओरके दांतवाले भक्षणयोग्य कहे गए हैं ॥ १८ ॥

छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः ॥ १९ ॥

छत्राक (कुम्हड़ा), विष्ठा खानेवाला शूकर, लहसन, गांवका मुरगा, प्याज सलगम, इनको जानकर खानेसे द्विज पतित होता है ॥ १९ ॥

अमत्यैतानि षट् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ।
यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥

ऊपर कही हुई छओं वस्तुओंको विनाजाने खाकर सांतपन कृच्छ्र व यतिचान्द्रायण करै, और जो बचे (लाल गोंद आदि) उन्हें खाकर एक दिनका उपवास करै ॥ २० ॥

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥

उत्तम द्विज विना जाने खाए की शुद्धिके लिये वर्षभरमें कमसे कम एकही कृच्छ्र करै, और जानकर भोजनकी शुद्धिके लिये तो विशेष करके करै ॥ २१ ॥

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः ।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥ २२ ॥

ब्राह्मणोंको, यज्ञके लिये और स्त्री, सेवक आदिके पालनके लिये शास्त्रोक्त मृगपक्षी मारने चाहिये क्योंकि पहिले अगस्त्यजीने ऐसाही किया था ॥ २२ ॥

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ।
पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ २३ ॥

पहिले ऋषियोंके यज्ञोंमें और ब्राह्मण क्षत्रियोंके यज्ञोंमें खानेके योग्य मृग और पक्षियोंके पुरोडाश हुए थे ॥ २३ ॥

यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥ २४ ॥

अनिन्दित वासी भी भक्ष्य भोज्यको घृत आदि स्नेह वस्तु मिलाकर खाले, और जो हविका शेष वासी हो तो उसे विनाही घृत मिलाए भोजन कर ले ॥२४॥

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥ २५ ॥

घृत आदि चिकनी वस्तुसे न बना हो और बहुत कालका धरा हुआ भी जो जौ और गेहूंका पदार्थ तथा दुग्धका पदार्थ हो तो द्विजातियोंको खा लेना चाहिये ॥ २५ ॥

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥

यह द्विजातियोंका भक्ष्याभक्ष्य संपूर्ण रीतिसे कहा गया, अब इसके आगे मांसभक्षण और त्यागमें विधि कहता हूं ॥ २६ ॥

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ २७ ॥

मंत्रोंसे प्रोक्षित, ब्राह्मणोंकी कामनासे, शास्त्र विधिके अनुसार और गुरुकी आज्ञासे, प्राणोंके संकटसमय मांसभक्षण करले ॥ २७ ॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥

ब्रह्माजीने इस सबको जीवका अन्न बनाया है, और सब स्थावर (व्रीहि आदि) और जंगम (पशु आदि) जीवका भोजन-ही है ॥ २८ ॥

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः ।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ २९ ॥

मृग आदिकोंका तृणादिक, डाढ़वालोंका डाढ़रहित (मृगविशेष), हाथ वालोंका हस्तहीन (मछली आदि) तथा सिंह आदि शूरोंके (हाथी आदि) डरपोक, ये अन्न ही हैं ॥ २९ ॥

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥ ३० ॥

खानेवाला मनुष्य जो खानेयोग्य प्राणियोंको नित्यप्रति भी खाय तो दूषित नहीं होता, क्योंकि खानेके पदार्थ और खानेवाले सब प्राणी ब्रह्माजीने ही रचे हैं ३०

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३१ ॥

यज्ञके लिये मांस खाना दैवविधि कही गई है; शरीरपुष्टिके लिये मांस-खाना राक्षसविधि कही है ॥ ३१ ॥

क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा ।
देवान्पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥ ३२ ॥

मोल लेकर वा आपही उत्पन्न करके, वा किसीने भेट दिया हो ऐसा मांस, देवता तथा पितरोंको समर्पण करके जो मनुष्य खाता है वह दोषका भागी नहीं होता ॥ ३२ ॥

नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः ।
जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥ ३३ ॥

मांसके दोषकी विधिको जानता हुआ द्विज, विना विधिके न खाय, क्योंकि अनापत्कालमें विना विधिके जो मांस खाता है मरे पीछे उस परवश मनुष्यको वेही जीव भक्षण करते हैं जिनको उसने खाया हैं ॥ ३३ ॥

न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः ।
यादृशं भवति प्रेत्य वृथा मांसानि खादतः ॥ ३४ ॥
नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः ।
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम् ॥ ३५ ॥

धनके लिये मृग मारनेवालेको वैसा पाप नहीं होता जैसा वृथा मांस खानेवालेको मरनेके अनंतर होता है ॥ ३४ ॥ जो मनुष्य श्राद्ध और मधुपर्कमें नियुक्त हुआ, मांस नहीं खाता है वह मनुष्य मरकर इक्कीस जन्मतक पशु होता है ॥ ३५ ॥

असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन ।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणको चाहिये कि मंत्रोंसे विना पवित्र किये पशुओंको कभी न खाय । सनातनकी विधिमें आस्था रखकर मंत्रोंसे प्रोक्षण किये गए पशुओंको खाय ३६

कुर्याद्घृतपशुं सङ्गे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा ।
न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥

जो पशु भक्षणकी ही इच्छा हो तो घृतका वा चूनका पशु बनाकर भक्षण करले परंतु पशुको वृथा मारनेकी इच्छा कभी न करनी चाहिये ॥ ३७ ॥

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम् ।
वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

देवताके उद्देशविना जो मनुष्य वृथाही पशुको मारता है वह जितने पशुके रोम हैं उतनेही वर्ष जन्म लेकर जन्म २ में मारा जाता है ॥ ३८ ॥

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा ।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ३९ ॥

ब्रह्माजीने आपही यज्ञके लिये और सब यज्ञकी सिद्धिके लिये पशुओंको बनाया है इसलिये यज्ञमें पशुवधकी हिंसा नहीं होती ॥ ३९ ॥

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥ ४० ॥

औषधि, पशु, वृक्ष, (कछुए आदि) तिर्यक् जीव और पक्षी, यज्ञके लिये नाश होकर उत्तम गतिको पाते हैं ॥ ४० ॥

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि ।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥

मधुपर्क, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ तथा पितर और देवकर्म इनहीमें पशुहिंसा करनी चाहिये औरमें नहीं यह मनुजीने कहा है ॥ ४१ ॥

एष्वर्थेषु पशून्हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद्द्विजः ।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४२ ॥

वेदके सार और अर्थको जाननेवाला जो द्विज इन कामोंमें पशुकी हिंसा करता है वह अपनेको और पशुको उत्तम गतिको पहुंचाता है ॥ ४२ ॥

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः ।
नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥

आत्माके विचारवाला द्विज, घरमें, गुरुके यहां अथवा बनमें रहकर आपत्तिमेंभी अवेदविहित हिंसाको न करै ॥ ४३ ॥

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥ ४४ ॥

जो हिंसा वेदोक्त नियत है उसे इस संसारमें अहिंसा ही जाने, क्योंकि धर्म वेदसे ही निकला है ॥ ४४ ॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥

जो पुरुष अपने सुखकी इच्छासे अहिंसक प्राणियोंको मारता है वह जीता हुआ और मरा हुआ कहीं भी सुख नहीं पाता है ॥ ४५ ॥

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति ।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥

जो प्राणियोंको वध वा बंधनके क्लेशोंको नहीं देना चाहता है वह सबका हितकारी अत्यन्त सुख पाता है ॥ ४६ ॥

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥ ४७ ॥

जो पुरुष किसीकी हिंसा नहीं करता, वह जिसका ध्यान करता है, और जो कर्म करता है अथवा जिस परमात्माआदि वस्तुमें धीरता करता है उसी उस वस्तुके फलको विना यत्नके पाता है ॥ ४७ ॥

(हिंसाके गुण और दोषोंको कहकर मांसके अभक्षणको कहते हैं)

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥

जीवोंकी हिंसा किये विना कहींभी मांस उत्पन्न नहीं हो सक्ता और जीवोंका मारना स्वर्गका देनेवाला भी नहीं है, इसलिये मांसको त्याग देना चाहिये ॥ ४८ ॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥

मांसकी उत्पत्ति और प्राणियोंके वध और बंधनको अच्छे प्रकारसे देखकर सब प्रकारके मांस भक्षणसे दूर रहै ॥ ४९ ॥

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत् ।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ ५० ॥

जो पिशाचके समान विधिको छोड़ मांस नहीं खाता है वह संसारमें प्यारा लगता है और रोगोंसे पीड़ित नहीं होता है ॥ ५० ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेतिघातकाः ॥ ५१ ॥

संमति देनेवाला, काटनेवाला, मारनेवाला, मोल लेनेवाला और बेचनेवाला, पकानेवाला, लानेवाला और खानेवाला ये घातक होते हैं ॥ ५१ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अनभ्यर्च्य पितृन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ ५२ ॥

जो पितरों और देवताओंको विना पूजे पराये मांससे अपने मांसको बढ़ाना चाहता है उससे बढ़कर दूसरा पापी नहीं है ॥ ५२ ॥

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥

जो वर्षवें दिन सौ वर्षतक अश्वमेध यज्ञ करता है और जो मांसको नहीं खाता है उन दोनों के पुण्यका फल बराबर है ॥ ५३ ॥

फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

जो फल मांसके त्यागनेसे होता है वह फल पवित्र मूल फलके खानेसे और मुनियोंके अन्न (नीवारआदि) खानेसे नहीं होता ॥ ५४ ॥

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५५ ॥

यहां मैं जिसके मांसको खाता हूं वह परलोकमें मुझे खायगा यही मांस शब्दका तात्पर्य मुनिओंने कहा है ॥ ५५ ॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

मांस खानेमें, मद्य पीनेमें और मैथुनमें दोष नहीं है क्योंकि यह प्राणियोंका स्वभावही है, परंतु इनका त्याग बड़ा फलदायक है ॥ ५६ ॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥

अब मैं चारों वर्णोंकी प्रेतशुद्धि और द्रव्यशुद्धि जैसी चाहिये उसे क्रमपूर्वक कहता हूं ॥ ५७ ॥

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते।
अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥

बालकके दांत चमकने तथा दांत निकले पीछे, मुंडनके पीछे जो मृत्यु हों तो सब (सपिंड, समानोदक) बान्धव जैसे जैसे सूतकमें सूतकी होते हैं वह सब कहाजाता है ॥ ५८ ॥

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
अर्वाक्-संचयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेववा ॥ ५९ ॥

सपिंडोंमें मरनेका आशौच दश दिन वा अस्थियोंके संचयसे पहिले तीन दिन वा एकदिन यों विधान किया गया है ॥ ५९ ॥

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥

सातवें पुरुषमें सपिंडता दूर होजाती है और जन्म तथा नामके न जाननेपर समानोदक भाव छूट जाता है ॥ ६० ॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

जैसा यह मृतक सूतक सपिंडोंमें विधान किया गया है वैसाही पूर्ण शुद्धि चाहनेवालोंको जन्ममें भी होता है ॥ ६१ ॥

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम्।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥

मृतकका आशौच सब सपिंडोंको समान होता है और जन्मका सूतक केवल

मातापिताकोही होता है और उन दोनोंमें भी दश दिनका सूतक माताकोही होता है, पिता तो स्नान करके शुद्ध होजाता है ॥ ६२ ॥

निरस्य तु पुमाञ्शुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्ध्यति ।
वैजिकादभिसंवन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ॥ ६३ ॥

पुरुष (स्वप्नमें) वीर्य निकल जानेपर स्नान करनेसेही शुद्ध होता है और पर स्त्रीसे संतानका संवन्ध हो जानेसे तीन दिनतक आशौच होता है ॥ ६३ ॥

अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ।
शवस्पृशो विशुद्ध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥ ६४ ॥

मुर्देको छूनेवाले एक दिन एक रात्रि और तीन गुणित तीन दिन-रातमें अर्थात् दस दिनमें और पानी देनेवाले तीन दिनमें शुद्ध होते हैं ॥ ६४ ॥

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति ॥ ६५ ॥

शिष्य, मृतक गुरुके क्रियाकर्मको करनेसे, मुर्देको लेजानेवालोंके समान दशदिनमें शुद्ध होता है ॥ ६५ ॥

रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुध्यति ।
रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ ६६ ॥

स्त्री गर्भस्रावमें उतने दिनमें शुद्ध होती है कि जितने महीनेका गर्भ हो, और पतिव्रता रजस्वला रजके वंद हो जानेपर स्नान करके शुद्ध हो जाती है ॥ ६६ ॥

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।
निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥

जिन वालकोंका मुंडन नहीं हुआ हो उनके मरजानेसे एक रातदिनमें सपिंड लोगोंको शुद्धि कही है और जिनका मुंडन हो गया है उनके मरनेपर तीन रात्रिमें शुद्धि होती है ॥ ६७ ॥

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्वान्धवा बहिः ।
अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥ ६८ ॥

वांधवोंको दो वर्षसे कम आयुके मुर्देको वस्त्रादिसे अलंकृत करके घरके वाहिर शुद्ध भूमिमें अस्थि संचयके विनाही गाड़ देना चाहिये ॥ ६८ ॥

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया ।
अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव च ॥ ६९ ॥

इसका अग्नि संस्कार तथा जलदानभी नहीं करना चाहिये किंतु वनमें काठके समान त्याग कर तीन दिनतकही आशौच करैं ॥ ६९ ॥

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या वान्धवैरुदकक्रिया ।
जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति ॥ ७० ॥

वांधवोंको तीन वर्षसे कमके बालककी उदकक्रिया नहीं करनी चाहिये, परंतु जिसके दांत निकल आएहों अथवा जिसका नामकरण हो गया हो उसका जलदान करै ॥ ७० ॥

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम्।
जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥

अपने साथी ब्रह्मचारीके मरनेपर एक दिनका सूतक कहा है, और समानोदकोंके जन्म होनेपर तीन दिनमें शुद्धि मानी गई है ॥ ७१ ॥

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः ॥ ७२ ॥

जिनका विवाह नहीं हुआ (और वाग्दान हो गया हो तो) उन कन्याओंके मरनेमें (पतिके पक्षके) बान्धव तीन दिनमें शुद्ध होते हैं, और पिताके पक्षवालेभी पूर्वोक्त विधानसे अर्थात् तीन दिनमें शुद्ध होते हैं ॥ ७२ ॥

अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम्।
मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥ ७३ ॥

वे बान्धव खारा निमक जिसमें नहो ऐसे अन्नको खायँ और (नदी आदिमें) तीन दिनतक स्नान करैं, मांस न खायँ और पृथ्वीपर अलग सोवैं ॥ ७३ ॥

सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः।
असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः संबन्धिबान्धवैः ॥ ७४ ॥

पासके रहनेमें यह मृतक अशौचका विधान कहा है और जो संबन्धी और बांधव प्रदेशमें हों उनको यह रीति जाननी चाहिये ॥ ७४ ॥

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम्।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥

जो मनुष्य विदेशमें रहता हो और दश दिनके भीतर मृतककी खबर सुने तो दश दिनमें जितने दिन बाकी हों वह उतनेमेंही शुद्ध होजाता है ॥७५॥

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ॥ ७६ ॥

और जो दश दिनके पीछे ख[illegible] सुने तो तीन रातका आशौच होता है और जो एक वर्षके बाद [illegible] जलको स्पर्श करके ही शुद्ध हो जाता है ॥ ७६ ॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं [illegible] पुत्रस्य जन्म च।
सवासा जलमाप्लुत्य [illegible]ो भवति मानवः ॥ ७७ ॥

मनुष्य दश दिनके पीछे सां[illegible] मरण और पुत्रका जन्म सुनकर कपड़ों समेत जलमें [illegible] शुद्ध [illegible] जाता है ॥ ७७ ॥

बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते ।
सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुद्ध्यति ॥ ७८ ॥

परदेशमें रहते हुए जिसके दांत न निकले हों ऐसा बालक और समानोदकके मरनेपर कपड़ों सहित जलमें स्नान करनेसे शीघ्रही शुद्धि होजाती है ॥ ७८ ॥

अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी ।
तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥ ७९ ॥

जो दश दिनके भीतर जन्म वा मरण (अर्थात् मरणमें मरण और जन्ममें जन्म) दोनों हो जायँ तो जबतक पहिले सूतकके दश दिन हो न जायँ तबतक ही ब्राह्मण अशुद्ध रहता है ॥ ७९ ॥

त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति ।
तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ८० ॥

आचार्यके मरनेपर शिष्यको तीन रात्रिका आशौच और उसके पुत्र तथा पत्नीके मरनेपर एक दिनरातका आशौच कहा है, यही मर्यादा है ॥ ८० ॥

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥ ८१ ॥

वेदपाठीके मरनेपर तीन रात, मामा, शिष्य ऋत्विक् और बांधवोंके मरनेपर दो दिन और उनके बीचकी रात आशौच होता है ॥ ८१ ॥

प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः ।
अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥ ८२ ॥

जिस राजाके राज्यमें ब्राह्मण आदि रहै यदि वह राजा मरजाय तो जो दिनमें मरै तो सूर्यास्ततक और रातको मरै तो तारोंतक आशौच रहता है; और जिसने वेद न पढ़ा हो वह वा सांगवेदका पाठी वा गुरु अपने घरपर मरजाय तो सब दिन आशौच रहता है, रातमें मरै तो रातभर सूतक रहता है ॥ ८२ ॥

शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥

(जिसका यज्ञोपवीतसंस्कार हो चुकाहो उस सपिंडके मरनेपर और किसी बालकके जन्ममें वेदपाठी आदि) ब्राह्मण दश दिनमें, क्षत्री बारह दिनमें, वैश्य पंदरह दिनमें और शूद्र एक महीनेमें शुद्ध होता है ॥ ८३ ॥

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः ।
न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥

सूतकके दिनोंको न बढ़ावै और अग्निहोत्र न छोड़े, क्योंकि अग्निहोत्रका करनेवाला सपिंडभी अशुद्ध नहीं होता है ॥ ८४ ॥

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥ ८५ ॥

चांडाल, रजस्वला, पतित, सूतिका, मुर्दा और उसके छूनेवाले इनको छूकर स्नानमात्रसेही शुद्ध हो जाता है ॥ ८५ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने।
सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ॥ ८६ ॥

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति ॥
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥ ८७ ॥

(श्राद्ध और देवपूजा करनेवाला मनुष्य चांडाल आदि) अशुद्धोंको देखले तो आचमन करके पवित्र होनेपर सूर्यके मंत्र ("उदुत्यं जात वेदसं" इत्यादि) और पवित्र ऋचा ("पुनंतु मा देवजना" इत्यादि) इनको उत्साहपूर्वक शक्तिके अनुसार जपै ॥ ८६ ॥ ब्राह्मण, मनुष्यके गीले हाड़को छूनेसे, न्हाकर, और सूखेको छूनेसे आचमन करके वा गौको छूकर वा सूर्यके दर्शन करकेही शुद्ध होजाता है ॥ ८७ ॥

आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात्।
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति ॥ ८८ ॥

ब्रह्मचारी व्रतके समाप्त होनेतक जलदान न करै। जब व्रतकी समाप्ति होजाय तब जलदान देकर तीन रात्रिमें ही शुद्ध हो जाता है ॥ ८८ ॥

वृथा संकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम्।
आत्मनस्त्यागिनां चैव निर्वर्तेतोदकक्रिया ॥ ८९ ॥

जो वृथा उत्पन्न हुए हैं (अर्थात् निज कर्मधर्मसे हीन हैं), जो हीन वर्णसे उत्तम वर्णकी स्त्रीमें पैदा हुए वर्णसंकर हैं, जो संन्यासी हैं और जो आत्मघात करते हैं उनको जलदान नहीं दिया जाता है ॥ ८९ ॥

पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः।
गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥ ९० ॥

जो स्त्रियां पाखंड करती हों, अपनी इच्छापूर्वक व्यभिचार करती हों, गर्भपात और भर्तासे द्रोह करती हों और जो मद्यपान करती हों उन स्त्रियोंकी उदकक्रिया नहीं करनी चाहिये ॥ ९० ॥

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम्।
निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥

ब्रह्मचारी अपने आचार्य, उपाध्याय, पिता, माता और गुरु इनके शवोंको उठाकर व्रतहीन नहीं होता है ॥ ९१ ॥

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत्।
पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥

मरे शूद्रको नगरके दक्षिण द्वारसे, वैश्यको पश्चिमसे, क्षत्रियको उत्तरसे, और ब्राह्मणको पूर्व द्वारसे श्मशानमें ले जाय ॥ ९२ ॥

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् ।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥ ९३ ॥

राजा, व्रती और यज्ञ करानेवाले इनको सपिंडके मरेका सूतक नहीं होता है क्योंकि वे इन्द्रके स्थानपर वैठे हुए सदा ब्रह्मरूप होते हैं ॥ ९३ ॥

राज्ञो महात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते ।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥ ९४ ॥

राजगद्दीपर वैठे हुए राजाकी सद्यही शुद्धि कही है, क्योंकि प्रजाओंकी रक्षाके लिये राजाका राजपदपर वैठनाही आशौच न लगनेका कारण है ॥९४॥

डिंभाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ।
गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ ९५ ॥

युद्धमें मरे हुए, बिजली तथा राजासे मारे हुए और जिनकी शुद्धि राजा चाहता हो और जो गौ ब्राह्मणके लिये मरे हों इन मनुष्योंकी भी तत्काल शुद्धि हो जाती है ॥ ९५ ॥

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च ।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ९६ ॥

चंद्र, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम इन आठ लोकपालोंके शरीरको राजा धारण करता है ॥ ९६ ॥

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते ।
शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥ ९७ ॥

राजा आठ लोकपालोंके अंशसे युक्त है इसलिये राजाको आशौच नहीं लगता, क्योंकि मनुष्योंको यह शौच और आशौच दिग्पालोंसेही उत्पन्न होता और नष्ट होता है ॥ ९७ ॥

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च ।
सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥ ९८ ॥

युद्धमें उठाए गए शस्त्रोंसे जो मनुष्य क्षत्रीके धर्मसे (अर्थात् युद्धसे मुंह न मोड़कर) माराहो उसको उसी समय यज्ञका फल और शुद्धि दोनों मिलते हैं ॥ ९८ ॥

विप्रः शुद्ध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् ।
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥ ९९ ॥

क्रिया कर्म करनेवाला ब्राह्मण जलको, क्षत्रिय सवारी और शस्त्रको, वैश्य चाबुक वा लगामको और शूद्र लकडीको छूकर शुद्ध होता है ॥ ९९ ॥

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः ।
असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥ १०० ॥

हे द्विजोत्तमो ! सपिंडोंमें यह शौच तुमसे कहा, अब सब असपिंडोंमें प्रेतकी शुद्धि सुनो ॥ १०० ॥

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
विशुद्ध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥ १०१ ॥

असपिंड, मृतक ब्राह्मणको बन्धुके समान उठाकर और माताके सगे बांधवों-को उठाकर ब्राह्मण तीन रातमें शुद्ध होता है ॥ १०१ ॥

यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुद्ध्यति ।
अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥

जो प्रेतके लेजानेवाला उन आशौचियोंके अन्नको खाता हो तो दश दिनमें शुद्ध होता है और जो अन्नको न खाता हो और उस घरमें भी न रहताहो तो एक दिनमें शुद्ध होता है (और जो उनके घरमें रहता हो और उनके अन्नको न खाय उसे भी तीन रातका आशौच होता है) ॥ १०२ ॥

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च ।
स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

जातिवाले वा बेजातिवाले मुरदेके पीछे इच्छापूर्वक जाकर मनुष्य वस्त्र सहित स्नान, अग्निका स्पर्श और घृतको चाटकर शुद्ध होता है ॥ १०३ ॥

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत् ।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥ १०४ ॥

अपनी जातिवाले होनेपर ब्राह्मणके शवको शूद्रोंसे न उठवा ले जाय, क्योंकि शूद्रके छूनेसे दूषित वह शरीरकी आहुति स्वर्गकी देनेवाली नहीं होती अर्थात् मृतकको स्वर्गमें नहीं पहुंचाती है ॥ १०४ ॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम् ।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् ॥ १०५ ॥
सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ १०६ ॥

ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मट्टी, मन, जल, लेपन, पवन, कर्म, सूर्य और काल ये प्राणियोंकी शुद्धि करनेवाले हैं ॥ १०५ ॥ परंतु सब शुद्धियोंमें धनकी पवित्रताही श्रेष्ठ कही है क्योंकि जो धनमें शुद्ध है, वही शुद्ध है, मट्टी और जलकी शुद्धि, शुद्धि नहीं होती–भाव यह है कि जो पराया धन नहीं हरता और न्यायसे धनोपार्जन करता है वह शुद्ध है, और जो अन्यायसे द्रव्य हरता है और मट्टी लगा २ कर न्हाता है वह पवित्र नहीं हो सक्ता ॥ १०६ ॥

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ १०७ ॥

विद्वान् पुरुष क्षमासे, निंदितकर्मके करनेवाले (वेदपाठी सुपात्रको) दान देनेसे, गुप्त पापके कर्ता (गायत्रीके) जपसे और उत्तम वेदपाठी तपसे शुद्ध होते हैं ॥ १०७ ॥

मृत्तोयैः शुद्ध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुद्ध्यति।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ॥ १०८ ॥

मल आदि लगा हो ऐसा शुद्ध होने योग्य पदार्थ मट्टी और जलसे, शुद्ध होता है। नदी वेगसे और मनकी पापिनी स्त्री मासिक धर्मसे शुद्ध होती है, और ब्राह्मण संन्याससे शुद्ध होता है ॥ १०८ ॥

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥ १०९ ॥

शरीर जलसे शुद्ध होता है, मन सत्यसे शुद्ध होता है, जीवात्मा विद्या और तपसे तथा बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होती हैं ॥ १०९ ॥

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः।
नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ॥ ११० ॥

यह शरीरकी शुद्धिका निर्णय तुमसे कहा अब नाना प्रकारके पदार्थोंकी शुद्धिका निर्णय सुनो ॥ ११० ॥

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च।
भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ १११ ॥
निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति।
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ११२ ॥

सुवर्ण आदि तेजके, मणियोंके और सब प्रकारके पाषाणके पात्रोंकी शुद्धि राख, जल और मट्टीसे पण्डितोंने कही है ॥ १११ ॥ जूठन जिसमें न लगा हो ऐसा सोनेका पात्र, शंख और मोती आदि, पाषाणके पात्र और विना खुदा चांदीका पात्र ये सब जलसेही शुद्ध होते हैं ॥ ११२ ॥

अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्बभौ।
तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥ ११३ ॥

सोना और चांदी, जल और अग्निके संयोगसे निकले हैं इसलिये उन दोनोंकी शुद्धि जल और अग्निसेही बहुत उत्तम होती है ॥ ११३ ॥

ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ॥ ११४ ॥

तांबा, लोहा, कांसा, पीतल, रांग और सीसा इनकी शुद्धि यथायोग्य क्षार, अम्लोदक और जलसे करनी चाहिये ॥ ११४ ॥

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम् ।
प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥ ११५ ॥

सब घी, तेल आदि द्रव पदार्थोंकी शुद्धि (कुशा पत्रसे) ऊपर हवा कर देनेसे, शय्या आदिकी जलके छींटोंसे, और काठके पात्रोंकी शुद्धि छीलनेसे होती है ॥ ११५ ॥

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि ।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥ ११६ ॥

यज्ञपात्रोंकी शुद्धि यज्ञकर्ममें हाथसे मार्जन करनेसे और चमस तथा ग्रह नामके पात्रोंकी शुद्धि धोनेसे होती है ॥ ११६ ॥

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा ।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥

चरु और स्रुक् आदि यज्ञपात्रोंकी शुद्धि गरम जलसे और स्फय, शूर्प, शकट, मुसल और ओखलीकी शुद्धि जल छिड़कनेसे होती है ॥ ११७ ॥

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् ।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ॥ ११८ ॥

बहुतसे अन्न और वस्त्रोंकी शुद्धि पानी छिड़कनेसे, तथा थोड़े अन्न और वस्त्रोंकी शुद्धि पानीमें धोनेसे कही गई है ॥ ११८ ॥

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च ।
शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९ ॥

चमड़े और बांसके पात्रोंकी शुद्धि वस्त्रोंके समान, और शाक, मूल, फलोंकी शुद्धि अन्नके समान होती है ॥ ११९ ॥

कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः ।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥

रेशमी और ऊनी कपड़ोंकी शुद्धि खारी मट्टीसे, नैपाली कंवलोंकी शुद्धि रीठोंसे, पट्ट वस्त्रोंकी शुद्धि बेलफलोंसे और छालके वस्त्रोंकी शुद्धि सफेद सरसोंसे होती है ॥ १२० ॥

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि शंख, सींग, हड्डी और दांतकेबनेहुए पात्रोंकी शुद्धि छालके वस्त्रके समान या गौमूत्र अथवा पानीसे करै ॥ १२१ ॥

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुद्ध्यति ।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनः पाकेन मृण्मयम् ॥ १२२ ॥

तृण, काठ और पलाल (फलरहित धान्य खंड) ये प्रोक्षणसे, घरकी शुद्धि धोने और लीपनेसे, और मट्टीके पात्रकी शुद्धि फिर पकानेसे होती है ॥ १२२ ॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥

मदिरा, मूत्र, विष्ठा, थूक, राद और लोहूसे छुआ गया मट्टीका पात्र फिर पकानेसेभी शुद्ध नहीं होता है ॥ १२३ ॥

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥ १२४ ॥

झाड़ना, लीपना, छिड़कना, ऊपरकी मट्टीका खुरच डालना और गौओंका सदा वास इन पांच बातोंसे भूमिकी शुद्धि होती है ॥ १२४ ॥

पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम्।
दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥ १२५ ॥

पक्षीसे कुतरा हुआ फल, गौसे सूंघा हुआ पदार्थ, पैरसे फेंका हुआ, जिस पर किसीने छींक दिया हो, और केश और कीट जिसमें पड़े हों वह पदार्थ मट्टी गेरनेसे शुद्ध हो जाता है ॥ १२५ ॥

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

जबतक अशुद्ध पदार्थयुक्त वस्तुमेंसे अशुद्ध पदार्थकी गंध और लेप दूर न हो जाय तबतक सब वस्तुको शुद्धिके लिये मट्टी और जलसे धोवै ॥ १२६ ॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥

देवताओंने ब्राह्मणोंके लिये तीन पवित्र वस्तु बनाई हैं-एक तो वह जिसकी अशुद्धि आँखोंसे नहीं देखी गई, दूसरी जो अशुद्धकी शंकासे जलसे छिड़की गई, और तीसरी वह जिसे शिष्टजन वाणीसे, अच्छी कह दें ॥१२७॥

आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत्।
अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥

जिससे गौ तृप्त हो जाय, जो अपवित्र वस्तुसे न मिला हो और जो सुगंध, वर्ण तथा रसयुक्त हो ऐसा पृथ्वीपर बहता हुआ जल शुद्ध होता है ॥ १२८ ॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम्।
ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९ ॥

कारीगरका हाथ सदा शुद्ध है, बाजारमें रक्खी हुई वस्तु, ब्रह्मचारीके पास गई भिक्षा ये सदा शुद्ध हैं और यही शास्त्रकी मर्यादा है ॥ १२९ ॥

नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने।
प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ १३० ॥

स्त्रियोंका मुख सदा शुद्ध है, फल गिरानेमें पक्षी और दूध चोंखनेमें बछड़ा शुद्ध है, और हरिण पकड़नेमें कुत्ता पवित्र है ॥ १३० ॥

श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत् ।
क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥ १३१ ॥

मनुजीने, कुत्तोंसे मारे हुए मृग पक्षीका मांस और कच्चा मांस खानेवाले सिंहादिसे, अन्य चांडाल आदिसे तथा चोरोंसे मारे हुए मृग आदिका मांस शुद्ध कहा है ॥ १३१ ॥

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः ।
यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः ॥ १३२ ॥

नाभिसे ऊपरकी जो इन्द्रियां हैं वे सब शुद्ध हैं और जो नीचेकी हैं वे अशुद्ध हैं, और देहसे जो मल निकलते हैं वेभी अशुद्ध हैं ॥ १३२ ॥

मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः ।
रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ १३३ ॥

मक्षिका, जलके कण, (चांडाल आदिकी) छाया, गौ, घोड़ा, सूर्यकी किरणें, धूलि, भूमि, वायु और अग्नि ये स्पर्श करनेमें शुद्ध होते हैं ॥ १३३ ॥

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत् ।
दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥ १३४ ॥

विष्टा और मूत्रका जिनसे त्याग हो उन इन्द्रियोंकी शुद्धिकेलिये और देहके मलोंकी बारह अशुद्धियोंके लिये जितना आवश्यक हो मट्टी और जल ग्रहण करना चाहिये ॥ १३४ ॥

वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविट् घ्राणकर्णविट् ।
श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥ १३५ ॥

चर्बी, वीर्य, लोहू, मज्जा, मूत्र, विष्टा, नाक कानका मैल, कफ, आंसू, गीड़ और पसीना ये मनुष्योंके बारह मल हैं ॥ १३५ ॥

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश ।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता ॥ १३६ ॥

शुद्धि चाहनेवाले मनुष्यको लिंगमें एकबार, गुदामें तीनबार और वाम हाथमें दशबार तथा दोनों हाथोंमें सातबार मट्टी लगानी चाहिये ॥ १३६ ॥

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम् ।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ १३७ ॥

यह पूर्वोक्त गृहस्थियोंका शौच है, और ब्रह्मचारियोंका इससे दूना, वानप्रस्थोंका तिगुना और संन्यासियोंका चौगुना होता है ॥ १३७ ॥

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत् ।
वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा ॥ १३८ ॥

मूत्र वा विष्ठा त्यागकर, वेदपाठके समय और भोजन करते समय मनुष्य सदा आचमन करके इन्द्रियोंके छिद्रोंका स्पर्श करै ॥ १३८ ॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
शारीरं शौचमिच्छन्हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत्सकृत् ॥ १३९ ॥

शरीरके शौचको चाहनेवाला द्विज पहिले जलका तीन वार आचमन करै, फिर दो बार कुल्ला करै, और स्त्री शूद्र एक एक बार आचमन और कुल्ला करै ॥१३९॥

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम्।
वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् ॥ १४० ॥

शास्त्रके अनुसार वर्तनेवाले शूद्रोंका मुंडन महीने के महीने कराया जाना चाहिये और (जन्म मरण के सुतकमें) उनके शौचकी विधि वैश्यके समान है, और वे द्विजोंका जूठा भोजन करैं ॥ १४० ॥

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः।
न श्मश्रूणि गतान्यास्यं न दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥ १४१ ॥

जो मुखकी बूंदें देहपर पड़ती हैं वे और मुखमें गए दाढ़ी मूछके बाल और दांतोंके भीतर लगा अन्न ये मनुष्यको अशुद्ध नहीं करते ॥ १४१ ॥

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान्।
भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैराप्रयतो भवेत् ॥ १४२ ॥

दूसरोंको पानी पिलाते समय जो पिलानेवालेके पैरोंपर छींटे पड़ते है वे धरतीके जलके समान जानने चाहियें उनसे अशुद्धि नहीं होती ॥ १४२ ॥

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंचन।
अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥

हाथमें खाद्य वस्तु लिये हो और कदाचित् जूठे मुखवालेसे छूजाय तो मनुष्य उस वस्तुको कहीं विना धरेही आचमन करके शुद्ध होता है ॥ १४३ ॥

वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत्।
आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ॥ १४४ ॥

वमन और जुलावके पीछे मनुष्यको स्नान करके घृतका भक्षण करना चाहिये, और जो अन्नको खातेही वमन करै तो केवल आचमनही करै, और ऋतुमतीके साथ मैथुन करके स्नान करना कहा है ॥ १४४ ॥

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च।
पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥ १४५ ॥

शयनके पीछे, छींक कर, भोजन करके, थूक कर, झूठ बोलकर, जलको पीकर और पढ़नेके समय सावधान होकर आचमन करै ॥ १४५ ॥

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत ॥ १४६ ॥

सब वर्णोंके यह संपूर्ण शौचविधि और द्रव्यशुद्धि तुमसे कही है अब तुम स्त्रियोंके धर्म सुनो ॥ १४६ ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि ॥ १४७ ॥

बालक और युवती या बूढ़ी स्त्रीको भी घरोंमें कोई कार्य स्वतंत्र होकर न करना चाहिये ॥ १४७ ॥

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १४८ ॥

बाल्यावस्थामें स्त्री पिताके वशमें, यौवन अवस्थामें पतिके वशमें, और पतिके मरे पीछे पुत्रोंके वशमें रहै, पर स्वतंत्र न रहै ॥ १४८ ॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः ।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥

स्त्रीको चाहिये कि पिता, पति वा पुत्रसे अपना वियोग न चाहै, क्योंकि स्त्री इनको छोड़कर दोनों कुलोंको निंदित करती है ॥ १४९ ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

स्त्रीको सदा प्रसन्नचित्त, घरके कामोंमें कुशल, घरकी सामग्रीको अच्छी भांति रखनेवाली और खर्चमें हाथ रोक कर उठानेवाली होना चाहिये ॥१५०॥

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥ १५१ ॥

पिता वा पिताकी सलाहसे भाई इस स्त्रीको जिसे दे वह उसकी जीवन-पर्यंत टहल करै और मरनेके पीछे भी उस पतिका उल्लंघन न करै (अर्थात् व्यभिचारको छोड़ उसका श्राद्ध आदि करती रहै) ॥ १५१ ॥

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥

स्त्रियोंके विवाहमें जो (पुण्याहवाचन आदि) स्वस्त्ययन और प्रजापति देवताके उद्देश्यसे हवन किया जाता है वह वर कन्या दोनोंके मंगलके लिये है, परंतु विवाहमें जो वाक्दान किया जाता है उससे ही स्वामीका स्त्रीपर स्वामित्व होता है ॥ १५२ ॥

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥

अऋतुकालमें वा ऋतुकालमें इस लोकमें वा परलोकमें नित्य सुख देने-वाला और मंत्रोंसे संस्कार देनेवाला पतिही है ॥ १५३ ॥

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥ १५४॥

पतिव्रता स्त्रीको, शीलरहित, परस्त्रीगामी, वा गुणहीन पतिकी भी सदा देवताके समान पूजा करनी चाहिये॥ १५४॥

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥ १५५॥

स्त्रियोंको पतिके विना अलग यज्ञ, व्रत और उपवास करनेका अधिकार नहीं है। स्त्री तो केवल पतिकी सेवासेही स्वर्गमें आदर पाती है॥ १५५॥

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम्॥ १५६॥

पतिलोकके चाहनेवाली पतिव्रता स्त्री जीतेहुए वा मरेहुए पतिका कुछ भी अप्रिय आचरण न करै॥ १५६॥

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
नतु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥ १५७॥

पवित्र पुष्प मूल फलोंसे अर्थात् उन्हें भोजन कर अपनी देहको चाहे दुर्बल करदे परंतु पतिके मरनेपर दूसरेका नामभी न ले॥ १५७॥

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्॥ १५८॥

पतिव्रता स्त्रियोंके सर्वोत्तम धर्मको चाहनेवाली विधवा स्त्री मरणपर्यन्त क्षमायुक्त नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यसे रहै (अर्थात् पुत्र न होनेपर भी पुत्रको लिये पर पुरुषका संग न करै)॥ १५८॥

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवंगतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम्॥ १५९॥
मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥ १६०॥

कई हजार कुमार ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंने कुलमें विना संतान उत्पन्न कियेभी (निज ब्रह्मचर्यके बलसे) स्वर्गलोक पाया है॥ १५९॥ उन ब्रह्मचारियोंकी भांति अपुत्रा होनेपरभी पतिव्रता स्त्री स्वामीके मरण पीछे केवल ब्रह्मचर्यके बलसे स्वर्गलोकको जाती है॥ १६०॥

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते॥ १६१॥

जो स्त्री संतानके लोभसे भर्ताका अतिक्रमण करती है (अर्थात् पर पुरुष से संतान उत्पन्न करती है) वह इस लोकमें निंदा पाती है और परलोकसे भी भ्रष्ट हो जाती है॥ १६१॥

यान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे ।
न द्वितीयश्च साध्वीनां कचिद्भर्तोपदिश्यते ॥ १६२ ॥

इस संसारमें दूसरेसे उत्पन्न हुई संतान और दूसरेकी स्त्रीमें उत्पन्न कीहुई संतान शास्त्ररीतिसे संतान नहीं कहाती, और पतिव्रता स्त्रियोंको दूसरा पति कहींभी नहीं कहा है ॥ १६२ ॥

पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते ।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥ १६३ ॥

जो स्त्री अपने हीनकुलके पतिको (धन आदिके कारण) छोड़कर उत्तम कुलके पतिका सेवन करती है वह संसारमें निन्दित होती हैं और "इसका पहिले दूसरा पति था" ऐसा कहलाती है ॥ १६३ ॥

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥

स्त्री पतिका अतिक्रम करके (अर्थात् पर पुरुषके साथ भोग करनेसे) लोकमें निंदा पाती है और मरनेके पीछे गीदड़की योनिमें जन्म लेती है और अनेक पाप और रोगोंसे दुःख भोगती है ॥ १६४ ॥

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ १६५ ॥

जो स्त्री मन, वाणी और देहसे सावधान होकर पतिके प्रतिकूल नहीं चलती वह पतिलोकको पाती है और अच्छे पुरुष उसे पतिव्रता कहते हैं ॥ १६५ ॥

अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता ।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥

इसप्रकार जो स्त्री मन वचन और शरीरको वशमें रखकर नारीधर्मसे अपना जीवन बिताती है वह इस लोकमें परम कीर्ति पाती है और मरनेपर पतिलोकको जाती है ॥ १६६ ॥

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् ।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥

ऐसी पूर्वोक्त आचरणवाली समान वर्णकी स्त्री यदि स्वामीकी मृत्युके पहिले मरजाय तो धर्मका ज्ञाता द्विजाति अग्निहोत्रकी अग्नि और यज्ञके पात्रोंसे उसका दाहकर्म कर दे ॥ १६७ ॥

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणि ।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥

पहिले मरीहुई स्त्रीका दाह आदि अन्त्येष्टि कर्म करके फिर गृहस्थाश्रमके लिये विवाह करै और अग्निहोत्रभी ग्रहण करै ॥ १६८ ॥

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत्।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥ १६९॥

इस पूर्वोक्त विधिसे सदा पञ्चमहायज्ञ करै, उन्हैं छोड़ै नहीं, और विवाह करके आयुके दूसरे भागपर्यंत गृहस्थाश्रममें वास करै॥ १६९॥ इति–

पं. रामेश्वरभट्टकृत सरलाटीकासहित मनु० का
पंचम अध्याय समाप्त हुआ. शुभम्।

अथ षष्ठोऽध्यायः।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः॥ १॥

स्नातक द्विज इसप्रकार विधिपूर्वक गृहस्थाश्रममें रहकर फिर शास्त्रोक्तविधिसे इन्द्रियोंको रोककर नियमसे वनमें वास करै॥ १॥

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥ २॥

जब गृहस्थी देखले कि अपने शरीरका चमड़ा ढीला हुआ और केश पकगए और पुत्रके भी पुत्र हो गया तब वनका अश्रय ले॥ २॥

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥ ३॥

गांवके आहार (व्रीहियवआदि) को और (शय्या, सवारी आदि) सब सामग्री त्यागकर और स्त्रीको पुत्रोंके हाथ सोंपकर, वा स्त्रीको साथ लेकर, वनको जाय॥ ३॥

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥ ४॥

अग्निहोत्र और घर तथा अग्निकी सामग्री लेकर ग्रामसे बाहर जितेन्द्री हो वनमें वास करै॥ ४॥

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम्॥ ५॥

अनेक प्रकार के (नीवार आदि) मुनियोंके शुद्ध अन्नोंसे वा शाकमूलफलसे इनही (पांच) महायज्ञोंको विधिपूर्वक करै॥ ५॥

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च॥ ६॥

मृगआदिका चर्म वा पुरानां वस्त्र धारण करै, प्रातःकाल और सायंकाल स्नान करै, जटादाढ़ीआदि बालोंको और नखोंको सदा धारण करै॥ ६॥

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥

जो खानेका पदार्थ हो उसमेंसे ही अपनी शक्तिके अनुसार बलि और भिक्षा दे और आश्रममें आएहुए अभ्यागतोंका जल, मूल, फलकी भिक्षासे सत्कार करै ॥ ७ ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥

द्विजको चाहिये कि वेद पाठमें लगा रहै, सरदी गरमी आदिको सहै, सबका उपकार करै, मनको रोकें रहै, सदा दान दे परंतु प्रतिग्रह न ले और सब प्राणियोंपर दया रक्खै ॥ ८ ॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥

अमावास्या और पूर्णिमाके दिन पर्वोंको नहीं त्यागता हुआ विधिपूर्वक वैतानिके अग्निहोत्र करै ॥ ९ ॥

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत्।
तुरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥

नक्षत्रयज्ञ और नये अन्नका यज्ञ और चातुर्मास्य उत्तरायण और दक्षिणायन यज्ञोंको भी क्रमसे करै ॥ १० ॥

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥

वसंत और शरदऋतुमें उत्पन्न हुए, पवित्र और आपही लाए हुए मुनियोंके (नीवारादि) अन्नोंसे पुरोडाश और चरुओंको शास्त्रविधिसे जुदा २ करै ॥ ११ ॥

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ १२ ॥

उस वनके, (नीवारादिसे बनाई गई) परम पवित्र हविको देवताओंके अर्पण करके, शेष हविका और स्वयं बनाए लवण (मय पदार्थ) का भोजन करै ॥ १२ ॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान् ॥ १३ ॥

पृथ्वी और जलमें उत्पन्न हुए शाक और पवित्र वृक्षोंसे उत्पन्न हुए पुष्प, मूल, फल और फलोंसे निकले अर्क इनका भक्षण करै ॥ १३ ॥

---

(१) दक्षिणाग्निकुंडमेंके अग्निको वितान कहते हैं और उसमें जो अग्निहोत्र किया जाय उसे वैतानिक कहते हैं।

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च ।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १४ ॥

शहद, मांस, भूमिमें उत्पन्न हुए छत्राक, भूस्तृण, (सांपकी छत्री) शिग्रु और बहेड़ेके फलोंको त्यागदे ॥ १४ ॥

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् ।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥

पहिला इकट्ठा किया हुआ (नीवारादि) मुनियोंका अन्न और जीर्ण वस्त्र तथा शाक मूल फल इन्हें आश्विनके महीनेमें त्यागदे ॥ १५ ॥

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित् ।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥

भूखा होने परभी, हलसे जोती हुई भूमिमें उत्पन्न हुए और किसीसे छोड़े गए अन्नको तथा गांवमें उत्पन्न हुए मूल फलोंको न खाना चाहिये ॥ १६ ॥

अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा ।
अश्मकुट्टो भवेद्वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥ १७ ॥

(वानप्रस्थ द्विज) अग्निसे पकेहुए अन्नका भोजन करै, अथवा समय पर पकेहुए फल आदि खाय, अथवा फलोंको पत्थरसे कूटकर वा दातोंसे चबाकर खाय ॥ १७ ॥

सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससंचयिकोऽपि वा ।
षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा ॥ १८ ॥

(वानप्रस्थ द्विज) एकही दिनके लिये, अथवा एक मास के लिये, अथवा छः महीनेके लिये, अथवा एक वर्षके निर्वाहके लिये नीवार आदिका संचय करै ॥ १८ ॥

नक्तं चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाहृत्य शक्तितः ।
चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः ॥ १९ ॥

अपनी शक्तिके अनुसार अन्न लाकर रात्रिको अथवा दिनमें भोजन करै, अथवा चौथे प्रहरमें वा आठवें प्रहरमें भोजन करै ॥ १९ ॥

चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत् ।
पक्षान्तयोर्वाप्यश्नीयाद्यवागूं क्वथितां सकृत् ॥ २० ॥

शुक्ल और कृष्ण पक्षमें चान्द्रायण व्रत करै, अथवा पूर्णिमा और अमावास्याको पकी हुई लपसीको एकवार भोजन करै ॥ २० ॥

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा ।
कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥ २१ ॥

अथवा वानप्रस्थ द्विज समयपर पकेहुए और अपने आप गिरेहुए केवल फलमूलसे सदा जीवन निर्वाह करै ॥ २१ ॥

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् ।
स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः ॥ २२ ॥

भूमिपर लेटै वा दिनभर एक चरणसे खड़ा रहै, अथवा कभी आसनपर और कभी आसनसे उठकर अपना समय वितावे, और तीनों काल स्नान करै ॥ २२ ॥

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः ।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ २३ ॥

अपने तपको क्रमसे बढ़ाता हुआ वानप्रस्थ ग्रीष्मऋतुमें पंचाग्निमें तप करै, वर्षाऋतुमें वर्षाकी जगह नग्न बैठा रहै, और हेमन्त (जाड़ेकी) ऋतुमें गीले वस्त्र धारण करै ॥ २३ ॥

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्च तर्पयेत् ।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥ २४ ॥

तीनों कालमें स्नान करके पितर और देवताओंका तर्पण करै और कठिन तपस्या करके अपने शरीरको सुखावै ॥ २४ ॥

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि ।
अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५ ॥

विधिके अनुसार वैतान नामक अग्निओंको अपनी देहमें रखकर, अर्थात् उनकी भस्म पीकर, अग्नि और गृहको त्यागदे, और मौन व्रत धारण करके और फल मूल खाकर समय वितावै ॥ २५ ॥

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

सुख देनेवाले विषयोंमें लिप्त होनेका यत्न न करै, ब्रह्मचारी रहै (अर्थात् स्त्री भोगादि न करै) भूमिपर सोवै, निवासस्थानसे ममता न करै और वृक्षकी जड़में निवास करै ॥ २६ ॥

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥

फल मूल न मिलैं तो तपस्वी वानप्रस्थको चाहिये कि ब्राह्मणोंसे अथवा अन्य वनवासी गृहस्थ द्विजातियोंके यहांसे अपने प्राणधारण करनेके योग्य भिक्षा मांग लावै ॥ २७ ॥

ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन् ।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥

यदि वनमें रहकर भिक्षा न मिलै तो गांवसे पत्तेके दौने वा सकोरेमें, अथवा हाथमेंही भीख मांग लाकर वानप्रस्थ केवल आठ ग्रास भोजन करै ॥ २८ ॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥

वानप्रस्थ ब्राह्मण वनमें वसकर इन पूर्वोक्त तथा अन्य सब नियमोंका पालन करै और आत्मज्ञानकी सिद्धिके लिये उपनिषद् आदि अनेक श्रुतियोंका अभ्यास करै ॥ २९ ॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः ।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥

क्योंकि ऋषि और ब्राह्मण गृहस्थियोंनेभी विद्या, तपकी वृद्धि और शरीरकी शुद्धिके लिये उपनिषद्में कहीहुई श्रुतियोंका ही अभ्यास किया है ॥ ३० ॥

अपराजितां वास्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः ।
आ निपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः ॥ ३१ ॥

वानप्रस्थ द्विज जबतक शरीरपात न हो तबतक जल, वायु भक्षण करके योगसाधन करै और ईशान कोणकी ओर सीधे मार्गसे चला जाय, अर्थात् शरीर त्याग दे ॥ ३१ ॥

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्यतमया तनुम् ।
वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

महर्षियोंके इन पूर्वोक्त कर्मोंमेंसे किसी न किसी कर्मसे शरीर छोड़कर ब्राह्मण, शोक और भयरहित होकर ब्रह्मलोकमें पूजन सत्कार पाता है ॥ ३२ ॥

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार आयुके तीसरे भागको वनोंमें विहार करके और आयुके चतुर्थ भागको विषयोंसे त्यागकर संन्यासआश्रमका ग्रहण करै ॥ ३३ ॥

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः ।
भिक्षावलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥

अग्निहोत्र करके और जितेन्द्री होकर और भिक्षा तथा बलिवैश्वदेवकी पूर्ण सेवा करके और एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें जाकर (अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ करके) द्विज परलोकमें वृद्धि पाता है अर्थात् ब्रह्ममें लीन होजाता है ३४

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥

ऋषि, देव और पितृ इन तीनोंके ऋण चुकाकर मोक्षसाधनमें मन लगाना चाहिये, क्योंकि इनका ऋण विना चुकाए मोक्षके लिये यत्न करनेसे नरक प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

विधिपूर्वक वेद पढ़कर, धर्मपूर्वक पुत्र उत्पन्न करके और शक्तिके अनुसार यज्ञ करके मोक्षमें मन लगाना उचित है ॥ ३६ ॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ॥ ३७ ॥

जो द्विज यदि वेद पढ़े, विना संतान उत्पन्न किये और विना यज्ञ किये ही मोक्षकी इच्छा करे तो उसकी अधोगति होती है ॥ ३७ ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ॥ ३८ ॥

प्रजापतियज्ञ समाप्त करके, सर्वस्व दक्षिणा देके, आत्मामें अग्निओंको स्थापन करके ब्राह्मण अपने घरसे जाय और संन्यास आश्रम ग्रहण करै ॥३८॥

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३९ ॥

जो ब्राह्मण सब प्राणियोंको अभयदान देकर और घरसे जाकर संन्यास ग्रहण करता है वह ब्रह्मवादी तेजोमय लोकोंको पाता है ॥ ३९ ॥

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥

जिस द्विजसे किसी प्राणीको थोड़ासाभी भय नहीं होता उसे शरीर छोड़नेके पीछे कहीं भय नहीं मिलता ॥ ४० ॥

अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

द्विजको चाहिये कि घरसे निकलकर, पवित्र दंड, कमंडल साथ लेकर अनायास मिलेहुए पदार्थोंमें इच्छा त्यागकर संन्यास ग्रहण करै ॥ ४१ ॥

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥

सबका संग त्यागनेवाले एककीही मुक्ति होती है यह जानकर जो द्विज सिद्धिके लिये किसीको सहायक न रखकर सदा अकेला विचरता है तो न वह किसीका त्याग करता है और न कोई उसका त्याग करता है, अर्थात् वह सदा सुखदुःखमें ममताको त्याग कर मुक्ति पाता है ॥ ४२ ॥

अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥

(लौकिक) अग्निरहित, गृहहीन, व्याधिकी चिकित्सासे रहित, स्थिरबुद्धि, मौनी और सदा ब्रह्ममें एकाग्रचित्त ऐसा होकर समय वितावै और केवल भिक्षाके लिये गांवमें जाय ॥ ४३ ॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता ।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

मट्टीका सकोरा आदि भिक्षाके पात्र, रहनेके लिये वृक्षकी जड़, जीर्ण (कौपीन, कंथा आदि) वस्त्र, अकेला निवास और सबमें समान दृष्टि रखना ये मुक्तके लक्षण हैं ॥ ४४ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ४५ ॥

जीवन वा मरण किसीकी इच्छा न करै, परंतु जैसे सेवक वेतनके लिये नियत समयकी राह देखता है उसी भांति कालकी प्रतीक्षा करै ॥ ४५ ॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥

मार्गको देखकर पैर रक्खै, वस्त्रसे छानकर जल पिए, सत्यसे पवित्र वचन बोले और पवित्र मनसे सब काम करै ॥ ४६ ॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥

दूसरेके कहे कटु वचन सहले परंतु किसीका अपमान न करै, और इस क्षणभंगुर शरीरसे किसीके साथ शत्रुता न करै ॥ ४७ ॥

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

दूसरेके क्रोध करनेपर उसपर क्रोध न करै, कोई अपनी निन्दा करै तौ भी उससे मीठे वचन बोलै और (कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नाक, मन, बुद्धि) इन सात द्वारोंके विषयकी मिथ्या बातें न मारै, अर्थात् ब्रह्मसंबन्धकी बातें करै ॥ ४८ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥

सदा ब्रह्मका ध्यान करै, योगासनसे बैठे, सब विषयोंसे विरक्त रहै, (दंड कमंडलु आदि) किसी बातकी इच्छा न करै और केवल आत्मसहायसेही अर्थात् अकेलाही मोक्षके सुखका चाहनेवाला संन्यासी इस संसारमें विचरै (अर्थात् सबका संग और ममताको त्यागदे) ॥ ४९ ॥

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥ ५० ॥

भूमिकंप आदि उत्पात वा नेत्रस्पंदन आदि शकुन वा नक्षत्र तथा हाथकी रेखा आदिका फलाफल बताकर अथवा शास्त्रकी आज्ञा दिखाकर किसीसे भीख मांगनेकी इच्छा न करै ॥ ५० ॥

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरगारमुपसंव्रजेत् ॥ ५१ ॥

जिस घरमें अन्य तपस्वी, ब्राह्मण, पक्षी, कुत्ते और अन्य भिक्षुक विद्यमान हों वहां भीख मांगनेकी इच्छासे न जाना चाहिये ॥ ५१ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥

दाढ़ी, मूछ, नख और बाल कटवाकर, दंडकमंडलु तथा भिक्षापात्र लेकर और किसी प्राणीको दुख न देकर इसप्रकार संन्यासीको सदा नियमसहित विचरना चाहिये ॥ ५२ ॥

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ ५३ ॥

उस संन्यासीका भिक्षापात्र धातुका नहो और पात्रमें छेदभी नहो, और जैसे यज्ञमें चमस शुद्ध होते हैं वैसेही इन सब पात्रोंकी जलसे शुद्धि कही गई है ॥ ५३ ॥

अलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा ।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥

तूंवा और काठ, मट्टी तथा बांसका पात्र संन्यासीके लिये स्वायंभुव मनुने कहा है ॥ ५४ ॥

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥ ५५ ॥

संन्यासी प्राणधारण करनेके लिये दिनमें एक वार भीख माँगै और विस्तार-में न लगै क्योंकि भिक्षामें अधिक मन लगानेसे संन्यासी विषयभोगोंमें पड़ जाता है ॥ ५५ ॥

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६ ॥

जव घरमें रसोईका धुआँ वंद हो जाय, मूसलका काम पूरा हो जाय, अग्नि बुझ जाय और गृहस्थके भोजनके वाद जूंठे पात्र फेंक दिये जायँ उस समय संन्यासी भिक्षाके लिये विचरै ॥ ५६ ॥

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ ५७ ॥

संन्यासीको चाहिये कि भीख न मिलनेपर दुखी और मिलनेपर आनंदित न हो; जितनेमें प्राणोंका निर्वाह होसकै उतनाही अन्न मांगले और व्यवहारकी अन्य वस्तुओंमें बुद्धि न करै ॥ ५७ ॥

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते ॥ ५८ ॥

आदरपूर्वक भिक्षापानेकी कभी इच्छा न करै क्योंकि मुक्तिकी अवस्थामें रहनेपरभी संन्यासीको अत्यंत सत्कारसे संसारबंधन हो सक्ता है ॥ ५८ ॥

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

थोड़ेसे अन्नका भोजन और निर्जन स्थानमें निवास करके संन्यासी, विषयोंमें लगी हुई इन्द्रियोंको वहांसे धीरे २ अलग करै ॥ ५९ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥

इन्द्रियोंके रोकनेसे, रागद्वेषादि छोड़नेसे और सब प्राणियोंकी अहिंसासे संन्यासीको मुक्ति मिल सक्ती है ॥ ६० ॥

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः ।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥

कर्मदोषोंसे उत्पन्न जीवोंकी गति, नरकमें पड़ना और यमलोककी यातना इनकी सदा चिन्ता करै ॥ ६१ ॥

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः ।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

प्रिय लोगोंका वियोग, अप्रियोंका संयोग, बुढ़ापा और व्याधिकी पीड़ा ६२

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च संभवम् ।
योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥

इस देहसे जीवात्माका निकलना और फिर गर्भमें जन्मना, तथा करोड़ों सहस्र योनियोंमें आवागमन इन्हें विचारता रहै ॥ ६३ ॥

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम् ।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

यह निश्चय है कि जीवोंका दुःख अधर्मसे और अक्षय सुख, धर्मसे मिलता है ॥ ६४ ॥

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥

योगसे, परमात्माके सूक्ष्म रूपको और उत्तम अधम देहोंमें उत्पत्तिका विचार करै ॥ ६५ ॥

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

चाहे जिस आश्रममें क्यों न हो और (आश्रमके विरुद्ध कर्म करके) दूषित ही हो परंतु सब प्राणियोंमें समदर्शी होकर अपने धर्मका आचरण करै, क्योंकि (दंड आदि) चिन्हका धारण ही धर्मका मुख्य कारण नहीं है ॥ ६६ ॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥

निर्मली वृक्षका फल जलमें डालनेसे जल निर्मल हो जाता है परंतु कोरा उसका नाम लेनेसेही जल निर्मल नहीं होता (उसी भांति धर्म करनेसे धर्म होता है, केवल चिन्हसे नहीं होता) ॥ ६७ ॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा ।
शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

शरीर पीड़ित होनेपर भी दिनमें वा रात्रिमें जीवोंकी रक्षाके लिये सदा भूमि देखकर चलना चाहिये ॥ ६८ ॥

अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून्हिनस्त्यज्ञानतो यतिः ।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत् ॥ ६९ ॥

संन्यासी अज्ञानतासे दिन रातमें जिन सब प्राणियोंको नष्ट करता है उनके पापसे छूटनेके लिये वह स्नान करके छः वार प्राणायाम करै ॥ ६९ ॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥

व्याहृति और प्रणवयुक्त तीन प्राणायाम भी विधिपूर्वक करना ब्राह्मणका परम तप है ॥ ७० ॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१ ॥

जैसे धातुओंके मल तपानेसे साफ होते हैं वैसेही, प्राणायामके द्वारा प्राणोंके रोकनेसे, इन्द्रियोंके सब दोष नाश हो जाते हैं ॥ ७१ ॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ७२ ॥

प्राणायामसे राग आदि दोष, और (परब्रह्ममें) धारणासे पापको दूर करै

और प्रत्याहारसे विषयोंमें जानेवाली इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकनेका यत्न करै, और ध्यानसे जीवके गुण (कामक्रोध आदि) नष्ट करै ॥ ७२ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन संपश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥

देव और पशु आदि योनिमें अन्तरात्माका जाना किस कारणसे होता है यह वात आत्मज्ञानहीन लोगोंके लिये जानना बड़ा कठिन है इसलिये उसे ध्यानयोगसे देखै ॥ ७३ ॥

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निवध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

ब्रह्मज्ञानी पुरुष कर्म बन्धनमें नहीं पड़ता, परंतु जो ब्रह्मज्ञानरहित है वही संसार पाता है ॥ ७४ ॥

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥

ज्ञानी जन अहिंसासे, इन्द्रियोंके विषयोंमें न फँसनेसे, वैदिक कर्मोंसे और उग्र (कृच्छ्र चान्द्रायण आदि) तपसे ब्रह्मपद पाते हैं ॥ ७५ ॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥

यह शरीर हड्डीरूपी स्तंभ, स्नायुरूपी रस्सी, लोहू मांससे लिप्त, चर्मसे ढका हुआ, मूत्र विष्ठासे भरा, दुर्गन्धसे पूर्ण, वृद्धावस्था और शोकयुक्त, अनेक व्याधियोंका स्थान, भूख प्यास आदिसे कातर, रजोगुणयुक्त, अनित्य और (पृथ्वीआदि) पंच भूतोंका निवासस्थान है यह जानकर देहको त्याग दे, अर्थात् ऐसा कर्म न करै कि जिससे फिर देह धारण करना पड़ै ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा ।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

जैसे वृक्ष नदीके तटको अथवा पक्षी वृक्षको छोड़ देता है वैसे ही ज्ञानी इस देहको त्यागकर दुःखरूपी ग्राहसे छुट जाता है ॥ ७८ ॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ ७९ ॥

आत्मज्ञानी, अपने पुत्रादि प्रिय वर्गोंमें पुण्य, और शत्रुओंमें पाप छोड़कर ध्यानके योगसे सनातन ब्रह्मको पाता है ॥ ७९ ॥

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥

इस भांति मनसे जब उन सब विषयोंमें दोष देख उन पदार्थोंसे विरक्त होता है तब इस संसारमें और परलोकमें सदा सर्वत्र अविनाशी सुख मिलता है ८०

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनैः शनैः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥

इसप्रकार (स्त्रीपुत्रादिमें ममतारूपी) सब संगोंको धीरे २ छोड़कर और (आसक्ति, मान, अपमान, सर्दी, गरमी, सुख और दुःख आदि) सब द्वंद्वभावोंसे छुटकर वह ब्रह्ममें ही लीन हो जाता है ॥ ८१ ॥

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ८२ ॥

जो कुछ पहिले कहा है सब ध्यानसे प्राप्त होता है, इसलिये अध्यात्मज्ञान-रहित कोई पुरुष कदापि किसी कार्यका फल नहीं पासक्ता ॥ ८२ ॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥ ८३ ॥

यज्ञ और देवतासंबन्धी जिसमें मंत्र हों और जो आध्यात्मिक हो (अर्थात् जिसमें जीवका स्वरूप हो) और जो उपनिषदोंमें कहाहै उस वेदको सदा जपै ॥ ८३ ॥

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम्।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥

जो वेदोंका अर्थ नहीं जानते उनकी गति वेद है और जो अर्थ जानते हैं उनकीभी गति वेद है, और स्वर्ग तथा मोक्षकी इच्छा करनेवालोंके लियेभी केवल वेदही अवलंब है ॥ ८४ ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ८५ ॥

इस भांति विधिपूर्वक जो ब्राह्मण संन्यास आश्रमका ग्रहण करता है वह इस लोकमें सब पापोंसे रहित होकर परब्रह्मको पाता है ॥ ८५ ॥

एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्।
वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥

तुम लोगोंसे मैंने मनको वशमें करनेवाले संन्यासियोंके धर्मका विधान कहा, अब वेद-विहित कर्मको छोड़नेवाले संन्यासियोंका कर्मयोग सुनो ॥ ८६ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यती ये चारों अलग २ आश्रम गृहस्थसे उत्पन्न हुए हैं ॥ ८७ ॥

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः ।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥

शास्त्रविधिसे क्रमपूर्वक सेवन करनेसे ये सब चारों आश्रम यथोक्तकर्ता ब्राह्मणको परम गतिको पहुंचा देते हैं ॥ ८८ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥ ८९ ॥

इन सब चारों आश्रमोंमें, वेद और स्मृतिकी विधिसे चलनेवाले गृहस्थाश्रमको ऋषियोंने श्रेष्ठ कहा है, क्योंकि वह गृहस्थाश्रम तीनों आश्रमोंका पालन करता है ॥ ८९ ॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ ९० ॥

जैसे सब नदी नद समुद्रमें जाकर स्थित होते हैं वैसेही अन्य सब आश्रमवाले गृहस्थाश्रमके आश्रयसे जीते हैं ॥ ९० ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥

इन चारों आश्रमवाले द्विजातियोंको (नीचे लिखा हुआ) दश प्रकारका धर्म सदा यत्नपूर्वक करना चाहिये ॥ ९१ ॥

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥

संतोष, क्षमा, मनको वशमें रखना, न्यायसे धन लेना, पवित्रता, इन्द्रियोंको वशमें करना, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध ये धर्मके दस लक्षण हैं ॥ ९२ ॥

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥

धर्मके इन दश लक्षणों को जो ब्राह्मण पढ़ते हैं और पढ़कर करते हैं वे परम गतिको पाते हैं ॥ ९३ ॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः ।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥ ९४ ॥

इन दस प्रकारके धर्मोंको सावधान मनसे करके और विधिपूर्वक वेदान्त सुनकर तथा देवपितर और ऋषियोंके ऋणसे छूटकर द्विजको संन्यास ग्रहण करना चाहिये ॥ ९४ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ॥ ९५ ॥

गृहस्थोंके अग्निहोत्रादि सब कर्म त्याग कर और कर्मसे जो दोष होते हैं उन्हें प्राणायाम आदिसे नष्ट करके, जितेन्द्री हो वेद पढ़े; और पुत्रसे वस्त्र भोजन पाकर सुखपूर्वक निवास करै ॥ ९५ ॥

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ।
संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ९६ ॥

इस प्रकार सब अग्निहोत्र आदि कर्मफल त्याग करके और निज ब्रह्मज्ञान-रूप कार्यमें तत्पर होकर, स्वर्गआदिकी इच्छारहित, और संन्याससे पाप नाश-कर, वह द्विज परम गतिको पाता है ॥ ९६ ॥

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥

ब्राह्मणके चारों आश्रमका परलोकमें अक्षय पुण्यदायक यह धर्म कहा—अब आगे राजधर्म सुनो ॥ ९७ ॥ इति ॥

पण्डित रामेश्वर भट्टकृत सरलाटीकासहित मनुस्मृतिका छठा
अध्याय समाप्त हुआ—शुभम् ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥

राजाका आचार, उसकी उत्पत्ति और जिस प्रकार उसकी इसलोक और परलोकमें परम सिद्धि हो उन सब राजधर्मोंको कहताहूं ॥ १ ॥

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

विधिसे वेदोक्त संस्कार होनेपर क्षत्रिय राजाको न्यायपूर्वक सब संसारकी रक्षा करनी चाहिये ॥ २ ॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥

इस जगतमें राजा न होनेसे सब भयसे व्याकुल होते हैं, इसलिये इस सबकी रक्षाके लिये ईश्वरने राजाको उत्पन्न किया है ॥ ३ ॥

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥

इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर इन आठ दिग्पालों-के नित्य अंशसे ईश्वरने राजाको बनाया है ॥ ४ ॥

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥

और इन इन्द्रादि देवताओंके अंशोंसे निर्मित होनेके कारण राजा सब प्राणियोंसे अधिक तेजस्वी होता है ॥ ५ ॥

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥

राजा देखनेवालोंके नेत्र और मनको सूर्यकी भांति तपाता है, और पृथ्वीपर कोईभी राजाकी ओर देखनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ६ ॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥

वह राजा प्रभावमें अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, यम, कुबेर, वरुण और महे-न्द्रके समान है ॥ ७ ॥

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥

राजा बालक हो तो भी इसे साधारण मनुष्य जानकर उसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह एक बड़ा देवता मनुष्यरूपमें विद्यमान है ॥ ८ ॥

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम् ।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम् ॥ ९ ॥

जो अग्निके समीप असावधानीसे जाता है तो वह उस अकेलेको ही ज-लाती है, परंतु राजाकी कोपाग्नि, कुटुंब, पशु और सम्पत्तिसहित मनुष्यको नष्टकर देती है ॥ ९ ॥

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः ।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुन पुनः ॥ १० ॥

प्रयोजनके कार्य, अपनी शक्ति और देशकालको भलीभांति विचार कर राजा धर्मके लिये अनेक प्रकारका रूप धारण करता है ॥ १० ॥

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे ।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥ ११ ॥
तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम् ।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥ १२ ॥

जिसकी प्रसन्नतामें बहुतसी लक्ष्मी बसती है, अर्थात् प्रसन्न होनेपर बहुतसी धन संपत्ति देता है, जिसके पराक्रममें विजय और जिसके कोपमें मृत्यु होती

है ऐसा वह राजा सब तेजोंकी मूर्ति है ॥ ११ ॥ जो पुरुष मोहके वश उससे द्वेष करता है उसका निस्संदेह विनाश हो जाता है, क्योंकि राजा उसके नाश करनेके लिये शीघ्र अपना मन लगाता है ॥ १२ ॥

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥

इसलिये शिष्टोंका प्रतिपालन और दुष्टोंका दमन करनेके लिये वह राजा जो नियम नियत करे उनका उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥

राजाके हितके लिये ईश्वरने पहिलेसे ही प्राणियोंका रक्षक धर्मरूप और ब्रह्मतेजरूप अपने पुत्र दंडको उत्पन्न किया ॥ १४ ॥

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥ १५ ॥

दंडके भयसे सब चराचर प्राणी अपने २ भोगको भोगते हैं, कोई अपने धर्मसे विचलित नहीं होता ॥ १५ ॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ १६ ॥

देश काल, शक्ति और शास्त्रको भलीभाँति देख भालकर राजाको चाहिये कि अन्याय करनेवाले नरोंको यथायोग्य दंड दे ॥ १६ ॥

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १७ ॥

यथार्थमें दंड ही राजा, दंड ही पुरुष, दंड ही राज्यका नेता और शिक्षक है, और ऋषियोंने दंडको ही चारों आश्रमोंके धर्मका साक्षी कहा है ॥ १७ ॥

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १८ ॥

दंड सब प्राणियोंपर राज्य करता है और दंड ही सब प्राणियोंकी रक्षा करता है, सबके सोनेपर केवल दंड ही जागता रहता है, और पण्डित लोग दंडको ही धर्म कहते हैं ॥ १८ ॥

समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥

वह दंड यदि पूर्णरीतिसे विचार कर दिया जाय तो सब प्रजा सुखी रहती और विना विचारे देनेसे सबका विनाश हो जाता है ॥ १९ ॥

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः ।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ २० ॥

यदि राजा आलस्य छोड़कर दंडनीय लोगोंको दंड न दे तो अधिक बलवान् लोग दुर्बल मनुष्योंको इसप्रकार पकालें कि जैसे शूलपर मत्स्योंको पकाते हैं ॥२०॥

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा ।
स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥ २१ ॥

(जो राजा दंड न दे तो) कौवे पुरोडाश खा लें, कुत्ते हवि चाट लें, और किसीका किसीपर अधिकार न रहै—बड़ा छोटेसे सब छीन ले, और नीच शूद्र ऊंच वर्ण कैसे बर्ताव करने लगै ॥ २१ ॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥ २२ ॥

केवल दंडके भयसेही संसार न्यायपथसे चलायमान नहीं होता, क्योंकि स्वभावसे निर्दोष मनुष्य बहुत दुर्लभ है । यह चराचर जगत् दंडभयसेही अपने २ भोग भोगनेमें समर्थ होता है ॥ २२ ॥

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पंते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ २३ ॥

देव, दानव, गंधर्व, राक्षस, पक्षी और सर्पभी केवल दंडभयसे ही अपने २ भोग करनेमें प्रवृत्त होते हैं ॥ २३ ॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥

दंड न देनेसे चारों वर्ण संकर होजाय, शास्त्रके सब नियम नष्ट होजायँ और (चोर आदिसे) प्रजा बहुत दुखी हो ॥ २४ ॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ २५ ॥

जहां श्यामवर्ण, लाल नेत्रवाला, पापनाशक दंड दिया जाता है और दंडकर्ता न्यायपूर्वक दंडविधान करता है वहां प्रजा कदापि व्याकुल नहीं होती ॥ २५ ॥

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥

ऋषिलोगोंने दंड देनेवाले राजाको सत्यवादी, विचार कर काम करनेवाला, भलीभांति धर्म, अर्थ, कामका ज्ञाता, और बुद्धिमान होना कहा है ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥

यदि राजा भलीभांति विचारकर दंड देता हैं तो धर्म, अर्थ और काम-की वृद्धि होती है, और जो राजा, नीच, कामी और अनुचित दंड देनेवाला होता है तो वह उसी दंडसे मारा जाता है ॥ २७ ॥

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥

शास्त्रज्ञानहीन राजाको महातेजस्वी दंड धारण नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह राजधर्मरहित राजाका बांधवोंसहित नाश कर देता है ॥ २८ ॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ।
अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥

(वह दंड) किला, देश, सचराचर लोक और अंतरिक्षमें रहनेवाले ऋषि तथा देवताओंको भी नष्ट करदेता हैं ॥ २९ ॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

जो राजा असहाय, मूर्ख, लोभी, शास्त्रज्ञानहीन, तथा भोगोंमें आसक्त होता है वह कदापि न्यायपूर्वक दंडविधान नहीं करसक्ता ॥ ३० ॥

शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥

धन और देह आदिमें पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ, बुद्धिमान् राजा, उत्तम मंत्रियोंकी सहायतासे शास्त्रके अनुसार दंडविधान करनेमें समर्थ होता है ॥ ३१ ॥

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु ।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ३२ ॥

राजाको अपने राज्यमें न्यायके अनुसार दंडविधान करना, शत्रुओंका तीक्ष्ण दंडसे दमन करना, प्रीतियुक्त मित्रोंके साथ निष्कपट होकर व्यवहार करना, और ब्राह्मणोंपर क्षमा करना उचित है ॥ ३२ ॥

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३ ॥

जो राजा भलीभांतिसे शासन करता है उसे यदि शिल तथा उञ्छ वृत्तिसे भी जीवन निर्वाह करना पड़े तौभी उसका यश जगतमें ऐसे फैल जाता है जैसे जलमें तेलकी बूंद फैल जाती है ॥ ३३ ॥

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥
स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ३५ ॥

परंतु जिस राजाका आचार इससे विपरीत है और जिसने इन्द्रियोंको नहीं जीता है उसका यश इस लोकमें जलमें घृतकी बूंदके समान संकुचित होता है ॥ ३४ ॥ क्रम २ से अपना २ धर्म करनेवाले ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंकी और चारों आश्रमोंकी रक्षाके लिये प्रजापतिने राजाको उत्पन्न किया है ॥ ३५ ॥

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः ।
तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ३६ ॥

प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजाको उत्तम सेवकोंकी सहायतासे जो कुछ करना चाहिये वह सब क्रमसे विधिपूर्वक तुमसे कहता हूं ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः ।
त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥
वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

राजाको प्रतिदिन सबेरे उठकर वेदज्ञ तथा नीतिशास्त्र जाननेवाले ब्राह्मणोंकी सेवा करनी चाहिये और उनकी आज्ञामें चलना चाहिये ॥ ३७ ॥ राजाको पवित्र, वेद जाननेवाले, वृद्ध ब्राह्मणोंकी सेवा सदा करनी चाहिये क्योंकि जो राजा सदा वृद्धोंकी सेवा करता है उसका हित क्रूर राक्षस भी चाहते हैं (फिर मनुष्योंकी क्या गणना है) ॥ ३८ ॥

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥ ३९ ॥

विनीत होने परभी राजा सदा वृद्धोंसे विनयका अभ्यास करै क्योंकि विनयी राजा कभी विनष्ट नहीं होता ॥ ३९ ॥

बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥

विनयरहित होनेसे बहुतसे ऐश्वर्यवान् राजा नष्ट होगए और विनयसे बहुतेरे सदा वनमें रहनेवाले पुरुषोंने राज्योंको प्राप्त कर लिया ॥ ४० ॥

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥ ४१ ॥

वेन, नहुष, सुदास, पैजवन, सुमुख और निमि ये राजा विनयरहित होनेसे विनाश होगये ॥ ४१ ॥

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च ।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ ४२ ॥

राजा पृथु और मनुने विनयसे राज्य पाया, कुबेर धनेश्वर हुए, और क्षत्रियपुत्र विश्वामित्र ब्राह्मण हुए ॥ ४२ ॥

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ ४३ ॥

राजाको चाहिये कि, तीनों वेदके ज्ञाता ब्राह्मणोंसे तीनों वेद, सनातन दंडनीति, तर्कशास्त्र और ब्रह्मविद्या सीखै और अन्य (कृषिवाणिज्य आदि) वार्तोंके आरंभोंको लोकसे सीखै ॥ ४३ ॥

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥ ४४ ॥
दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ४५ ॥

इन्द्रियोंको अपने वशमें करनेके लिये राजाको दिन रात यत्न करना चाहिये क्योंकि जितेन्द्री राजाही प्रजाको अपने वशमें रख सकता है ॥ ४४ ॥ कामसे उत्पन्न हुए दश व्यसन और क्रोधसे उत्पन्न हुए आठ व्यसन हैं (जो आगे कहेंगे) इन व्यसनोंको राजा यत्नपूर्वक छोड़ दे क्योंकि ये अंतमें दुस्सह कष्टदायक हैं ॥ ४५ ॥

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥

कामसे उत्पन्न व्यसनोंमें आसक्त होनेसे राजा निश्चयही धर्मअर्थसे रहित हो जाता है, और क्रोधसे उत्पन्न व्यसनोंमें आसक्त होनेसे तो अपने शरीरसेही वियुक्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥

मृगया, जुआ खेलना, दिनमें सोना, पराया दोष कहना, स्त्रियोंमें आसक्ति, मद्यपान, बजाना, नाचना, गाना और वृथा घूमना ये दश (दोष) कामसे उत्पन्न होते हैं ॥ ४७ ॥

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥

चुगली, दुःसाहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया (गुणोंमें दोषका आरोपण करना) दूसरेकी वस्तु हरना, कठोर वचन बोलना और अनुचित दंड देना ये आठ दोष क्रोधसे उत्पन्न हैं ॥ ४८ ॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ४९ ॥

पण्डित जन कहते हैं कि इन दोनों गणोंका मूल कारण लोभ है इसलिये राजाओंको यत्नपूर्वक लोभ छोड़ देना चाहिये क्योंकि ये दोनों (दोष) गण लोभसेही होते हैं ॥ ४९ ॥

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥

दस प्रकार के कामोत्पन्न दोषोंमें मद्य पीना, जुआ खेलना, स्त्रियोंमें आसक्त होना और शिकार खेलना इन चारोंको राजा अत्यन्त कष्टदायक जाने ॥ ५७ ॥

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥ ५१ ॥

आठ प्रकारके क्रोधोत्पन्न व्यसनोंमें, अनुचित दंड देना, कठोर वचन बोलना, और दूसरे की वस्तु हरना, इन तीनोंको राजा सदा अत्यन्त अनर्थकारी जाने ॥ ५१ ॥

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥

ये सात व्यसन सारे राज्यमेंही व्याप्त हुआ करते हैं, आत्मज्ञानी राजा इनमेंसे पहिले २ व्यसनको दूसरेसे* अधिक कष्टदायक जाने ॥ ५२ ॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥ ५३ ॥

व्यसन और मृत्यु इनमेंसे व्यसन भयंकर है, क्योंकि व्यसनोंमें आसक्त पुरुष शरीर छूटनेपर नरकगामी होता है, परंतु व्यसनहीन मनुष्य शरीर छूटनेपर स्वर्गमें जाता है ॥ ५३ ॥

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ ५४ ॥

वंशपरंपरागत, शास्त्रोंके जाननेवाले शूर, शास्त्रविद्यामें निपुण, कुलीन और परीक्षित ऐसे सात वा आठ मंत्रियोंको राजा नियत करै ॥ ५४ ॥

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किं तु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥

जब कि सहजमें होनेवाला कामभी एक पुरुषसे होना कठिन है तब राज्यका बड़ा भारी कार्य विशेषकर अकेले राजासे होना क्या कठिन न होगा ॥५५॥

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥

सामान्य, सन्धि, विग्रह, दंड, कोश, पुर, राष्ट्र तथा अन्न, सुवर्ण आदिकी उत्पत्तिका स्थान, अपनी तथा देशकी रक्षा और मिला धन सत्पात्रोंको देना, इन बातोंकी सलाह राजाको नित्य अच्छे मंत्रियोंके साथ करनी चाहिये ॥ ५६ ॥

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥ ५७ ॥

पहिले मंत्रियोंमेंसे प्रत्येकका मत पृथक् २ जानकर, पीछे एकत्र हुए सब लोगोंका मत जानकर, जिसमें अपना भला होता दीखै राजा उसेही करै ॥५७॥

---

* द्यूतसे मद्य पीना बुरा, स्त्रियोंमें आसक्त होनेसे जुआ बुरा इत्यादि। कठोर बचनसे अनुचित दंड अधिक कष्टदायक है इत्यादि।

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।
मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥ ५८ ॥

राजाको चाहिये कि († सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय) इन छः विषयोंकी सलाह मंत्रियोंमेंसे धार्मिक, पण्डित और ब्राह्मणके साथ करै ॥ ५८ ॥

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत् ।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥ ५९ ॥

राजाको चाहिये कि सब कर्मका भार विश्वासभावसे सदा उत्तम पण्डित ब्राह्मणपर रक्खै और उसकेही साथ निश्चय करके सब काम करै ॥ ५९ ॥

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥

इसके अतिरिक्त पवित्र (रिशवत न लेनेवाले), बुद्धिमान्, स्वस्थ चित्त, न्यायपूर्वक धन पैदा करनेवाले और भलीभांति परीक्षा किये हुए अन्य मंत्रियोंको नियुक्त करै ॥ ६० ॥

निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥

राजाको चाहिये कि जितने मनुष्योंसे अपना राज्यकार्य चलता दीखै उतने ही आलस्यरहित, चतुर और सुशिक्षित मंत्रियोंको नियुक्त करै ॥ ६१ ॥

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलोद्भवान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥

उनमेंसे पराक्रमी, कुलीन, चतुर और पवित्र (रुपया नहीं उड़ानेवाले) पुरुषोंको तो खनिज, संपत्ति और धान्य आदि संग्रह करनेके स्थानपर नियुक्त करै, और जो डरपोक हों उन्है अपने रनवासमें नियुक्त करै ॥ ६२ ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्भवम् ॥ ६३ ॥

और जो इंगित आकार और चेष्टा का ज्ञाता, कुलीन, सब शास्त्रोंका ज्ञाता, चतुर, पवित्र (अर्थात् रिशवतखोर न हो) उसे दूत नियुक्त करै ॥ ६३ ॥

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥

जो प्रीतियुक्त, (धनमें) पवित्र, चतुर, स्मरणशक्तिवाला, देशकालका ज्ञाता, सुन्दर, निर्भय और बातचीत करनेमें निपुण हो ऐसे राजदूतकी प्रशंसा होती है ॥ ६४ ॥

---

† १६० वें श्लोककी टिप्पणीमें देखना ।

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥ ६५ ॥

दंड सेनापतिके आधीन, विनय दंडके आधीन, कोश और देश राजाके आधीन, और संधिविग्रह दूतके आधीन होते हैं ॥ ६५ ॥

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ ६६ ॥

दूतही अपनेसे विगड़े हुवोंको मिलाता है, और मिले हुओंको फोड़ता है, और दूत परदेशमें जाकर वह कर्म करता है जिससे मेल किये हुए मनुष्य फूट जायँ वा न फूटें ॥ ६६ ॥

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः ।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥

दूतको चाहिये कि शत्रु राजाके कार्योंमें नियुक्त दूतोंके आकार और चेष्टासे उनके आकार, इङ्गित और चेष्टाको समझे, और सेवकोंपर राजाका कैसा वर्ताव है उसे पहिचाने ॥ ६७ ॥

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

योग्य दूतके द्वारा शत्रु राजाके मनका अभिप्राय जानकर राजाको इसप्रकार सावधानीसे रहना चाहिये कि जिससे अपनेको दुःख न हो ॥ ६८ ॥

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् ।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ६९ ॥

राजाको जांगल देशमें रहना चाहिये जो धान्यसे पूर्ण हो, जिसमें धार्मिक रहते हों, रोग आदिसे रहित, रमणीय हो, जिसके आसपासके वासी अपनेसे दबतेहों और जिसमें अच्छी जीविका हो ॥ ६९ ॥

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥

वहां धनुदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, नृदुर्ग और गिरिदुर्ग इन किलोंको बनाकर राजा पुरमें वास करै ॥ ७० ॥

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥

इन छः प्रकार के किलोंमें अनेक गुणोंसे युक्त ऐसा पर्वत दुर्गही सबमें श्रेष्ठ है, इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक राजाको उसीका आश्रय करना चाहिये ॥७१॥

त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः ।
त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः ॥ ७२ ॥

इन सब दुर्गोंमें से पहिले (धनु, मही और जल) दुर्गोंमें मृग, मूसे और नाके बसते हैं, (अर्थात् धनुदुर्गमें मृग आदि पशु, महीदुर्गमें मूषक आदि और जलदुर्गमें नक्र आदि) और पिछले तीन (वृक्ष, नर और गिरि) दुर्गोंमें क्रमसे वानर, मनुष्य और देवता रहते हैं, अर्थात् वृक्षदुर्गमें वन्दर आदि (नरदुर्गमें मनुष्य आदि, और गिरिदुर्गमें देवता वास करते हैं) ॥ ७२ ॥

यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः ।
तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ७३ ॥

जैसे दुर्गमें रहनेसे इन (मृगादि) को (सिंहादि) शत्रु नहीं मार सक्ते वैसेही किलेमें रहनेसे राजाके शत्रु भी उसका अनिष्ट नहीं कर सक्ते ॥ ७३ ॥

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥

किलेके भीतर रहनेवाला एक योद्धा सौ शत्रुओंके साथ लड़ सकता है और एकसौ योद्धा दश हजार शत्रुओंके साथ युद्ध कर सक्ते हैं, इसलिये राजाको अवश्य किला वनवाना चाहिये ॥ ७४ ॥

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः ।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥

अस्त्र, शस्त्र, धन, धान्य, वाहन, ब्राह्मण, शिल्पि, यन्त्र, तृण और जल इन सब वस्तुओंसे किलेको पूर्ण रखना चाहिये ॥ ७५ ॥

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्गृहमात्मनः ।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

इस किलेके बीचमें राजा अपने रहनेके लिये एक महल तयार करावे, जिसमें रनवास, शस्त्रागार, अश्वालय और देवालय आदि अलग २ बने हों, और जो खाई आदिसे भली भांति रक्षित हो और सब ऋतुओंके फल पुष्पोंसे शोभायमान, अत्यंत शुभ्र तथा जल और वृक्षोंसे चारों ओर घिरा हो ॥ ७६ ॥

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ।

उस गृहमें वसकर राजा, स्वजातीय, शुभलक्षणोंवाली, ऊंचे कुलमें उत्पन्न हुई, रूपगुणयुक्त ऐसी कन्यासे विवाह करे ॥ ७७ ॥

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥ ७८ ॥

राजाको चाहिये कि वह पुरोहित नियत करे और ऋत्विजका वरण करे, और वे इसके शांतिकर्म और वेदोक्त कर्मोंको करें ॥ ७८ ॥

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७९ ॥

राजाको अनेक दक्षिणायुक्त अश्वमेध आदि यज्ञ करने चाहियें, और फिर ब्राह्मणोंको धर्मार्थ शय्या आदि भोग्य वस्तु और धन देना उचित है ॥ ७९ ॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥

(वर्षके अंतमें) राजा विश्वासपात्र कर्मचारियोंके द्वारा प्रजासे (सालाना) कर संग्रह करे और उसे लोकमें वेदके अनुसार वर्ते, अर्थात् कर आदि ले, और लोगोंके साथ पिताके समान वर्ताव करे ॥ ८० ॥

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥

राजाको अनेक बुद्धिमान्–लोगोंको अध्यक्ष नियुक्त करना उचित है, और वे इस (राज्य) के कार्य करनेवाले मनुष्योंके सब काम देखते रहें ॥ ८१ ॥

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ८२ ॥

गुरुकुलमें रहकर और विद्या पढ़कर जो ब्राह्मण गृहस्थाश्रममें आए हैं राजाको उनका सत्कार करना चाहिये। क्योंकि ऐसे पात्रोंको धनधान्यादिका दान देना शास्त्रमें अक्षय निधि कहा गया है ॥ ८२ ॥

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति।
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥ ८३ ॥

ब्राह्मणोंको दी हुई अक्षय निधिको शत्रु अथवा चोर नहीं हर सके, और न वह नष्ट होती है, इसलिये राजाको ब्राह्मणोंमें इस अनंतफलदायक अक्षय निधिको स्थापित करना चाहिये, अर्थात् ब्राह्मणोंको धनधान्यादि देना चाहिये ॥ ८३ ॥

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ॥ ८४ ॥

अग्निमें घृतकी आहुति देनेकी अपेक्षा ब्राह्मणोंके मुखमें होमे हुए अर्थात् उनके हाथमें फल अधिक होता है, क्योंकि न वह कभी झरता है, न सूखता है, और न नष्ट होता है ॥ ८४ ॥

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे।
प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ ८५ ॥

ब्राह्मणेतरको देनेसे सम फल, जो अपनेको ब्राह्मण कहै उसको देनेसे द्विगुण फल, जो पढ़ता हो उसे देनेसे लक्षगुण, और वेदपारग ब्राह्मणको दान देनेसे अनन्त फल होता है ॥ ८५ ॥

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते ॥ ८६ ॥

पात्रकी विशेषतासे अर्थात् सुपात्रको पाकर श्रद्धापूर्वक दान देनेसे थोड़ा बहुत दानका फल मनुष्य परलोकमें पाता है ॥ ८६ ॥

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः ।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥

प्रजापालक राजाको चाहिये कि समान बल, हीनबल, और अधिक बलवाले शत्रु राजा जब युद्धके लिये बुलावें तब "युद्धही क्षत्रियोंका धर्म है" यह स्मरण करके युद्धसे कदापि न लौटै ॥ ८७ ॥

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥

ब्राह्मणोंकी सेवा, प्रजाका पालन और युद्धसे न हटना, ये बातें राजाओंके लिये परम कल्याण करनेवाली हैं ॥ ८८ ॥

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ ८९ ॥

युद्धमें एक दूसरेका वध चाहनेवाले, यथाशक्ति युद्ध करने और पीछे न हटनेवाले राजा स्वर्गलोक पाते हैं ॥ ८९ ॥

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून् ।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥ ९० ॥

युद्ध करता हुआ राजा कूट आयुध (जिनमें बाहर काठ और भीतर पैने शस्त्र भरे हों) विषमें बुझे बाण, कर्णीके आकारके फलक युक्त बाण, अथवा जिनका फलक अग्निसे तपाया हो ऐसे बाणोंसे शत्रुके ऊपर प्रहार न करै ॥९०॥

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥ ९१ ॥

(आप रथपर बैठा हो तो) स्थलपर खड़े हुए, नपुंसक, हाथ जोड़नेवाले, खुले केशवाले, आसनपर बैठेहुए, और "मैं तुम्हारा हूं" यों कहनेवाले शत्रुको नहीं मारना चाहिये ॥ ९१ ॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ९२ ॥

जो सोया हुआ, बखतररहित, नग्न, शस्त्ररहित, युद्धसे विमुख, केवल देखनेके लिये आया हुआ, और दूसरेसे युद्धमें जुटा हुआ हो ऐसे शत्रुको राजा न मारै ॥ ९२ ॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३ ॥

सज्जन क्षत्रियोंके धर्मका स्मरण करता हुआ राजा, टूटे आयुधवाले, दुःखी,

घावोंसे विकल शरीरवाले, भयभीत तथा लड़ाईसे भागे हुए शत्रुको न मारे ॥ ९३ ॥

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥

डर कर भागा हुआ जो युद्धमें शत्रुओंसे मारा जाता है तो स्वामीका सब पाप उसपर पड़ता है ॥ ९४ ॥

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५ ॥

युद्धसे भागकर जो पुरुष मारा जाता है उसका परलोकके लिये जोड़ा हुआ जो कुछ पुण्य है, उस सबको स्वामी ग्रहण करता है ॥ ९५ ॥

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥ ९६ ॥

रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धन, धान्य, पशु, स्त्री, (चांदी सौना छोड़कर) तांबा आदि धातु तथा गुड, नौन, घृत आदि सब वस्तुओंमेंसे जो जिसे जीतकर लावै वह उसीकी होती है ॥ ९६ ॥

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥

योद्धा (जीते हुए धनमेंसे) राजाको उद्धार दें, अर्थात् जीते हुए धन, रत्न, हाथी, घोड़ा आदि राजाके अर्पण करदें, और राजा भी सब योद्धाओंको साथमें जीते हुए धनको बांट दे, यही वेदकी श्रुति है ॥ ९७ ॥

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः ।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन्रणे रिपून् ॥ ९८ ॥

योद्धाओंका यह अनिन्दित सनातनका धर्म मैंने तुमसे कहा, युद्धमें शत्रुओंको मारनेवाला क्षत्रिय इस धर्मसे विचलित न हो ॥ ९८ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ ९९ ॥

जो (भूमि, रत्न आदि) नहीं पाया है उसके पानेकी इच्छा करै, और जो धन मिल गया है उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करै, और रक्षित धनको बढ़ावै, और बढ़ाए हुए धनको सुपात्रोंमें दान दे ॥ ९९ ॥

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥

राजाको मनुष्यके लिये इन चार प्रकारके पुरुषार्थ साधनोंको जानना चाहिये और सदा सावधान होकर इनका अच्छीतरह अनुष्ठान करता रहै ॥ १०० ॥

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ १०१ ॥

अप्राप्त (धन)की इच्छा दंडके द्वारा करै, प्राप्त (धन) की देख भालकर रक्षा करै, रक्षितको व्यापार आदिसे बढ़ावै, और बढ़ेहुए धनको सुपात्रोंमें दान करै ॥ १०१ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ १०२ ॥

राजा सदा सेनाको शिक्षा दे, सर्वदा पुरुषार्थ दिखावे, सब कार्योंको गुप्त रक्खै और सदा शत्रुओंके छिद्रोंको खोजता रहै ॥ १०२ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥

जो उद्यत दंड है अर्थात् जिसकी सेना उत्तम रीतिसे शिक्षित है उससे सब जगत् कांपता रहता है, इसलिये राजा दंडसे सब प्राणियोंको वशमें करै ॥१०३॥

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया।
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥

राजाको चाहिये कि सदा (मंत्री आदिमें) निष्कपट व्यवहार करै, कपटसे कभी न करै, और यत्नपूर्वक अपनी रक्षा करता हुआ (दूतके द्वारा) शत्रुकी मायाको सदा जानता रहै ॥ १०४ ॥

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥

राजा ऐसा करै कि अपना शत्रु अपने छिद्रको न जानने पावै किंतु शत्रुके छिद्रको आप जानै, और जैसे कछुआ अपने अंगोंको छुपा लेता है वैसेही राजाभी अपने मंत्री आदि सब अंगोंको दान मानादिसे अपने वशमें करै और दैववश कोई अपनेसे फूट जाय तो उसका उपाय करै ॥ १०५ ॥

बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

राजा बगुले की भांति धनकी चिंता करै, सिंहकी भांति पराक्रम दिखावै, भेड़ियेकी भांति शत्रुका नाश करै, और शशककी भांति भाग जाय ॥ १०६ ॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार विजय करते समय जो अपने विरोधी हों उन सबको साम आदि उपायोंसे अपने वशमें कर ले ॥ १०७ ॥

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥

यदि प्रथम कहे तीन प्रकारके उपायोंसे वे वशमें न हो राजा बलसे दंड देकरही उन्हें धीरे २ अपने वशमें कर ले ॥ १०८ ॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः ।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १०९ ॥

पण्डित लोग, साम, दान, दंड, भेद इन चारों उपायोंमेंसे देशकी वृद्धिके लिये सदा साम तथा दंडकी प्रशंसा करते हैं ॥ १०९ ॥

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥

जैसे किसान शस्यकी रक्षा करता है और तृणोंको उखाड़कर फैंक देता है वैसेही राजाको शत्रुओंका नाश करके देशकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ११० ॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥ १११ ॥

जो राजा मोहसे भले बुरेको नहीं पहिचानकर अपनी प्रजाको कष्ट देता है वह शीघ्रही राज्यसे भ्रष्ट होकर कुलसहित नष्ट होजाता है ॥ १११ ॥

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२ ॥

जैसे (भोजन न मिलनेसे) शरीर सूखकर प्राणियोंके प्राण नष्ट होजाते हैं वैसेही देशको पीड़ा देनेसे राजाओंके प्राण नष्ट हो जाते हैं ॥ ११२ ॥

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३ ॥

देशकी (उत्तम रीतिसे) रक्षा करनेके लिये राजा (इन आगे कहे) नियमोंको नित्य करै क्योंकि देशके सुरक्षित होनेसेही राजा सुखी होता है ११३

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११४ ॥

दो गांवोंके वा तीन गांवोंके वा पांच गांवोंके वा सौ गांवोंके बीचमें रक्षापुरुष (चौकीदार) और उनके ऊपर दारोगा जिसमें हों ऐसा थाना नियत करै ॥ ११४ ॥

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११५ ॥

राजा प्रत्येक गांवमें एक २ अधिपति, फिर क्रमसे दश गांवोंका अधिपति, फिर बीस गांवोंका अधिपति, फिर सौ गांवोका और हजार गांवोंका अधिपति नियुक्त करै ॥ ११५ ॥

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥ ११६ ॥

ग्राममें चोरी आदि दोष होनेपर गांवका स्वामी आप धीरेसे दशग्रामके अधिपतिसे और दशग्रामोंका अधिपति बीसग्रामोंके अधिपतिसे जाकर निवेदन करै ॥ ११६ ॥

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥

इसी प्रकार बीस ग्रामका अधिपति सौ गांवोंके अधिपतिसे और सौ गाँवोंका अधिपति हजार गांवोंके अधिपतिसे वह सब कहै ॥ ११७ ॥

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

गाँवके लोग जो अन्न, जल और लकड़ी प्रतिदिन राजाको देंगे वह सब ग्रामका अधिपति आप (अपने खर्चके लिये) लेगा ॥ ११८ ॥

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च ।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ ११९ ॥

दशग्रामोंका स्वामी (अपने निर्वाह के लिये) एक *कुलको, बीस गांवका स्वामी पांच कुलको, सौ ग्रामोंका स्वामी एक ग्रामको और हजार गांवोंका स्वामी एक नगरको भोगेगा ॥ ११९ ॥

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि ।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ १२० ॥

उन गांवोंके रहनेवालोंके ग्रामसंबन्धी तथा अन्य जो अलग २ कार्य हैं उनको राजाका हितकारी मंत्री आलस्य छोड़कर देखै ॥ १२० ॥

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥

राजा नगर २ में एक २ ऐसे उच्च पदवाले कार्य–द्रष्टाको नियुक्त करै जो सब कार्योंकी चिंता करै और वह (हाथी घोड़े आदि ठाठ बाटसे) ऐसा तेजस्वी लगै जैसे नक्षत्रोंमें शुक्र आदि ग्रह लगते हैं ॥ १२१ ॥

स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥

वह नगरका अधिकारी उन गांवोंके सब स्वामियोंकी सदा स्वयं देख भाल करै और उन गांवोंके दूतोंद्वारा देश २ में उन गांवके स्वामियोंका आचरण अच्छी भांति जाने ॥ १२२ ॥

---

*छः बैलोंका हल, ऐसे दो हलोंसे जितनी भूमि जोती जाय उसे कुल कहते हैं। आठ बैलोंका धर्म का हल, जीविका वालोंका छः बैलोंका, गृहस्थोंका चार बैलोंका और ब्रह्महत्यावालोंका दो बैलोंका एक हल होता है.

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२३ ॥

रक्षाके लिये नियत किये गए राजाके सेवक बहुधा पराये धनके ग्राहक और ठग होते हैं इसलिये उनसे इस प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १२३ ॥

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥

जो पापबुद्धि सेवक काम(मुकद्दमें)वालोंसे (भय दिखाकर वा धमका कर) धन (रिश्वत) लें राजा उनका सर्वस्व हरकर उन्हें देशसे निकालदे १२४

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥

राजकार्यमें नियुक्त जो दास दासी जन हैं उनकी आजीविका उनके पद और कर्मके अनुसार राजाको सदा निश्चित कर देनी चाहिये ॥ १२५ ॥

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥ १२६ ॥

नीच दास वा दासीको नित्य एक पण वेतन, छठे महीने एक जोड़ा वस्त्र, और महीनेमें एक द्रोण अन्न, और उत्तम भृत्यको इससे छः गुना देना चाहिये १२६

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥ १२७ ॥

खरीदने और बेचनेका मूल्य, मार्ग, भोजन और रक्षाका खर्च और नफा इसका हिसाब करके व्यापारीसे (वस्त्रादि और भोजनकी वस्तुओंपर) कर लेना चाहिये ॥ १२७ ॥

तथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम् ।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥ १२८ ॥

जिसमें राजा और कृषी आदि कर्मोंके करनेवाले अपने २ कर्मोंका फल पा सकें ऐसा विचार कर राजाको देशोंमें कर लगाने चाहियें ॥ १२८ ॥

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥ १२९ ॥

जैसे जोंक रुधिर बछड़ा दूध, और भौंरा शहद थोड़ेसे थोड़ा पीते हैं वैसेही राजाको देशमेंसे थोड़ा २ सालाना कर लेना चाहिये ॥ १२९ ॥

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥ १३० ॥

राजाको सौना और पशुके लाभमेंसे पचासवां हिस्सा और धान आदिका छठा, आठवां और बारहवां हिस्सा कर लेना चाहिये ॥ १३० ॥

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ ॥

वृक्ष, मांस, शहद, घी, गंध, औषधि, रस और पुष्प, मूल, फल इनके लाभमेंसे छठा भाग कर लेना चाहिये ॥ १३१ ॥

पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च ।
मृण्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ १३२ ॥

शाक, पत्र, तृण, चर्म, बांसके पात्र, मिट्टीके पात्र और पाषाणके पात्रों परभी राजा छठा भाग कर ग्रहण करै ॥ १३२ ॥

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् ।
न च क्षुधास्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥ १३३ ॥

राजा मरणतुल्य होनेपरभी वेदपाठी ब्राह्मणसे कर न ले, और राजाके देशमें बसनेवाला वेदपाठी क्षुधासे पीड़ित न होने पावै ॥ १३३ ॥

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १३४ ॥

जिस राजाके देशमें वेदपाठी क्षुधासे दुखी होता है उस राजाका देशभी दुर्भिक्षसे पीड़ित हो शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ १३४ ॥

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ।
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥

इसलिये राजाको चाहिये कि वेदपाठीका शास्त्रज्ञान और आचरण जानकर धर्मकी जीविका नियत कर दे और जैसे पिता अपने खास पुत्रकी रक्षा करता है वैसेही इस वेदपाठीकी सब भांति रक्षा करै ॥ १३५ ॥

संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम् ।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

राजासे रक्षित होकर (वेदपाठी) जो नित्य धर्मानुष्ठान करता है उससे राजाके राज्य, धन और आयुष्यकी वृद्धि होती है ॥ १३६ ॥

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥

राज्यमें सामान्य वस्तुओंके क्रयविक्रयकी जीविका करनेवाले नीच मनुष्योंसे भी राजाको थोड़ासा कर प्रतिवर्ष लेना चाहिये ॥ १३७ ॥

कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ १३८ ॥

कारीगर, शिल्पी, लोहार और शूद्र देहके क्लेशसे जीनेवाले अर्थात् बोझ ढोनेवाले इनसे राजा महीनेमें एक २ दिन काम करालै ॥ १३८ ॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥

राजा कर न लेनेसे अपनी मूल और अतितृष्णासे बहुत कर लेनेसे प्रजाकी मूल नष्ट न करै, क्योंकि अपनी जड़के नाशसे अपनेको और प्रजाकी जड़ उखाड़नेसे प्रजाको पीड़ा होती है ॥ १३९ ॥

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः ॥ १४० ॥

कार्यको देखकर राजाको कोमल और कठोर होना चाहिये, क्योंकि कर्मके अनुसार कोमल और कठोर राजा सबको प्रिय लगता है ॥ १४० ॥

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम् ॥ १४१ ॥

प्रजाके कार्योंकी देख भाल करनेमें अशक्त होनेपर राजाको चाहिये कि धर्मज्ञ, पण्डित, कुलीन और जितेन्द्री ऐसे मुख्य मंत्रीको राजसिंहासनपर बैठावै ॥ १४१ ॥

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२ ॥
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स नतु जीवति ॥ १४३ ॥

इस प्रकार राजा अपने करने योग्य कार्योंको करता हुआ, उद्योगी और सावधान होकर इस प्रजाकी रक्षा करै ॥ १४२ ॥ मंत्रीसहित राजाके देखते २ रोतीहुई प्रजा जिस देशमें चौरोंके द्वारा लूटी जाती है वह राजा मर हुआ है, जीता नहीं है ॥ १४३ ॥

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४ ॥

प्रजापालन ही क्षत्रीका श्रेष्ठ धर्म है इसलिये शास्त्रोक्तफल (कर आदि)का भोक्ता राजा धर्मके फलका भोक्ता होता है ॥ १४४ ॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥ १४५ ॥
तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥ १४६ ॥

राजा रातके पिछले प्रहरमें उठकर शौचादिके अनंतर सावधान होकर और प्रतिदिन अग्निहोत्र तथा ब्राह्मणोंका सत्कार करके श्रेष्ठ सभामें जाय ॥१४५॥ सभामें स्थित हो राजा सब प्रजाको संतुष्ट करके विदा करै और सब प्रजाको विदा करके मंत्रियोंके साथ सलाह करै ॥ १४६ ॥

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः॥ १४७॥

पर्वतके ऊपर, (शून्य) महलके ऊपर, निर्जन स्थानमें अथवा जंगलमें औरोंसे छुपकर सलाह करै॥ १४७॥

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः॥ १४८॥

क्योंकि जिस राजाके मंत्रको अन्यलोग एकत्र होकर नहीं जानते निर्धन होता हुआ भी वह राजा सब पृथ्वीको भोगता है॥ १४८

जडमूकान्धबधिरांस्तैर्यग्योनान्वयोऽतिगान्।
स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत्॥ १४९॥

मूर्ख, गूंगे, अंधे, बहिरे, बहुत बूढ़े, (शुकसारिका आदि) पक्षी, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी और विकलांग इनको राजा सलाहके समय हटा दे॥ १४९॥

भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तैर्यग्योनास्तथैव च।
स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत्॥ १५०॥

ये (जड़ आदि) अपमानित होनेसे तथा (शुक सारिका) पक्षी और विशेष कर स्त्रियां (अस्थिर बुद्धि होनेसे) मंत्रका भेद खोल देते हैं, अर्थात् दूसरेके सामने कहते फिरते हैं, इसलिये राजा उन्हैं यत्नपूर्वक हटादे॥१५०॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा॥ १५१॥

राजा विश्राम करके और खेदरहित होकर अकेला वा मंत्रियोंसहित मध्याह्नके वा अर्धरात्रिके समय धर्म, अर्थ, काम इनकी चिन्ता करै॥ १५१॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥ १५२॥

परस्परविरुद्ध धर्म, अर्थ, कामके संचयकी, कन्यादान और कुमारोंके रक्षाकी चिन्ता करै॥ १५२॥

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम्॥ १५३॥

दूसरोंके राज्यमें दूत भेजनेकी, (जो कार्य आरंभ किया है उस) कामकी समाप्तिकी, अंतःपुरकी, स्त्रियोंके* व्यवहारकी और (विपक्षी राजाओंमें नियुक्त) दूतोंकी चेष्टाकी चिन्ता करै॥ १५३॥

---

* चोटीमें छुपाये हुए शस्त्रसे रानीने विदूरथको मारडाला था। और विषयुक्त नूपुरसे विरक्त रानीने काशीराजको मार दिया था; यथा "शस्त्रेण वेणी विनिगूहितेन विदूरथं वै महिषी जघान। विषप्रदिग्धेन च नूपुरेण देवी विरक्ता किल काशिराजम्"

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः ।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १५४ ॥

संपूर्ण अष्टविधकर्म, पंचवर्ग, अनुराग, विराग और मंडलका प्रचार–इनकी चिंता राजाको यथार्थरूपसे करनी चाहिये ॥ १५४ ॥

---

१ अष्टविध कर्म ये हैं (१) आदान (करोंका लैना), (२) विसर्ग (सेवक आदिको धन देना), (३) प्रेष (मंत्री आदिको भेजना), (४) निषेध (विरुद्ध कार्योंको न करना), (५) अर्थका कथन (संदिग्ध कार्यकी व्यवस्था), (६) व्यवहारका देखना (प्रजाके ऋण आदि विवादमें निर्णय करना), (७) दंड देना, (८) शुद्धि (पापीका प्रायश्चित्त)॥

मेधातिथिने अष्टविध कर्म ये कहे हैं । (१) नहीं किये कार्यका आरंभ, (२) आरंभ किये कार्यकी समाप्ति, (३) किये हुए कर्मके भेद, (४) कर्मके फलोंका संग्रह, (५) साम, (६) दाम, (७) दंड, (८) भेद, अथवा (१) व्यापारका मार्ग, (२) जलमें सेतु बांधना, (३) दुर्ग बनाना, (४) कियेहुए कार्यके संस्कारोंका निर्णय, (५) हाथीका बंधन, (६) खानका खोदना, (७) शून्यस्थानमें प्रवेश, (८) काष्ठके वनोंका छेदन ॥

२ पांच प्रकारके दूतोंका निर्णय करना.

(१) कापटिक—जो दूसरेके मर्मको जाने, जिसके शिष्य प्रगल्भ हा, जा कपटसे व्यवहार करै और जीविकाका अभिलाषी हो । इस दूतको धन और मान देकर एकांतमें यह कहै कि तुम जिसका बुरा आचरण देखो मुझसे तत्काल कहो·

(२) उदास्थित—अर्थात् पतित संन्यासी, जिसका जगतमें दोष विदित है उसे बुद्धि और पवित्रतासे युक्त करके, उसे अपना आजीविका का अर्थी बनाकर उसकोभी राजा एकांतमें कापटिकके समान उपदेश करै, जिसमें बहुतसी आय हो ऐसे भठमें स्थापित करै और उसकी आजीविकाके लिये जिसमें बहुतसा धनधान्य हो ऐसी एक दूसरी भूमि उसके लिये नियत कर दे । वह भ्रष्ट संन्यासी राजाका कार्य करनेवाले दूसरे संन्यासियोंको भोजन और वस्त्र दे ॥

(३) कृषक (किसान) जिसकी कुछ आजीविका न हो और जो नामका गृहस्थी हो, जो बुद्धिमान् और निष्कपट हो, उसेभी पहिलेकी भांति उपदेश करके अपनी भूमिमें उससे खेती करावै ॥

(४) वाणिजक—जिसकी आजीविका न हो, जो बहानेका व्यौपारी हो, उसकोभी पहिलेकी भांति उपदेश करके और धन और मानसे उसे अपने आधीन करके उससे बनियेका कर्म करावै ॥

(५) तापस व्यंजक—जो जीविकासे रहित मुंडित हो वा जटाधारी हो, उसके लिये गुप्त जीविका कर दे और वह किसी आश्रममें रहकर बहुतसे मुंडित और जटाधारी दूसरे कपट शिष्यगणोंसहित तप करै । महीने वा दो महीने

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् ।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ १५५ ॥

मध्यमका[1] प्रचार, विजिगीषुकी[2] चेष्टा, उदासीन[3] और शत्रु दोनोंका प्रचार इनको चिन्ता बड़े यत्नसे करै ॥ १५५ ॥

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः ।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः ॥ १५६ ॥

राजमंडलकी ये चार मूल प्रकृतियां संक्षेपसे कही हैं, और *आठ और भी प्रकृतियां कही हैं इसलिये सब बारह प्रकृतियां हैं ॥ १५६ ॥

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः ।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥

अमात्य, देश, दुर्ग, कोश और दंडके भेदसे ये बारह प्रकृतियां प्रत्येक पांच २ प्रकारकी होती हैं इसलिये ये सब संक्षेपसे कही गई हैं ॥ १५७ ॥

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च ।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥

अपने राज्यके समीपके राजाको और शत्रुसेवी राजाको शत्रु, शत्रुके अन्तर्वर्तीको मित्र, और इनसे अन्य राजाओंको उदासीन जाने ॥ १५८ ॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः ।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥

इन सब शत्रु आदि राजाओंको साम आदिमेंके एक २ उपायसे अथवा सब उपायोंसे वा केवल दंडसे वा सामसे वशमें करै ॥ १५९ ॥

तक सबके आगे मुट्ठीभर बेर आदिका भक्षण करै और एकान्तमें राजाके लिये भोजनको करै; और इसके शिष्य इसकी सिद्धाईको कहते फिरैं कि हमारे गुरु भूत-भविष्यतको जानते हैं। इसलिये बहुतसे मनुष्य विश्वासके योग्य कार्य और अकार्यको पूछेंगे और दूसरेके कुकर्म आदिको कहेंगे। इस प्रकार पंचवर्गको नियत करके राजा विपक्षी राजाके और अपने मंत्रियोंकी प्रीति और अप्रीतिको जाने और फिर मंडलके प्रचारका विचार करै कि कौनसा राजा सन्धि चाहता है कौनसा विग्रह चाहता है ॥

१. जो शत्रुके जीतनेकी इच्छा करनेवालेकी भूमिके पास रहता हो और दोकें मेलमें अनुग्रहकी और पृथक् होनेपर दंड देनेकी सामर्थ्य रखता हो उसे मध्यम कहते हैं। (२) बुद्धि, उत्साह, गुण और स्वभाव इनमें जो समर्थ हो उसे विजि-गीषु कहते हैं। (३) जो मध्यम और विजिगीषुके मेलमें अनुग्रह और अनमेलमें दंडको दे सकै उसे उदासीन कहते हैं ॥

* मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र, अरिमित्रमित्र, पार्ष्णिग्राह, आक्रंद, पार्ष्णिग्राहासार और आक्रंदासार ॥

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६० ॥

संन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, और संश्रय इन छः गुणोंकी राजा सदा चिन्ता करे ॥ १६० ॥

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥

अपनी वृद्धि और शत्रुकी हानिरूप कार्यको देखकर आसन, यान, सन्धि, विग्रह, द्वैध और संश्रय इनका प्रयोग करे ॥ १६१ ॥

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥

संधि, विग्रह, यान, आसन और संश्रय इनको राजा दो २ प्रकारके जाने ॥ १६२ ॥

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तदात्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥ १६३ ॥

संधि दो प्रकारकी जाननी चाहिये। वर्तमान वा भावी लाभकी आशासे, किसीके साथ मिलकर जो शत्रुके ऊपर चढ़ाई करना है उसे समान यानकर्मा; और आपसकी संमतिसे अलग २ चढ़ाई करना इसे असमानयान कर्मा संधि कहते हैं ॥ १६३ ॥

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥ १६४ ॥

विग्रह भी दो प्रकारका हैं—राजा जिसको समयपर अर्थात् मार्गशिर आदि कालसे अपने कार्यके लिये स्वयं करे यह पहिला है, और राजा जो कुसमयमें अर्थात् मार्गशिर आदि कालके विना अपने मित्रके किसी शत्रु राजाके अपकार करनेपर करता है वह दूसरा है ॥ १६४ ॥

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥

---

१. आपसमें भलाईके लिये हाथी घोड़े धन आदिके प्रबन्धसे जो आपसमें मेल हो जाता है उसे सन्धि कहते हैं।

२. आपसमें युद्धका होना.

३. शत्रुपर चढ़ाई करना.

४. शत्रुको घेर कर पड़े रहना.

५. फोड़ तोड़ करना.

६. बलवान्‌का आश्रय लेना.

यान भी दो प्रकारका है (१) अकस्मात् अर्थात् आवश्यक काम आ पड़ने पर अकेले चढ़ाई करना और (२) स्वयं असमर्थ होनेसे मित्रके साथ मिलकर चढ़ना ॥ १६५ ॥

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा ।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ १६६ ॥

आसन भी दो प्रकारका है-एक तो अकस्मात् वा पूर्वजन्मके संचित पापसे जिसका हाथी, घोड़ा, कोश आदि क्रमसे क्षीण होगया उसका पड़े रहना, और दूसरा मित्रके आग्रहसे शत्रुको घेरे पड़े रहना ॥ १६६ ॥

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥ १६७ ॥

पूर्वोक्त छः गुणोंके गुणोंको जाननेवालोंने द्वैधभी दो प्रकारका कहा है-कार्यसिद्धिके लिये सेनाके दो भाग करके एक दलका प्रधान तो सेनापतिको करना और दूसरे दलका राजाको स्वयं नायक बनकर रहना ॥ १६७ ॥

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥

संश्रय भी दो प्रकारका है-शत्रुओंसे पीड़ित होकर उसके प्रतीकारके लिये किसी बली राजाका आश्रय लेना, अथवा होनहार पराभवकी शंकासे ही दूसरे राजाका आश्रय लेना ॥ १६८ ॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत् ॥ १६९ ॥

जब राजा निश्चय समझले कि थोड़े दिनके अनन्तरही अपनी सेना बढ़ैगी तब शीघ्रही थोड़ी हानि सहकर भी सन्धि करले ॥ १६९ ॥

यदा प्रकृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ १७० ॥

जब राजा अपने प्रकृतिवर्गको अत्यंत संतुष्ट जाने और अपनेको भी (हाथी, अश्व, कोश आदिसे) अधिक संपन्न जाने तब युद्ध करना चाहिये ॥ १७० ॥

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥ १७१ ॥

जब राजा ठीक २ अपनी सेनाको हृष्ट पुष्ट जानले और शत्रुकी दशा इसके विपरीत जाने तब शत्रुपर चढ़ाई करै ॥ १७१ ॥

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥ १७२ ॥

जब राजा देखै कि अपने यहां वाहन और सेना बहुत कम है तब शत्रुओंको धीरे २ शांत करके चुपका बैठा रहै ॥ १७२ ॥

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः॥ १७३॥

जब राजा शत्रुको सब प्रकार अधिक बलवान् जाने तब (शत्रुको उलझा रखनेके लिये) सेनाके दो भाग करके एक दल वहां भेजे और दूसरा दल अपने पास रख यों द्वैधसे अपना कार्य साधन करै॥ १७३॥

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम्॥ १७४॥

जब राजा (मंत्री आदि प्रकृतिके दोषसे) कहीं भी रहकर नहीं बचसका तब उसे बहुत शीघ्र धार्मिक और बली राजाका आश्रय लेना चाहिये॥ १७४॥

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा॥ १७५॥

जिन प्रकृतियोंके दोषसे आप नहीं बच सका उस प्रकृतिवर्गको और जिस राजाका डर हो उस शत्रुकी सेनाको जो दंड देनेमें समर्थ हो उस राजाकी सब प्रकारसे नित्य इस प्रकार सेवा करै जैसे गुरुकी करते हैं॥ १७५॥

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम्।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत्॥ १७६॥

और यदि वहां उस आश्रयमें भी दोष देखै तो शंकाको त्याग अच्छी तरहसे युद्ध आरंभ करै॥ १७६॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः॥ १७७॥

नीतिज्ञ राजा सामआदि सब उपायोंसे ऐसा कार्य करै कि जिसमें इसके मित्र, उदासीन व शत्रु अधिक नहों॥ १७७॥

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः॥ १७८॥

सब कार्योंके गुण और दोषोंको तथा वर्तमान भूत और भविष्यत् अवस्थाके गुण और दोषोंको भली भांति विचार करै॥ १७८॥

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते॥ १७९॥

जो राजा भविष्यके गुणदोषोंको समझता है, उपस्थित कार्योंको शीघ्र निश्चयकर पूर्ण करता है और बीतीहुई घटनाओंमें कार्य शेषको देखता है वह कदापि शत्रुओंसे पराजित नहीं होता॥ १७९॥

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः॥ १८०॥

राजाको अपना कार्य ऐसी उत्तम रीतिसे करना चाहिये कि मित्र, उदासीन वा शत्रु कोईभी उसे पीड़ित न कर सकै। संक्षेपसे यही राजनीति कही गई है ॥ १८० ॥

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः।
तदानेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥

जब राजा शत्रुके राज्यपर चढ़ाई करै तब उसे नीचे लिखी इस रीतिके अनुसार शत्रुके नगरकी ओर और २ बढ़ना चाहिये ॥ १८१ ॥

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः।
फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥ १८२ ॥

राजाको चाहिये कि शुभ अगहन, फाल्गुन वा चैत्रके महीनेमें दूसरे राजाके बलको देखकर चढ़ाई करै ॥ १८२ ॥

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद्ध्रुवं जयम्।
तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥ १८३ ॥

अन्य मासोंमें भी जब राजा समझे कि अपनी विजयकी पूरी आशा है अथवा शत्रु विपद्ग्रस्त है तब सेनासहित उसपर चढ़ाई करै ॥ १८३ ॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च ॥ १८४ ॥
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५ ॥

अपने मूलमें (अर्थात् देश और दुर्गमें) प्रधान पुरुषको नियत करके, यात्राके उपयोगी (अन्न शस्त्र वाहन आदि वस्तुओंकी) यथायोग्य व्यवस्था करके, पराये राज्यमें रहनेके योग्य तम्बू आदिका संग्रह और दूतोंको भली भांति नियुक्त करके, (जंगल, वन और जलके) तीन प्रकारके मार्गोंको साफ करके तथा अपने हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, सेना और सेवक इनको प्रसन्न कर संग्रामके योग्य विधिसे धीरे २ शत्रुके देशकी ओर बढ़ै ॥ १८४ ॥ १८५ ॥

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६ ॥

जो मित्र छिपकर शत्रु राजाकी सेवा करै और जो मित्र विरक्त होकर चला जाय और फिर आजाय इनसे अत्यन्त सावधान रहै, क्योंकि ये बड़े कष्टदायक शत्रु हैं ॥ १८६ ॥

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥ १८७ ॥

चढ़ाईके समय राजा दंडव्यूह, शकटव्यूह, वराहव्यूह, मकरव्यूह, सूचीव्यूह वा गरुड़व्यूह रचकर चलै ॥ १८७ ॥

यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम् ।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥ १८८ ॥

जिधरसे राजाको विपद्का अधिक संदेह हो उसही ओर अपनी सेनाको बढ़ावै और पद्मव्यूह बनाकर स्वयं गुप्त भावसे शत्रुके देशमें प्रवेश करै ॥१८८॥

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥ १८९ ॥

सेनापतियोंको तथा सेनाध्यक्षोंको सब दिशाओंमें नियुक्त करै और जिधरसे आक्रमणकी शंका हो उसहीको पूर्वदिशा मानै ॥ १८९ ॥

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समंततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥ १९० ॥

जो स्थान और युद्धमें निपुण हो, जो डरपोक न हो तथा कदापि रणक्षेत्रसे पीछै न हटती हो ऐसी संकेतके जाननेवाली उत्तम सेनाके कुछ अंगोंको राजा चारों ओर स्थापित करै ॥ १९० ॥

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥ १९१ ॥

जो थोड़ी सेना हो तो एकत्र करके लड़वावै और बहुतसे योधा हों तो इच्छानुसार फैलाकर सूचीव्यूह और वज्रव्यूहसे राजा युद्ध करावै ॥ १९१ ॥

---

१. सबसे आगेसे नाका-अध्यक्ष, मध्यमें राजा, सबसे पीछे सेनापति, और दोनों पार्श्वोंमें हाथी और उनके पास घोड़े और उनके पास सर्वत्र समान और दीर्घ पैदल हों, इसप्रकारकी सेनाकी रचनाको दंडव्यूह कहते हैं। २. जिसकी रचना सुईके समान आगे से पतली और पीछेसे मोटी हो उसे शकटव्यूह कहते हैं। ३. जिसका अग्रभाव पतला और मध्य तथा अंतका भाग मोटा हो उसे वराहव्यूह कहते हैं । ४. जिसका अग्रभाग मोटा हो मध्यभी मोटा हो और पिछला भाग पतला हो उसे मकरव्यूह कहते हैं। ५. चैंटियोंके समान अग्र और पश्चाद्भाग हो अर्थात् कभी कोई आगे पीछे न हो और शूरवीर पुरुष अग्रभागमें रहैं उसे सूचीव्यूह कहते हैं । ६. जिसका अग्रभाग सूक्ष्म, पिछला भाग मोटा और मध्यका भाग अत्यंत मोटा हो उसे गरुडव्यूह कहते हैं—

(७) जिस सेनाका विस्तार चारोंओरसमान हो और मध्यनें जिगीषु राजा हो उस सेनाकी रचनाको पद्मव्यूह कहते है.

(८) हाथी, घोड़े, रथ, पैदल रूप सेनाके दश अंगोंके पतिको पत्तिक कहते हैं, और दश पत्तिकोंके पतिको सेनापति कहते हैं।

(९) दश सेना पतिकोंके पतिको बलाध्यक्ष वा सेनाध्यक्ष कहते हैं।

स्यन्दनाश्वैः समे युद्ध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥

समभूमिमें सवार और रथी सेनासे, जलमें नौका और हाथियोंसे, वृक्ष तृण और लतासे पूर्ण स्थानमें धनुषबाणसे और सुथरी भूमिमें ढाल तलवारसे युद्ध करै ॥ १९२ ॥

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालाञ्शूरसेनजान् ।
दीर्घांल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥ १९३ ॥

कुरुक्षेत्र, विराट, पांचाल, और मथुराके, और लघु तथा दीर्घ शरीरवाले अन्यान्य देशोंके योधाओंको सेनामें सबसे आगे स्थापित करै ॥ १९३ ॥

प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्परीक्षयेत् ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥ १९४ ॥

व्यूह रचकर सेनाका हर्ष बढ़ावै और फिर उसकी परीक्षा करै और शत्रुओंके साथ लड़ते हुए अपने योधाओंकी चेष्टाको पहिचाने ॥ १९४ ॥

उपरुद्ध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥

किलेमें हो वा बाहर हो युद्ध करते हुए शत्रुको घेर कर पड़ा रहै और इसके देशको उजाड़ कर शत्रुके अन्न, जल, तृण और काष्ठ आदि वस्तुओंको सदा दूषित करै अर्थात् बुरी वस्तुसे भ्रष्ट करदे ॥ १९५ ॥

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥

तालाब, किलेकी खाई आदिको नष्टकरके मट्टी आदिसे भरकर जलरहित कर शत्रुको दबा ले, और रातको (नरसिंहा आदि) बाजा बजाकर उसे भयभीत करै ॥ १९६ ॥

उपजप्यानुपजपेद्बुध्येतैव च तत्कृतम् ।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥

राजाको चाहिये कि (राज्य चाहनेवाले और) तोड़ फोड़ करने योग्य ऐसे शत्रुवंशके मंत्री आदिकोंको अपने वशमें करले और उनकी सब चेष्टा जानकर शुभग्रह और शुभ मुहूर्तमें जयकी इच्छावाला राजा निर्भय चित्तसे युद्ध करै ॥ १९७ ॥

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥

साम, दान भेद, इन तीनों उपायोंमेंसे किसी एकका वा एक साथही तीनोंका प्रयोग करके राजा शत्रुको जीतनेका यत्न करै, परंतु पहिले कदापि युद्धकी चेष्टा न करै, ॥ १९८ ॥

अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥

युद्ध करते हुए दोनों पक्षोंमेंसे जीत और हारका निश्चय नहीं हो सक्ता इसलिये विग्रहको यत्नपूर्वक त्याग दे ॥ १९९ ॥

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे।
तथा युध्येत संपन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥ २०० ॥

जब राजा देखै कि साम, दान और भेद इन तीनों उपायोंसेभी किसीप्रकार जयकी संभावना नहीं है तब वह सब प्रकारसे तयार होकर ऐसा युद्ध करै कि जिससे वह शत्रुको जीतले ॥ २०० ॥

जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥ २०१ ॥

इस भांति विजय करके देवता और धार्मिक ब्राह्मणोंकी पूजा करै, उन्हैं भेट तथा अभय दान दे ॥ २०१ ॥

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ २०२ ॥

सब (शत्रु और उसके मंत्री) के अभिप्रायको संक्षेपसे जानकर शत्रु राजाके वंशके एक पुरुषको राज्याभिषेक करके उसे समयके अनुसार उपदेश कर दे ॥ २०२ ॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान्।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥

विजित देशवासियोंके धर्मके अनुकुल शास्त्रोक्त आचारोंको प्रचलित रक्खै और मंत्रियोंसहित इस राजाको रत्न आदिकी भेटोंसे संतुष्ट करै ॥ २०३ ॥

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम्।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥

यद्यपि किसीके प्रिय पदार्थोंके छीन लेनेसे उसे दुःख, और देदेनेसे सुख होता है तथापि समयविशेषपर अभिलषित वस्तुका देना और लेना दोनोंही प्रशंसनीय हैं ॥ २०४ ॥

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे।
तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥

संसारमें सब काम दैव और मनुष्यके आधीन होते हैं, परंतु दैव तो जान नहीं पड़ता और मनुष्यके कार्य, करनेसे पूरे हो सक्ते हैं ॥ २०५ ॥

सह वापि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः।
मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥ २०६ ॥

राजाको चाहिये कि शत्रुके साथ युद्ध करै अथवा शत्रुको मित्र बनाकर और उससे सुवर्ण, भूमि लेकर और इन्हें यात्राके तीन प्रकारके फलको विचारकर और यत्नपूर्वक उसके साथ संधि करके लौट आवै ॥ २०६ ॥

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥

राजाको चाहिये कि अपने पृष्ठवर्ती और उसके प्रेरक इन दोनों राजाओंकी ओर विशेष ध्यान करता हुआ मित्र वा शत्रुसे अपनी यात्राके फलको ग्रहण करै, अर्थात् यात्राके फल लेनेमें शत्रु वा मित्रको न देखै ॥ २०७ ॥

हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८ ॥

हीन बल होनेपरभी आगामी समयमें बढ़नेवाला राजा, स्थिर मित्रको पाकर जैसा वृद्धिको प्राप्त होता है वैसा भूमि और सुवर्ण पानेसे नहीं होता ॥ २०८ ॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघु मित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥

जो धर्मका और कियेहुए उपकारका जाननेवाला और सदा प्रसन्न, अपनेसे प्रीति करनेवाला है, और जिसके कार्योंका आरंभ स्थिर हो ऐसा मित्र यदि तुच्छभी हो तो भी उत्तम होता है ॥ २०९ ॥

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ २१० ॥

बुद्धिमान्, कुलीन, शूर, चतुर, दाता, कृतज्ञ और धीरजवान् शत्रुको पण्डित-जन बड़े कष्टसे जीतने योग्य कहते हैं—ऐसेसे मिलाप करले ॥ २१० ॥

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥

साधुपन, पुरुषविशेषकी पहिचान, पराक्रम, सज्जनता, दयालुता और अधिक दानशीलता ये उदासीन राजाके गुण हैं—(ऐसे राजाके आश्रयसे विद्वान् आदि शत्रु राजासे भी युद्ध करै) ॥ २११ ॥

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥

आरोग्यतायुक्त, (जलकी अनुकूलतासे) सदा अन्न तृणादिकी देनेवाली, अतएव पशुओंकी वृद्धि करनेवाली भूमिको भी राजा अपनी रक्षाके लिये विना विचारें छोड़ दे ॥ २१२ ॥

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥

आपत्तिसे बचनेके लिये धन संचय करै, धन से पत्नीकी रक्षा करै और धन पत्नी दोनोंसे सदा अपनी रक्षा करै ॥ २१३ ॥

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद्बुधः ॥ २१४ ॥

बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि (कोश-क्षय आदि) सब प्रकारकी विपद जो एक साथ उपस्थित होजाय तो एकही साथ, वा अलग २, सब उपायोंका प्रयोग करै ॥ २१४ ॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥

उपाय करनेवाला राजा अपना, प्राप्त होने योग्य (शत्रु) का और (साम आदि) संपूर्ण उपायोंका इस प्रकार इन तीनोंका यथार्थ विचार कर प्रयोजन सिद्धिके लिये यत्न करै ॥ २१५ ॥

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ २१६ ॥

इस प्रकार राजाको चाहिये कि सब विषयोंको मंत्रियोंके साथ विचार और कसरत करके मध्याह्नमें स्नान करै और फिर भोजनके लिये रनवासमें चला जाय ॥ २१६ ॥

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः ।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥

वहां रनवासमें जाकर, अपने समान, भोजनके समयके ज्ञाता, दूसरेसे नहीं फूटनेवाले रसोइयोंसे भलीभांति (चकोर आदिको देनेसे) परीक्षा किये हुए अन्नको विष दूर करनेवाले मंत्रोंसे अभिमंत्रित करके राजा भोजन करै ॥ २१७ ॥

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् ।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ २१८ ॥

राजाके खाने योग्य सब पदार्थोंमें विष नष्ट करनेवाली औषधियाँ गिरनी चाहियें और राजा विषनाशक रत्नोंको सदा सावधानीसे धारणकरै ॥ २१८ ॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः ।
वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ २१९ ॥

(गुप्त चरोंके द्वारा) परीक्षा कीगई और (गुप्तशस्त्र और विषैले आभूषणोंकी शंकासे) जिनके वेश और आभरण देख लिये गए ऐसी सावधान मनवाली स्त्रियां चमर ढुलाती रहैं और जल, धूपसे सेवा करैं ॥ २१९ ॥

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने ।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च ॥ २२० ॥

इसी प्रकार राजा परीक्षा आदिके प्रयत्नको गमन, शय्या, आसन, भोजन, स्नान, अनुलेपन और संपूर्ण अलंकार आदिकोंमें भी करै ॥ २२० ॥

भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह ।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥

भोजनके अनंतर राजा स्त्रियोंके साथ रनवासमें विहार करै और फिर विहार करके समयानुसार अपने कार्योंका विचार करै ॥ २२१ ॥

अलंकृतश्च संपश्येदायुधीयं पुनर्जनम् ।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥ २२२ ॥

फिर राजा अलंकृत होकर अस्त्र शस्त्रधारी योद्धा, (हाथी आदि) सब वाहन और शस्त्र तथा आभूषण इनकी परीक्षा करै ॥ २२२ ॥

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् ।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ २२३ ॥

गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् ।
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥ २२४ ॥

फिर राजा संध्यावंदन करके किसी गुप्तस्थानमें जाकर शस्त्र धारण करै और दूसरे गुप्तस्थानमें जाकर संवाददाता और गूढ़चरोंसे गुप्तकार्य्योंको सुनकर दूतोंको विदा करै और स्त्रियोंसमेत राजा भोजनके लिये रनवासमें प्रवेश करै ॥ २२३ ॥ २२४ ॥

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः ।
संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ २२५ ॥

वहां तुरही आदि बाजोंसे प्रसन्न चित्त हो कुछ भोजन करै और यथा समय शयन करै और विश्राम करके रात्रिके पिछले प्रहरमें उठै ॥ २२५ ॥

एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः ।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

जबतक शरीर नीरोग रहै तबतक राजा इस भांति शासन करै और शरीरमें रोग होनेपर इस सब कार्यको मंत्रियोंको सौंपदे ॥ २२६ ॥

इति–पण्डित रामेश्वरभट्टकृत सरलटीकासहित मनुस्मृतिका सातवां अध्याय समाप्त हुआ–शुभम् ॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥

व्यवहारों अर्थात् मुकद्दमोंको देखनेकी इच्छासे राजा ब्राह्मणोंके और गुप्त बात जाननेवाले मंत्रियोंके साथ विनीत भावसे सभामें प्रवेश करै ॥ १ ॥

तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २ ॥

सादे वेषआभूषण पहिरें राजा वहां बैठकर वा खड़ा होकर दाहिने हाथको उठाकर मुकद्दमोंके कार्योंको देखै ॥ २ ॥

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्पृथक् ॥ ३ ॥

अठारह प्रकारके मार्गोंमें विभक्त मुकद्दमोंका, देश और शास्त्रोंमें देखे गये कारणोंसे नित्य अलग २ विचार करै ॥ ३ ॥

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥

(१) दूसरेसे ऋण लेने देनेका ठहराव (२) धरोहर धरना (३) दूसरेकी वस्तु बेच देना (४) साझेसे व्यौहार करना (५) दान की हुई वस्तुको किसी कारणसे लौटाना (६) नौकरकी तनखा रोकना (७) की हुई व्यवस्थासे फिर जाना (८) खरीद विक्रीका झगड़ा (९) स्वामी और सेवकका झगड़ा (१०) सीमाका विवाद (११) कठोर दंड (१२) वचन की कठोरता (१३) चोरी (१४) साहस (१५) स्त्रीका संसर्ग (१६) स्त्री पुरुषका धर्म (१७) धनका विभाग (१८) जुआ अथवा पशु और पक्षीका दाँव लगा कर युद्ध करना इन अठारह बातोंमेंही मनुष्योंका झगड़ा होता है ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥

राजा सनातन धर्मका आश्रय लेकर इन अठारह बातोंमें ही बहुधा विवाद करते हुए मनुष्यों के कार्योंका निर्णय करै ॥ ८ ॥

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
तदा नियुज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥

जब राजा किसी कारणसे कार्यकी देखभाल स्वयं न कर सकै तब कार्यके देखनेके लिये किसी पण्डित ब्राह्मणको नियत करै ॥ ९ ॥

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥ १० ॥

और वह विद्वान् तीन सभासदोंके साथ धर्म सभामें पधार कर बैठकर वा खड़ा होकर राजाके कामोंको अच्छीभांति देखै ॥ १० ॥

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥ ११ ॥

जिस स्थानमें वेद जाननेवाले तीन ब्राह्मण बैठते हैं और राजाका अधिकृत (एजजी) पण्डित बैठता है पण्डितजन उसे ब्रह्मसभा कहते हैं ॥ ११ ॥

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ १२ ॥

जिस सभामें अधर्मसे मिलाहुआ धर्म रहता है वहां अधर्मसे विधेहुए सभासद लोग धर्मकी पीड़ाको दूर नहीं कर सके ॥ १२ ॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १३ ॥

या तो पण्डितको सभामें जाना नहीं चाहिये, और जाय तो ठीक २ कहना चाहिये, क्योंकि जो कुछ नहीं कहता है वा बढ़ाकर कहता है वह मनुष्य पापका भागी होता है ॥ १३ ॥

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

जिस सभामें अधर्मसे धर्मका और झूठसे सत्यका नाश होता है वहां, देखनेवालोंको छोड़, सभासदही अधर्मसे मारे जाते हैं ॥ १४ ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षतः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १५ ॥

नष्ट हुआ धर्मही मारता है और रक्षाकियाहुआ धर्मही रक्षा करता है इसलिये "नष्ट हुआ धर्म कहीं हमको न मारै" यह विचारकर धर्मका नाश नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥

भगवान् धर्मको वृष कहते हैं (क्योंकि वही मनुष्योंकी कामना सिद्ध करता है) जो पुरुष धर्मका नाश करता है देवता उसे वृषल अर्थात् शूद्र समझते हैं, इसलिये धर्मका लोप न करै ॥ १६ ॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥

धर्महीं एक मित्र है जो मरनेपरभी पीछै संग जाता है और अन्य सब तौ शरीरके साथ यहांही नाश हो जाता है ॥ १७ ॥

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान्पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥

अधर्मका चतुर्थांश अधर्म करनेवालेको, चतुर्थांश गवाहको, चतुर्थांश सब सभासदोंको और चतुर्थांश राजाको मिलता है ॥ १८ ॥

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥ १९ ॥

जिस सभामें निन्दाके योग्य (वादी अथवा प्रतिवादी) मनुष्यकी निन्दा हो वहां राजा पापरहित होता है, सभासद पापसे छूट जाते हैं और पापका फल पापीको मिलता है ॥ १९ ॥

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः ।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथंचन ॥ २० ॥

केवल जातिसे जीविका करनेवाला, कर्मरहितभी, ब्राह्मण राजाकी ओरसे धर्मवक्ता होसक्ता है, परंतु शूद्र कभी नहीं हो सक्ता ॥ २० ॥

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् ।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः ॥ २१ ॥

जिस राजाके यहां धर्मका विचार शूद्र करता है उसके देखते २ वह राज्य ऐसा दुखी होता है कि जैसे कीचमें फँसी गौ दुखी होती है ॥ २१ ॥

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् ।
विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥ २२ ॥

जो राज्य बहुतसे शूद्रोंसे भरा, नास्तिकोंसे युक्त और द्विजरहित होता है वह सब देश अकाल और व्याधिसे पीड़ित हो शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥ २३ ॥

वस्त्र पहिनकर, सावधान होकर, धर्मके आसनपर बैठकर और लोकपालोंको प्रणाम करके कार्यका देखना आरंभ करै ॥ २३ ॥

अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ।
वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २४ ॥

दोनों, बुराई और भलाई तथा केवल धर्म अधर्मको जानकर कार्यवालोंके सब काम वर्णके क्रमसे देखै, अर्थात् पहिले ब्राह्मणका, फिर क्षत्रीका इत्यादि ॥ २४ ॥

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम्।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥

बाहरके चिह्न, स्वर, वर्ण, इङ्गित, आकार और नेत्र तथा चेष्टासे मनुष्योंके भीतरे भावको जानना चाहिये ॥ २५ ॥

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥

क्योंकि आकार, इङ्गित, चाल, चेष्टा, बोलना, नेत्र और मुखका विकार इनसे भीतरा मन जान लिया जाता है ॥ २६ ॥

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत्।
यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥

राजा नाबालिगके असबाव और धनकी तबतक रक्षा करै कि जबतक वह समावृत्त हो, अर्थात् छत्तीसवर्षके कहे हुए ब्रह्मचर्यको पूरा करके गुरुकुलसे लौटकर आवै, और उसका नाबालिगपना जाता रहै ॥ २७ ॥

वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥

बाँझ, पुत्र-हीन, कुलहीन, पतिव्रता, विधवा और रोगिणी स्त्रियोंके धनकी रक्षा बालकके धनके समानही करै ॥ २८ ॥

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः।
ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २९ ॥

जो उनके भाई बन्धु उन जीतीहुई स्त्रियोंका धन हरलें तो धर्मात्मा राजा उनको चोरके दंडसे शिक्षादे, अर्थात् चोरका हाल सो उनका हाल करै ॥ २९ ॥

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ ३० ॥

राजाको चाहिये कि लावारसी धनको तीन वर्षतक अमानतमें रक्खै और तीन वर्षके बीचमें स्वामी आजाय तो वह उस धनको लेले, और जो न आवै तो पीछे राजा ले ले ॥ ३० ॥

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि।
संवाद्य रूपसंख्यादीन्स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥ ३१ ॥

जो कोई धनको अपना बतावै तो न्यायकर्ता विधिपूर्वक उसका इजहार

ले कि कैसा है, कितना है, कहां खोया, इत्यादि, और जो वह रूप, संख्या आदि ठीक २ बतादे तो वह स्वामी उस धनको ले ले ॥ ३१ ॥

अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

जो मनुष्य धनका देश, काल और ठीक २ रंग रूप और प्रामाणको नहीं जानता है तो वह धनके समानही दंडके योग्य होता है, अर्थात् जितना वह धन हो उतनाही उसपर दंड करै ॥ ३२ ॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः।
दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ३३ ॥

जो राजाको नष्ट धन मिल जाय तो सज्जनोंके धर्मका ज्ञाता राजा उस प्रनष्ट धनमेंसे छठा, दशवां वा बारहवां भाग ले ले ॥ ३३ ॥

प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम्।
यांस्तत्र चौरान्गृह्णीयात्तान्राजेभेन घातयेत् ॥ ३४ ॥

जो धन चोरीका मिला है उसे पहरेवालोंकी रक्षामें रखना चाहिये और वहां जो चोर पकड़े जायँ उनको राजा हाथीसे मरवादे ॥ ३४ ॥

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः।
तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३५ ॥

जो मनुष्य निधिके मिलनेपर सच २ कह दे कि यह मेरी है तो राजा उसका छठा या बाहरवां भाग लेकर बाकी उसे देदे ॥ ३५ ॥

अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम्।
तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम् ॥ ३६ ॥

झूठ बोलनेवाले मनुष्यपर उसके धनका आठवां भाग वा उस धनका थोड़ा भाग दंड करना चाहिये ॥ ३६ ॥

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम्।
अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥ ३७ ॥

पण्डित ब्राह्मण तो पहिलेसे धरे हुए किसीके द्रव्यको देखकर सबही ले सक्ता है क्योंकि वह निश्चय करके सबका स्वामी है ॥ ३७ ॥

यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ।
तस्माद्द्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥ ३८ ॥

राजा पृथ्वीमें गढ़े हुए पुराने धनको देखनेपर उसमेंसे आधा ब्राह्मणोंको देकर आधा खजानेमें रखवादे ॥ ३८ ॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥

पुराने खजानोंका और पृथ्वीकी धातुओंका, रक्षाकरनेके कारण, राजा आधेका भागी होता है, क्योंकि वह निश्चय पृथ्वीका स्वामी है ॥ ३९ ॥

दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् ।
राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥

चोरोंसे चुराये हुए धनको राजा सब वर्णोंको दे दे, अर्थात् जिस वर्णका धन हो उसी जातिके मनुष्यको दे दे, क्योंकि जो राजा उसे भोगता है वह चोरके पापको पाता है ॥ ४० ॥

जातिजानपदान्धर्माञ्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ४१ ॥

धर्मात्मा राजा, जाति और देशके धर्मोंको, वैश्यआदिके धर्मोंको, और कुलधर्मोंको देखकर अपने धर्मकी व्यवस्था करै ॥ ४१ ॥

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवाः ।
प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः ॥ ४२ ॥

(जाति देश और कुलके अनुसार) अपने २ कामोंको करते हुए और अपने २ नित्य कर्ममें लगे हुए मनुष्य दूर होने परभी जगतके प्यारे होते हैं ॥ ४२ ॥

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन ॥ ४३ ॥

राजा अथवा राजासे नियत किया गया न्यायकर्ता धनके लोभसे कार्य अर्थात् ऋण आदिके झगड़ेको स्वयं खड़ा न करै, और दूसरेके मुकद्दमेंमें धन आदिके लोभसे वेपरवाही न करै ॥ ४३ ॥

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।
नयेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥

जैसे बहेलिया शस्त्रसे मारेहुए मृगके स्थानमें रुधिरके गिरनेसे पहुंच जाता है वैसेही अनुमानसे अथवा दृष्ट प्रमाणसे राजा धर्मके तत्त्वका निश्चय करै ॥ ४४ ॥

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः ।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥

जब राजा व्यवहार (मुकद्दमा) करनेको बैठे तब वह सत्य, धन, अपनी आत्मा, साक्षी, देश, रूप और कालको देखै ॥ ४५ ॥

सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

सज्जन धर्मात्मा द्विजातियोंने जो आचरण किया है उसके और उसी देशके अविरुद्ध आचरणके अनुसार निर्णय करै ॥ ४६ ॥

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ।
दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७ ॥

कर्जदारसे धन वसूल करनेके लिये जब बौहरा राजासे प्रेरणा करै, अर्थात् राजाके यहां नालिश करै, तब राजा धनीको कर्जदारसे निश्चय किये हुए धनको दिलवादे ॥ ४७ ॥

यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ।
तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥

धनी जिन २ उपायोंसे धनको पासकै उन २ उपायोंसेही राजा आसामीको वशमें करके धन दिलवावै ॥ ४८ ॥

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥

राजा धर्मसे, व्यवहारसे, छलसे, आचरितसे[१], और पांचवें बलसे धन दिलावै ॥ ४९ ॥

यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ।
न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥ ५० ॥

जो धनी कर्जदारसे आपही अपने धनको वसूल करै तो राजाको चाहिये कि अपने धनको वसूल करनेमें उस धनीको मनें न करै ॥ ५० ॥

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ।
दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥

धनके मामलेमें जो प्रतिवादी (आसामी) मुकर जाय कि मुझे धन नहीं देना है और कवालेसे साबित होजाय तो न्यायकर्ता धनीका धन दिलावै और शक्तिके अनुसार थोड़ासा दंड दिलावे ॥ ५१ ॥

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।
अभियोक्तादिशेद्देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

कचहरीमें न्यायकर्ताके आसामीसे धन मांगनेपर जो कर्जदार मुकर जाय तो मुद्दई गवाह दे वा और कुछ लिखा पढ़ी बतावै ॥ ५२ ॥

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः ।
यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगीतान्नावबुध्यते ॥ ५३ ॥
अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ।
सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥

---

१ जिसमें स्त्री, पुत्र और पशुओंको मारकर और आसामीको द्वार पर बैठाकर महाजनको धन दिलाया जाय उसे आचरित कहते है.

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ।
निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५ ॥

ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् ।
न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥ ५६ ॥

जो उत्तमर्ण (मुद्दई) ऐसे देशमें धन दिया बतावै कि जहां उस समय कर्जदार न हो, अथवा वह आपही देश बताकर पीछै अस्वीकार करै, वा बातको पूर्वापर विरुद्ध कहै, अथवा मूलविषयक एकबार कहकर फिर उसके पृथक् कहै (अर्थात् एक बार कहै कि मुझसे लिया है, दूसरीवार कहै मेरे पुत्रसे लिया है) और भलीभांति स्वीकृत विषय पूछे जानेपर समाधान न कर सके, अथवा जो एकांतस्थानमें लेजाकर गवाहों से बात चीत करताहो, जो कहे हुए विषय-की दृढता के लिये प्रश्नकी इच्छा न करै, जो अन्यान्य बातें करने लगे, जो पूछनेपर उत्तर नदे, जो आवेदित विषयका प्रमाणद्वारा समर्थन न कर सकै, जो साध्य साधन कुछ न जानें, ऐसे उत्तमर्ण (धनी) का अभियोग अग्राह्य समझा जाता है, अर्थात् मुद्दईको मुद्दालयसे धन न दिलावै ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः ।
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥

"मेरे साक्षी हैं" जो ऐसा कहै और जब न्यायकर्ता पूछै कि "जो हैं तो लाओ" तब वह फिर उन्हैं न लासके तो उपरोक्त कारणोंसे धार्मिक न्यायकर्ता उसे भी हारा हुआ कहै ॥ ५७ ॥

अभियोक्ता न चेद्ब्रूयाद्बध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः ।
न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ ५८ ॥

जो अर्थी पहिले आवेदन करके निर्णय के समय कुछ न कहै तो राजा उसे ताड़ना से लेकर प्राणवधतक का दंड दे, और जो प्रतिवादी तीन पक्षमें उत्तर न दे तो वह धर्मसे पराजित होता है ॥ ५८ ॥

यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् ।
तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम् ॥ ५९ ॥

जो प्रतिवादी जितना धन अस्वीकार करै और अर्थी जितना झूठा दावा करै राजा इन दोनों अधर्मियोंको उससे दूना दंड दे ॥ ५९ ॥

पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा ।
त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसंनिधौ ॥ ६० ॥

धनीके आवेदनसे जब राजपुरुष आसामीको बुलाकर लावें और न्याय-कर्ताके पूछनेपर यदि वह कहै कि मैं दैनदार नहीं हूं तो धनी राजाके अधि-कारी ब्राह्मणके आगे तीन साक्षियोंसे उसे साबित करै ॥ ६० ॥

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः ।
तादृशान्संप्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ॥ ६१ ॥

ऋणदान आदि व्यवहारमें जिस प्रकार धनिकोंको साक्षी करने चाहिये, और जिस प्रकार साक्षी सत्य बोलें वह कहताहूं, सो सुनो ॥ ६१ ॥

गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः ।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥ ६२ ॥

गृहस्थी, पुत्रवान् और उसी देशके निवासी क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जाति के मुद्दईके बतलाए हुए लोग साक्षी देनेके योग्य हैं । आपद्रहित समयमें चाहे जिसकी साक्षी नहीं मानी जासक्ती ॥ ६२ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ।
सर्वधर्मविदो लुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥

सब वर्णोंमें जो सत्यवादी, सब धर्मके ज्ञाता और लोभरहित हों ऐसे साक्षी ऋणादानमें माने जासक्ते हैं, इसके विपरीत गुणवालोंका त्याग करै ॥ ६३ ॥

नार्थसंबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः ।
न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥ ६४ ॥

धनसंबन्धी अर्थात् जिसपर कर्ज लेना हो, मित्र, सहायक, शत्रु और जिसकी झूंठ साक्षी पहिले देखी हो, जो व्याधिग्रस्त वा महापातक आदि दोषोंसे दूषित हों उनकी साक्षी नहीं लेनी चाहिये ॥ ६४ ॥

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ ।
न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विनिर्गतः ॥ ६५ ॥

राजाको चाहिये कि राजा, कारीगर, नट आदि, श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी और संन्यासियोंको साक्षी न करै ॥ ६५ ॥

नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत् ।
न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥ ६६ ॥

दास, लोकनिन्दित, क्रूर कर्म करनेवाले, वर्जित कर्म कर्ता, वृद्ध, बालक, एकाकी, चांडाल आदि नीच जाति और विकलेन्द्रियोंको साक्षी न करै ॥ ६६ ॥

नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः ।
न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७ ॥

आर्त, मत्त, उन्मत्त, भूख प्याससे कायर, थका हुआ, कामातुर, क्रुद्ध और चोर को साक्षी न करै ॥ ६७ ॥

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ ६८ ॥

स्त्रियोंकी साक्षी स्त्रियां, द्विजोंके द्विज, शूद्रोंके शूद्र और चाण्डालोंको उन्हीं के तुल्य जातिवालोंका साक्षी होना उचित है ॥ ६८ ॥

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ।
अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥ ६९ ॥

परंतु घरके भीतर, वनमें अथवा शरीरमें चोट लगनेपर जो कोई मिलजाय वही विवादियोंका साक्षी हो सक्ता है ॥ ६९ ॥

स्त्रियाप्यसंभवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा ।
शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥ ७० ॥

उक्त स्थानोंमें पूर्वोक्त साक्षी न रहनेपर स्त्री, बालक, बूढ़े, शिष्य, बन्धु, दास और सेवककी भी साक्षी हो सक्ती है ॥ ७० ॥

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा ।
जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥ ७१ ॥

बालक, बूढ़े, आतुर और जिनका चित्त स्थिर न हो ऐसे पुरुष जो गवाहीमें झूठ बोलें तो उनकी अस्थिर वाणीको राजा अनुमानसे जानले ॥ ७१ ॥

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥

राजाको चाहिये कि साहसके सब कार्य, चोरी, स्त्रीसंग्रहण, वाणीकी तथा दंडकी कठोरता इनमें साक्षियोंकी परीक्षा न करै ॥ ७२ ॥

बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ ७३ ॥

गवाहोंके विरोधमें, राजा ज्यादा साक्षियोंका प्रमाण मानें, समान संख्या होनेपर गुणमें श्रेष्ठ साक्षियोंके द्वारा सत्यका निर्णय करै, और गुणियोंके विरोधमें क्रियानिष्ठ ब्राह्मणोंका वचन स्वीकार करै ॥ ७३ ॥

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति ।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥

देखने योग्यमें देखी हुई और सुनने योग्यमें सुनी हुई साक्षी ठीक होती है, और सत्यवादी गवाह धर्म और अर्थसे हीन नहीं होते ॥ ७४ ॥

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि ।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥

साक्षी यदि साधु सभामें देखे वा सुने हुए विषयोंमें मिथ्या कहै तो वह परलोकमें नीचा मुंह करके नरकमें जाता है और मरकर उसे स्वर्ग नहीं मिलता ॥ ७५ ॥

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किंचन ।
दृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥

वादी प्रतिवादीके न कहनेपर भी गवाह जो कुछ देखे वा सुने उसेही जैसा जानताहो वैसा न्यायकर्त्ताके पूछने पर कहै ॥ ७६ ॥

एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्बह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः ।
स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः ॥ ७७ ॥

लोभ रहित एक मनुष्य भी गवाह हो सक्ता है परंतु अनेक स्त्रियां पवित्र होनेपर भी साक्षी के योग्य नहीं हैं, क्योंकि स्त्रियोंकी बुद्धि अस्थिर होती है; और चोरी आदि दोषोंसे युक्त पुरुष भी साक्षी नहीं हो सक्ते ॥ ७७ ॥

स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥ ७८ ॥

साक्षी (भय आदि रहित होकर) जो स्वभावसे कहै उसे राजा व्यवहार के निर्णयमें स्वीकार करै, किसी कारणसे कहे गये मिथ्या वचन धर्म विषयमें मानने योग्य नहीं हैं ॥ ७८ ॥

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसंनिधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिना तेन सान्त्वयन् ॥ ७९ ॥

सभामें वादी प्रतिवादीके सामने कचहरीमें उपस्थित हुए साक्षियोंके आगे (आगे कही) इस विधिसे न्यायकर्ता शांतिपूर्वक उनसे पूछै ॥ ७९ ॥

यद्द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिश्चेष्टितं मिथः ।
तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ ८० ॥

तुम इस मामलेमें वादी प्रतिवादीके विषयमें जो कुछ जानतेहो सो सब सत्य २ कहो, क्योंकि इसमें तुम्हारी गवाही है ॥ ८० ॥

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥

गवाहीमें सत्य बोलनेवाला साक्षी मरने के बाद श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होता है और इस लोकमें वह उत्तम कीर्ति पाता है, क्योंकि ब्रह्मा भी सत्य वाणी का सत्कार करते हैं ॥ ८१ ॥

साक्ष्येऽनृतं वदन्पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम् ।
विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥ ८२ ॥

गवाही देनेमें झूठ बोलनेवाला पुरुष परवशतासे वरुणपाशमें बंधकर सौ-जन्मतक क्लेश भोगता है इसलिये साक्षी सत्य २ बोले ॥ ८२ ॥

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥

सत्य बोलनेसे साक्षी पापसे छूट जाता है, सत्यसे धर्म बढ़ता है, इसलिये संपूर्ण वर्णोंके विषयमें साक्षीको सत्य कहनाही उचित है ॥ ८३ ॥

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ ८४ ॥

आत्माही शुभाशुभ कर्मोंका साक्षी और आत्माही गति है इसलिये मनुष्यों को चाहिये कि ऐसा उत्तम साक्षी जो अपना आत्मा है झूठ बोलकर उसकी अवज्ञा न करें ॥ ८४ ॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ।
तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ८५ ॥

पाप करनेवाले समझते हैं कि हमारे पापोंको कोई नहीं देखता है परंतु देवता तथा उनका अंतःकरणही उनको देखता है ॥ ८५ ॥

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः ।
रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥ ८६ ॥

आकाश, भूमि, जल, हृदय, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, दोनों सन्ध्या और धर्म ये सब प्राणियोंके अच्छे बुरे कामोंको देखते हैं ॥ ८६ ॥

देवब्राह्मणसांनिध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् ।
उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचीन् ॥ ८७ ॥

न्यायकर्ता पवित्र होकर पूर्वाह्ण समयमें देवताओंकी प्रतिमा और ब्राह्मणों के समीप उत्तर वा पूर्वकी ओर मुख किए हुए पवित्र द्विजोंसे ठीक २ गवाही पूंछे ॥ ८७ ॥

ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥

ब्राह्मणसे कहै कि "गवाही दो;" क्षत्रियसे कहै कि "सत्य बोलो;" वैश्यसे कहै कि "गौ, बीज और सुवर्ण चुरानेसे जो पाप होता है वही तुमको मिथ्या बोलनेसे होगा," और शूद्रसे कहै कि "झूठ बोलनेसे तुमको सब पातकोंका दोष लगेगा" ॥ ८८ ॥

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः ।
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥ ८९ ॥

ब्राह्मण, स्त्री और बालक इनके मारनेवालोंको और मित्रके द्रोही तथा कृतघ्नको जो जो लोक होते हैं वे वे सब लोक झूठ साक्षी देनेवालेको होते हैं ॥ ८९ ॥

जन्मप्रभृति यत्किंचित्पुण्यं भद्र त्वया कृतम् ।
तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा ॥ ९० ॥

हे भद्र! जो तुम अन्यथा कहोगे तो जन्मसे लेकर आजतक तुमने जो कुछ पुण्य किया है वह सब कुत्तोंको मिलेगा, अर्थात् नष्ट हो जायगा ॥ ९० ॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥ ९१ ॥

हे भद्र! तुम अपने आत्माको जो अकेला मानते हो सो मत समझो, क्योंकि यह पाप पुण्यका देखनेवाला सर्वज्ञ परमात्मा तुम्हारे हृदयमें सदा निवास करता है ॥ ९१ ॥

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून्गमः ॥ ९२ ॥

जो तेरे हृदयमें वैवस्वत परमात्मा बैठा है और उससे तुम्हारा विवाद नहीं है तो (पाप दूर करने के लिये) गंगा या कुरुक्षेत्र को मत जाओ ॥ ९२ ॥

नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः।
अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ९३ ॥

जो मिथ्या साक्षी देता है वह नंगा, सिरमुंडाए, भूखा, प्यासा और अंधा होकर हाथमें खीपड़ा लिये (अगले जन्ममें) शत्रु कुलमें भीख मांगता है ॥ ९३ ॥

अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत्।
यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन्धर्मनिश्चये ॥ ९४ ॥

जो धर्मनिर्णयमें पूछने पर मिथ्या वचन कहता है वह पापी नीचा मुंह करके महाअंधकारमय नरकमें जाता है ॥ ९४ ॥

अन्धो मत्स्यानिवाश्नाति स नरः कण्टकैः सह।
यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ९५ ॥

जो गवाह कचहरीमें मुकद्दमेंका झूठा हाल बयान करता है अथवा ऐसी बातें कहता है जो उसने अपनी आखोंसे नहीं देखीहों, वह काँटोंसमेत मछलियां खानेवाले अंधे के समान दुखी होता है ॥ ९५ ॥

यस्य विद्वान्हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥

वचन कहते समय जिसका सर्वज्ञ अंतर्यामी कुछ भी झूठ या सत्यकी शंका नहीं करता देवता उससे बढ़कर दूसरे पुरुषको अच्छा नहीं समझते हैं ॥९६॥

यावतो बान्धवान्यस्मिन्हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन्।
तावतः संख्यया तस्मिञ्छृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥ ९७ ॥

हे सौम्य! जिन २ विषयोंमें झूठी साक्षी देकर मनुष्य जितने २ बान्धवोंको नरकमें गेरता है उनकी गिनती मुझसे क्रमसे सुनो ॥ ९७ ॥

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८ ॥

पशु के विषयमें पांचको, गौ के विषयमें दसको, घोड़े के विषयमें झूठ बोलनेसे सौको, और मनुष्य के विषयमें झूठी साक्षी देनेसे एक हजार बान्धवोंको नरक पहुंचाता है ॥ ९८ ॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन् ।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः ॥ ९९ ॥

सुवर्ण के विषयमें झूठी साक्षी देनेसे मनुष्य के उत्पन्न और अनुत्पन्न पुत्र आदि नरकमें गिरते हैं और भूमि के विषयमें झूठी साक्षी देनेसे वह सब प्राणियोंकी हिंसा के दोषको पाता है, इसलिये भूमि के विषयमें झूठ मत बोलो ॥ ९९ ॥

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने ।
अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च ॥ १०० ॥

तालाव आदिके जल ग्रहणमें, स्त्रियोंके भोगमें, तथा मैथुनमें, मोती, पाषाण (वैडूर्य) आदि तथा सब रत्नों के विषयमें झूठ बोलनेवाला भूमि के विषयमें झूठ बोलनेवाले के समान दोषी होता है ॥ १०० ॥

एतान्दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥ १०१ ॥

झूठ बोलनेमें इन पूर्वोक्त सब दोषोंको देखकर जैसा देखा और जैसा सुना है उस सबकोही तुम ठीक २ कहो ॥ १०१ ॥

गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् ।
प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्राञ्शूद्रवदाचरेत् ॥ १०२ ॥

गौपालक, वाणिज्य करनेवाले, कारीगर, नट, दास और व्याज लेनेवाले इतने ब्राह्मणों के साथ राजा शूद्र की भांति आचरण करै ॥ १०२ ॥

तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः ।
न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्दैवीं वाचं वदन्ति ताम् ॥ १०३ ॥

आगे कहे गए विषयोंमें जानकरभी धर्मबुद्धिसे अन्यथा कहनेमें मनुष्यका स्वर्गलोक नहीं बिगड़ता है और ऐसे वचनको दैवी वाणी कहते हैं ॥ १०३ ॥

शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः ।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते ॥ १०४ ॥

जहां सत्य कहनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र का प्राणवध हो वहां मिथ्याभी बोलै, क्योंकि वहां झूठ बोलना सत्यसे अच्छा होता है (परंतु पुरुष पापी न हो) ॥ १०४ ॥

वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम् ।
अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥ १०५ ॥

ऐसे समयपर मिथ्या बोलने के पापसे बिलकुल छूटने के लिये, वाणी है देवता जिसका, ऐसे चरुसे सरस्वती का यजन करै ॥ १०५ ॥

कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद्घृतमग्नौ यथाविधि ।
उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाब्दैवतेन वा ॥ १०६ ॥

अथवा यजुर्वेदके " यद्देवा देव हेडनम् " इत्यादि कूष्मांड मंत्रोंसे विधिपूर्वक घीका होम करै, अथवा "उदुत्तमं" इत्यादि वरुण देवताके मंत्रोंसे, अथवा "आपोहिष्ठा" इत्यादि जलदेवताकी तीन ऋचाओंसे अग्निमें घीका हवन करै ॥१०६॥

त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः ।
तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः ॥ १०७ ॥

यदि रोगरहित साक्षी तीन पक्ष के भीतर ऋण आदि व्यवहारमें गवाही नदे, तो वह मुद्दईको सब ऋण तथा, उसका दशवां हिस्सा दंडरूपसे राजाको दे ॥ १०७ ॥

यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः ।
रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥ १०८ ॥

गवाही देनेपर यदि गवाहको एक सप्ताह के भीतर रोग हो, उसका घर जल जाय, वा स्वजनकी मृत्यु होजाय तो भी इसे मुद्दईका ऋण और राजाका दंड देना होगा ॥ १०८ ॥

असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः ।
अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत् ॥ १०९ ॥

परस्पर झगड़नेवाले दोनों पक्षवालोंमें यदि गवाह नहो तो ठीक २ बात नहीं जानता हुआ राजा दोनों पक्षवालोंसे शपथ लेकर सत्यका निर्णय करै ॥ १०९ ॥

महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः ।
वसिष्ठश्चापि शपथं शेपे पैजवने नृपे ॥ ११० ॥

महर्षि और देवताओंने अपने कार्य के लिये शपथें खाई थीं, वशिष्ठ ऋषिने भी पिजवन के पुत्र सुदास के सामने शपथ लीथी ॥ ११० ॥

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः ।
वृथा हि शपथं कुर्वन्प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥

पण्डित जन छोटे विषयोंमें भी वृथा शपथ न करै क्योंकि वृथा शपथ करनेवालोंका इस लोकमें और परलोकमें नाश होता है ॥ १११ ॥

कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने ।
ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम् ॥ ११२ ॥

स्त्रीसंभोग, विवाह, गौओं के लिये घास आदि लेनेमें, होम के लिये ईंधन लेनेमें और ब्राह्मणकी रक्षा करनेमें वृथा शपथ खानेसे भी पाप नहीं होता ॥ ११२ ॥

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः ।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥

ब्राह्मणको सत्यकी शपथ करावै, क्षत्रियको वाहन तथा आयुधकी, वैश्यको गौ, बीज और सुवर्ण आदिकी, और शूद्रको सब पापोंकी शपथ करावै ॥ ११३ ॥

अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत् ।
पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥

अथवा *अग्नि परीक्षा करै, जलमें गोता लगवावै, अथवा स्त्री पुत्र के शिरको अलग २ स्पर्श करावै ॥ ११४ ॥

यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च ।
न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥ ११५ ॥

जिसे यदि जलती हुई अग्नि न जलावै, जल न डुबावै, जो शीघ्र बड़े दुःखको न पावे तो शपथ विषयमें उसे पवित्र जानें ॥ ११५ ॥

वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा ।
नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पशः ॥ ११६ ॥

पूर्वकालमें वत्स नाम ऋषिको वैमात्र छोटे भाईने यह दोष लगाया था कि तू ब्राह्मण नहीं है शूद्रसे पैदा है, इसकी शपथ के लिये उसकी अग्निपरीक्षा हुईथी, परंतु सत्य के कारण जगव्यापी अग्निने उसका एक रोम भी नहीं जलाया ॥ ११६ ॥

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् ।
तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ ११७ ॥

जिस मुकद्दमेमें झूठी गवाही जान पड़े उसे फिरसे विचारे क्योंकि जो कुछ कार्य हुआ है वह नहीं होने के समान है ॥ ११७ ॥

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ ११८ ॥

लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और असावधानीसे जो गवाही दी जाती है वह झूठी होती है ॥ ११८ ॥

---

* आठ अंगुल और पचास टकेभर लोहे के गोलेको तपाकर और शूद्र के हाथ पर धरवा कर उसे ७ कदम चलावै—

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥

इन लोभ आदि कारणोंमेंसे किसी कारण के होनेपर जो पुरुष झूठी गवाही देता है उसके दंड विशेषोंको क्रमसे कहूंगा ॥ ११९ ॥

लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम्।
भयाद्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ १२० ॥

जो लोभसे झूठी गवाही दे उसपर एक हजार पण, मोहसे दे उसपर प्रथम साहस, भयसे दे उसपर दो मध्यम साहस और जो मित्रतासे दे उसपर चार गुना प्रथम साहस दंड होना चाहिये ॥ १२० ॥

कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्।
अज्ञानाद्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥ १२१ ॥

कामसे गवाहीदे उसपर दशगुणा प्रथम साहस, क्रोधसे दे उसपरं तिगुना मध्यम साहस दंड होना चाहिये, और विना जाने झूठी साक्षी देनेसे दोसौ और असावधानीसे देनेपर सौपण दंड होगा ॥ १२१ ॥

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः।
धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥ १२२ ॥

धर्म के पालन और अधर्म के रोकने के लिये झूठी गवाही देनेपर पण्डितोंने येही दंड कहे हैं ॥ १२२ ॥

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः।
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ १२३ ॥

क्षत्री, वैश्य और शूद्र यदि मिथ्या साक्षी दें तो धार्मिक राजा उन्हें दंड देकर देशसे निकाल दे, परंतु ब्राह्मणको विना दंड दियेही देशसे निकाले ॥ १२३ ॥

दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ १२४ ॥

स्वायंभुव मनुने क्षत्री आदि तीन वर्णों को दंड देनेके लिये दश स्थान कहे हैं परंतु ब्राह्मण अक्षत शरीरसे जा सक्ता है ॥ १२४ ॥

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥ १२५ ॥

लिंगेन्द्री, उदर, जिह्वा, हाथ, पैर, नेत्र और नासिका, दोनों कान, धन और शरीर ये दश दंड के स्थान हैं ॥ १२५ ॥

१-२ आगे १३८ वें श्लोकमें कहेंगे.

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ १२६ ॥

राजाको चाहिये कि वार २ इच्छासे किये अपराधको जानकर और देश, काल और अपराधीका बल और अपराध यथार्थ देखकर दंडनीय पुरुषोंको दंड दे ॥ १२६ ॥

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७ ॥

अन्यायपूर्वक दंड देनेसे इस लोकमें यश और कीर्तिका नाश होता है और परलोकमें स्वर्ग नहीं मिलता, इसलिये अन्यायसे दंड नदे ॥ १२७ ॥

अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ १२८ ॥

अदंडनीय पुरुषोंको दंड देनेसे और दंड योग्य पुरुषोंको दंड न देनेसे राजाका बड़ा अपयश होता है और वह नरकमें जाता है ॥ १२८ ॥

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥ १२९ ॥

प्रथम वचनसे झिड़कै, उसके वाद धिक्कार वा निन्दा करै, तीसरी वार धनंदड और सब के पीछे शारीरक दंड करै ॥ १२९ ॥

वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात् ।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥

शारीरक दंड करनेसे भी यदि दुरात्मा वशमें नहो तो ऊपर कहे हुए सब चारों दंडोंका उसपर प्रयोग करै ॥ १३० ॥

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।
ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥

तांबा, रूपा और सुवर्ण आदिकी जो पण आदि संज्ञा मोल लेना और बेचना आदि लोक के व्यवहार के लिये पृथ्वीपर प्रसिद्ध है उसे सब कहता हूं ॥१३१॥

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥

सूर्यकी किरणें खिड़कीमें भीतर पडनेसे जो वहुत छोटे २ धूलि के कण दिखाई देते हैं, वे प्रमाणोंकी गिनतीमें प्रथम हैं उसे त्रस रेणु कहते हैं ॥ १३२ ॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।
ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ १३३ ॥

आठ त्रस रेणुकी एक लिक्षा होती है, उन तीन लिक्षाओंका एक राजसर्षप होता है, और तीन राजसर्षपोंका एक गौरसर्षप होता है ॥ १३३ ॥

सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।
पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥

छः गौरसर्षपोंका एक मध्यम अर्थात् बहुत मोटा न बहुत छोटा जब होता है, और तीन जवोंकी एक घोंघची (रत्ती) होती है, पांच रत्तियोंका एक मासा होता है, और सोलह मासोंका एक सुवर्ण होता है ॥ १३४ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ।
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥ १३५ ॥

चार सुवर्णका एक पल होता है और दश पलका एक धरण होता है, और दो घोंघची बराबर करके कांटेमें धरी जायँ तो उनका एक रूप्यमाषक जानना चाहिये ॥ १३५ ॥

ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः ।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥ १३६ ॥

सोलह रूप्यमाषकोंका एक रौप्य धरण और पुराण राजत अर्थात् रजत संबंधी होता है और तांबे के कर्ष भरको कार्षापण तथा पण जानना चाहिये, पल के चौथाई भागको कर्ष कहते है ॥ १३६ ॥

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ।
चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥ १३७ ॥

दश धरणका एक रौप्य शतमान और चार सुवर्णका एक निष्क जानना चाहिये ॥ १३७ ॥

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥ १३८ ॥

ढाई सौ पणका प्रथम साहस और पांच सौ पणका मध्यम साहस, तथा एक हजार पणका उत्तम साहस होता है ॥ १३८ ॥

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति ।
अपह्नवे तद्द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥

आसामी यदि ऋण देना स्वीकार करै तो राजा आसामीपर पांच पण सैंकड़ा दंड करै, और यदि वह कहै कि ऋण नहीं देना है और पीछे ऋण सावित हो तो उसपर दूना अर्थात् दस पण सैंकड़ा करै यह मनुकी आज्ञा है ॥ १३९ ॥

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम् ।
अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥ १४० ॥

व्याज लेनेवाला मनुष्य वसिष्ठका कहा हुआ वृद्धि (धन बढ़ानेवाला) व्याज ग्रहण करे अर्थात् प्रतिमास सैंकड़ेका अस्सीवां भाग (१०० रुपये पीछे सवा रुपया) ले ॥ १४० ॥

द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् ।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी ॥ १४१ ॥

अथवा साधुओंके आचारका स्मरण करके सैकड़ा पीछे प्रति महीने २) रु. व्याज ले क्योंकि सैकड़ा पीछे दो रुपया व्याज लेता हुआ धनी पापका भागी नहीं होता ॥ १४१ ॥

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम् ।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥ १४२ ॥

ऋण देनेवाला वर्ण के क्रमसे ब्राह्मणसे दो पण सैंकड़ा, तीन पण सैंकड़ा क्षत्रीसे, चार पण सैकड़ा वैश्यसे और पांच पण सैंकड़ा व्याज शूद्रसे प्रति-मास ले ॥ १४२ ॥

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ।
नचाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥ १४३ ॥

यदि कोई घर आदि धनी के पास गिरवी रखकर आसामी रुपया ले तो उस रुपये का व्याज अलग न लगेगा (अर्थात् मकान आदिका किरायाही उसे मिलेगा) और बहुत समय बीतनेपर भी आसामी इन गिरवी की वस्तुको न तो दूसरे के पास रखा सक्ता है और न बेच सक्ता है ॥ १४३ ॥

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत् ।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥ १४४ ॥

धनी गिरवी के वस्त्र आदि बलपूर्वक भोग न करे, यदि महाजन गिरवीकी वस्तुको भोग करे तो व्याज छोड़ दे, और भोग करनेसे यदि वस्तु बिगड़ जाय तो मूल्य देकर आसामीको संतुष्ट करे नहीं तो उसे उस वस्तुकी चोरी का पाप लगेगा ॥ १४४ ॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः ।
अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५ ॥

गिरवी रक्खी हुई वा भोगार्थ दी हुई वस्तु मांगी जाय तभी देदे, बहुत समय तक रहनेपर भी वे उसीक्षण लेने के योग्य हैं ॥ १४५ ॥

संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन ।
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

गौ, ऊंट, चढ़ने के घोड़े, बैल आदि पशु जो गिरवी रक्खे जांय और धनी आसामीकी राजीसे उनका भोग करे तो बहुत समय बीत जानेपर भी, उनपर स्वामीका दावा बना रहता है ॥ १४६ ॥

यत्किंचिद्दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी।
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ १४७ ॥

यदि वस्तुके धनीके सामने कोई दूसरा उसकी वस्तुको दस बरसतक उपभोग करै और वह देखकर कुछ न कहै, तो उस वस्तुसे उसका दावा जाता रहता है ॥ १४७ ॥

अजडश्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते।
भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्द्रव्यमर्हति ॥ १४८ ॥

यदि धनी जड़ और सोलह वर्षसे कम उमरवाला नहो और वस्तु भी उसके सामने वर्ती गई हो, तो व्यवहारके अनुसार उसके स्वामीका दावा उस वस्तु परसे जाता रहता है, और यह वस्तु भोक्ताकी होजाती है ॥ १४८ ॥

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः।
राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४९ ॥

गिरिवी, ग्राम आदिकी सीमा, बालकका धन, धरोहर, उपनिधि (बासनमें रक्खा हुआ विना गिनाया वंद धन), स्त्री, राजधन, वेदपाठीका धन इन सब वस्तुओंका दावा भोगनेसे नष्ट नहीं होता है ॥ १४९ ॥

यः स्वामिनाननुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।
तेनार्धवृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥ १५० ॥

जो मूर्ख पुरुष धनके स्वामीकी अनुमति विना गिरवीकी वस्तुओंका भोग करता है उसे उसके लिये नियत व्याजका आधा भाग छोड़ देना चाहिये ॥ १५० ॥

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता।
धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ १५१ ॥

मूल और व्याज एक साथही लिया जाय, तो व्याज मूल धन के दूनेसे अधिक न लेना चाहिये। धान्य, वृक्षोंके फल, ऊर्ण आदि लोम और बैल इनमें मूलसे पांच गुना व्याज दिया जा सक्ता है ॥ १५१ ॥

कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिद्ध्यति।
कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥ १५२ ॥

विधिके अनुसार ठहरे हुएसे अधिक व्याज लेना वर्जित है, ज्यादा व्याज लेनेकी पण्डित लोग निन्दा करते हैं। सैकड़े पीछे पांचसे ज्यादा व्याज नहीं लिया जा सक्ता है ॥ १५२ ॥

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत्।
चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥ १५३ ॥

एक, दो वा तीन महीनेमें वा एक वर्षमें एक वार व्याज लेनेके नियमसे ऋण दे; परंतु एक वर्षसे अधिक समयमें अर्थात् डेढ़ वा दो वर्षमें एकवार

व्याज लेनेका नियम न करै, और शास्त्रके विरुद्ध व्याजभी न ले; व्याजके व्याज, प्रत्येक मासमें बढ़ाया गया व्याज, देह आदिसे सेवाके रूपमें व्याज, तथा धनीके भयसे जो व्याज बढ़ाया जाता है, इन सबका त्याग करना चाहिये ॥ १५३ ॥

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम्।
स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥ १५४ ॥

आसामी यदि ऋण चुकानेमें असमर्थ हो और फिर कागद लिखना चाहै तो व्याज देकर उसे फिर कागद लिखदे ॥ १५४ ॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत्।
यावती संभवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ १५५ ॥

यदि व्याज भी न दे सकै तो मूल और व्याज मिलाकर फिर कागद लिखदे, पर जो व्याज मूलके साथ कागदमें लिखा जायगा उसपर भी उसे व्याज देना होगा ॥ १५५ ॥

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः।
अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५६ ॥

निश्चय किये देश और निश्चित कालमें गाड़ी आदिसे वस्तु न पहुचानेपर पूरा भाड़ा नहीं दिया जाना चाहिये ॥ १५६ ॥

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥ १५७ ॥

समुद्रमार्गसे जानेवाले, देशकालके ज्ञाता वणिक् जो भाड़ा निश्चय करें वही प्रमाणित होता है अर्थात् दिया जाता है ॥ १५७ ॥

यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः।
अदर्शयन्स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८ ॥

जो मनुष्य जिस आसामीको हाजिर कर देनेका जामिन है और वह ठीक समय पर उसे हाजिर न करसकै तो उसे अपने धनमेंसे उसका ऋण देना होगा ॥ १५८ ॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत्।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥ १५९ ॥

जमानतका रुपया, हँसीमें जो किसी गया के पंडा आदिको धन देने कहा हो, द्यूतमें जो ऋण किया हो, मद्यपानमें उड़ाया हो, राजाके दंडका जो शेष हो और महसूलका शेष धन बाकी हो ये सब (पिताके मरने पर) पुत्र को नहीं देने चाहिये ॥ १५९ ॥

दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः।
दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥

आसामीको हाजिर करनेकी जमानत करने पर तो पूर्वोक्त नियम है परंतु जो पिता अपने मालका जामिन होकर मरजाय तो पुत्र आदि उसके वारिसोंसे राजा ऋण दिवावै ॥ १६० ॥

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम्।
पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥

जामिन धन देनेकी सामर्थ्य होने पर भी रुपये नदे और मरजाय तो धनी किससे अपना रुपया वसूल करै ॥ १६१ ॥

निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंधनः।
स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥ १६२ ॥

जो आसामीने जामिनको धन दें दिया हो और उसके पुत्र महाजनको धन देनेमें समर्थ हों तो पिताके मरने पर अपने धनमेंसे ऋण चुका दें यही मर्य्यादा है ॥ १६२ ॥

मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा।
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ १६३ ॥

मत्त, उन्मादग्रस्त, रोगी, सेवक, नाबालिग और वृद्ध इनके साथ विना पिता भाई आदिकी आज्ञाके ऋण सिद्ध नहीं होता है ॥ १६३ ॥

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता।
बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् ॥ १६४ ॥

जो वचन लेख आदिसे स्थिर होने पर भी शास्त्र और व्यवहारके विरुद्ध हो वह सत्य न माना जाय ॥ १६४ ॥

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्।
यत्र वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥

गिरवी, बेचना, दान और प्रतिग्रह अथवा अन्य जो कार्य छलसे किये जांय उन सबको राजा रद्द कर दे ॥ १६५ ॥

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः।
दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥ १६६ ॥

यदि कोई कुटुंबमें खर्चकर ऋणी होकर मरजाय तो अलग वा शामिल रहनेवाले बांधवोंकोही वह ऋण अपने धनमेंसे देना होगा (क्योंकि उन्हींके पालन पोषणके लिये रुपया लिया गया था) ॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत्।
स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥१६७ ॥

यदि सेवकभी स्वामीके कुटुंबपोषणके लिये ऋण करै तो स्वामी, अपने देशमें हो वा परदेशमें हो, उसे यह ऋण देना होगा ॥ १६७ ॥

बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम्।
सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ १६८ ॥

जो कुछ बलपूर्वक दिया, खाया वा लिखा जाता है तथा बलपूर्वक जो कुछ किया जाता है वह सब झूंटा है यह मनुजीने कहा है ॥ १६८ ॥

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम्।
चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ् नृपः ॥ १६९ ॥
अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः।
न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥ १७० ॥

साक्षी, जामिन और स्वजन ये तीनों दूसरोंके लिये क्लेश पाते हैं, और ब्राह्मण, महाजन, वणिक् तथा राजा इन चारोंकी दूसरोंसे बढ़ती होती है ॥ १६९ ॥ राजा निर्धन होनेपर भी जो वस्तु लेने योग्य न हो उसे न ले और जो लेने योग्य हो उस अल्पवस्तुको समृद्ध होने पर भी लेले, क्योंकि ॥ १७० ॥

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात्।
दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥ १७१ ॥

नहीं लेने योग्य वस्तुको लेनेसे और लेनेके योग्य वस्तुको न लेनेसे राजाकी दुर्बलता प्रकट होती है और उसके दोनों लोक नष्ट होते हैं ॥ १७१ ॥

स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वबलानां च रक्षणात्।
बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते ॥ १७२ ॥

न्यायसे धन लेना, वर्णोंका उनकी जातिमें परस्पर संबन्ध कराना और दुर्बलोंकी रक्षा करना इन बातोंके करनेसे राजाका बल बढ़ता है और उसकी इस लोक और पर लोकमें वृद्धि होती है ॥ १७२ ॥

तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये।
वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥ १७३ ॥

इसलिये राजा जितेन्द्रिय और जितक्रोध होकर और अपने प्रिय और अप्रियोंका त्यागकर समताका अवलंबन कर यमराजके समान बर्ताव करै ॥ १७३ ॥

यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः।
अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥ १७४ ॥

जो राजा मोहके वश होकर अधर्मसे कार्य करता है उस दुरात्माको शत्रु शीघ्रही वशमें कर लेते हैं ॥ १७४ ॥

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान्धर्मेण पश्यति।
प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ १७५ ॥

जो राजा काम क्रोधको रोककर धर्मसे व्यवहार करता है प्रजा उसका अनुगमन इस प्रकार करती है जैसे नदियां समुद्रका ॥ १७५ ॥

यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे ।
स राज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ १७६ ॥

जो आसामी (अपनेको राजाका प्यारा समझ कर) अपनी इच्छासे धनको साधित करतेहुए धनीकी राजासे शिकायत करै उसपर राजा ऋणका चतुर्थांश दंड करै और उधारका रुपया भी उससे दिलावै ॥ १७६ ॥

कर्मणापि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः ।
समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥ १७७ ॥

आसामी यदि महाजनका स्वजन वा निकृष्ट जाति हो और धन चुकानेमें असमर्थ हो तो महाजन काम कराकरही अपना धन वसूल करै, और जो ऋणी श्रेष्ठ जाति हो तो अपनी आयके अनुसार धीरे २ धन देता रहै ॥ १७७ ॥

अनेन विधिना राजा मिथोविवदतां नृणाम् ।
साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥ १७८ ॥
कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः ॥ १७९ ॥

राजा आपसमें झगड़ा करनेवाले लोगोंके साक्षी आदिसे निर्णय किये कामोंको इस भांति निवटावै ॥ १७८ ॥ बुद्धिमान्को चाहिये कि कुलीन, सदाचारी, धर्मज्ञ, सत्यवादी, अधिक कुटुम्बी, धनी और उत्तम पुरुषके पास धरोहर रक्खै ॥ १७९ ॥

यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः ।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १८० ॥

जो पुरुष, जिस प्रकार जिसके हाथमें धन दे, लेनेके समय वह उसी प्रकार उस द्रव्यको ले, जैसा देना वैसा लैना ॥ १८० ॥

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति ।
स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसंनिधौ ॥ १८१ ॥

धरोहरवालेके मांगने पर जो लेनेवाला नदे तो रखनेवालेके परोक्षमें न्यायकर्ता उससे माँगे ॥ १८१ ॥

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः ।
अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥ १८२ ॥

न्यायकर्ता पहिली धरोहरमें गवाह न होनेपर युवा और रूपवान् राजाके दूतोंसे वहाना करके यथार्थ रीतिसे उसके यहां सुवर्ण रखवा कर फिर माँगे ॥ १८२ ॥

स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् ।
न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥

यदि वह सुवर्णकी धरोहर जैसी दूतरख गये हों उसे स्वीकार कर ले और

कह दे कि सत्य है तो न्यायकर्ता जान ले कि उसके पास पहिले कुछ नहीं रक्खा है, और वह पहिले अभियोगसे छूट जायगा ॥ १८३ ॥

तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि ।
उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ १८४ ॥

और यदि वह उन राजदूतोंके सुवर्णको न दे तो विधिपूर्वक राजा उसे दंड देकर उससे दोनों धरोहर दिलवावै यही धर्मका निश्चय है ॥ १८४ ॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे ।
नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥

निक्षेप[1] और उपनिधि[2] रखनेवालेके रहते उसके पुत्र आदिको कभी न दे क्योंकि सोंपनेवालेके विनाशमें ये नष्ट हो जाती हैं, परंतु जीतेहुए नष्ट नहीं होतीं ॥ १८५ ॥

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे ।
न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः ॥ १८६ ॥

जो पुरुष धरोहर रखनेवाले मृतपुरुषके पुत्रादिको स्वयं धरोहर दे दे तो राजा वा धरोहर रखनेवालेके बांधव अन्य वस्तुभी बताकर उसपर दावा न करैं (कि हमारी तेरे पास अभी और वस्तु भी है; यदि शंका हो तो यह करै कि) ॥ १८६ ॥

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् ।
विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥

छलरहित होकर प्रसन्नतासे शांतिपूर्वक इस धनका निर्णय करै और धरोहर रखनेवालेके चरितका विचार करै ॥ १८७ ॥

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने ।
समुद्रे नाप्नुयात्किंचिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥

नहीं मानीहुई सब धरोहरोंके सावित करनेमें यह पहिली विधि कही; परंतु मोहर की हुई उपनिधिमेंसे कुछ न ले और ज्योंकी त्यों लौटा दे तो रखनेवालेको कुछ नहीं मिलता ॥ १८८ ॥

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा ।
न दद्याद्यदि तस्मात्स न संहरति किंचन ॥ १८९ ॥

यदि सोंपनेवालेका द्रव्य चोर हर ले गए हों, वा जलमें वह गया हो, अथवा अग्निमें जल गया हो, और जिसकें पास धरोहर रक्खी थी उसने उसमेंसे कुछ न लिया हो तो सोंपनेवालेको कुछ नहीं देना चाहिये ॥ १८९ ॥

---

(१) जो गिनकर विना मोहर लगाए सोंपा जाय उसको निक्षेप कहते हैं ।

(२) और जो विना गिने मोहर लगाकर सोंपा जाय उसे उपनिधि कहते हैं ।

निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च।
सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः॥ १९०॥

धरोहर हरनेवालेका तथा विना सौंपकर मांगनेवालेका वैदिक शपथ तथा साम आदि सब उपायोंके सहारेसे राजा निश्चय करै॥ १९०॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम्॥ १९१॥

सौंपेहुये धनको नहीं देनेवाले और विना सौंपेको मांगनेवाले दोनोंको चोरके समान, वा द्रव्यके अनुसार दंड दे॥ १९१॥

निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद्दमम्।
तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः॥ १९२॥

निक्षेप और उपनिधि हरनेवालोंको राजा समान रीतिसे उतनाही दंड दे कि जितनी धरोहर थी॥ १९२॥

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः।
ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः॥ १९३॥

जो पुरुष छलोंसे पराया धन हरै उसे तथा उसके सहायकको राजा अनेक प्रकारके मारनेके उपायोंसे नष्ट करदे॥ १९३॥

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसंनिधौ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति॥ १९४॥

साक्षीके सामने जितनी धरोहर धरी जाती है वह उतनी ही माननी चाहिये, विरुद्ध कहनेसे आसामी दंडनीय होगा॥ १९४॥

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा।
मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः॥ १९५॥

एकान्तमें रक्खी हुई धरोहर एकान्तमेंही लौटा देनी चाहिये क्योंकि आपसमें जैसा लैना वैसा देना॥ १९५॥

निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च।
राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम्॥ १९६॥

निक्षेप और प्रीतिसे रक्खे गए उपनिधिके धनकी अदल वदल करनेमें राजा ऐसा निर्णय करै कि जिसमें रखनेवालेको कुछ पीड़ा न हो॥ १९६॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः।
न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम्॥ १९७॥

जो स्वामी न हो और स्वामीकी अनुमति विना उसकी वस्तु वेचदे वह वास्तवमें चोर है, और अपनेको चोर नहीं मानता तो राजा उसका किसी विषयमें प्रमाण न समझे और न उसकी साक्षी माने॥ १९७॥

अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् ।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ १९८ ॥

यदि वह स्वामीके वंशका हो तो उसपर ६०० पण दंड करै; और स्वामीके वंशका नहो अथवा स्वामीके संबन्धी पुत्रादिकसे वह धन उसे प्रतिग्रह वा मोल लेकर न मिला होय तो वह चोरके पापको प्राप्त होता है, अर्थात् चोरके समान दंडनीय होता है ॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा ।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥

स्वामीके विना जो दिया गया, बेचागया अथवा मोल लिया गया उसे व्यवहारकी रीतिसे ठीक नहीं जाने ॥ १९९ ॥

संभोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् ।
आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥ २०० ॥

जहां किसी वस्तुका भोग देखा जाता हो परन्तु उसके वहाँ आनेका कोई प्रमाण नहीं हो तो वहां आनेका निश्चय प्रमाण होता है, भोग नहीं; यही मर्यादा है ॥ २०० ॥

विक्रयाद्यो धनं किंचिद्गृह्णीयात्कुलसंनिधौ ।
क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ २०१ ॥

बेचने योग्य स्थानसे व्यवहारियोंके सामने ठीक मूल्य पर जो वस्तु खरीदै वह विशुद्ध धन न्यायसंगत होता है ॥ २०१ ॥

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः ।
अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥ २०२ ॥

जो खरीदनेवाला प्रकटमें पराई वस्तु खरीद करनेसे शुद्ध साबित हो तो उसका धन नष्ट नहीं होता और वह दंडनीय नहीं होता; राजाको चाहिये कि उसे छोड़ दे ॥ २०२ ॥

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति ।
न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ २०३ ॥

एक वस्तुमें दूसरी वस्तु मिलाकर, बुरी को अच्छी कह कर, कम तोलकर और जो सामने न होनेसे ठीक २ मालूम नहो ऐसी वस्तु कोई नहीं बेच सक्ता ॥ २०३ ॥

अन्यां चेद्दर्शयित्वान्या वोढुः कन्या प्रदीयते ।
उभे त एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥

यदि कोई उत्तम कन्या दिखाकर निकृष्ट कन्या दान करै तो वर एकही शुल्कसे (अर्थात् जो रुपया कन्याके ऊपर देना निश्चय हुआ है उससे) दोनों कन्याओंके साथ विवाह करै ऐसा मनुने कहाहै ॥ २०४ ॥

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना।
पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥ २०५ ॥

जो मनुष्य उन्मत्त, कुष्ठ आदिसे ग्रस्त, और जिसके साथ मैथुन हो चुका हो ऐसी कन्याके दोषोंको पहिले कहकर वरको देता है वह दंडनीय नहीं होता है ॥ २०५ ॥

ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत्।
तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सह कर्तृभिः ॥ २०६ ॥

यज्ञमें यदि ऋत्विज व्रती (रोगादिसे) अपने कर्मका त्याग करै तो जितना काम उसने किया है उतनीही दक्षिणा उसे, और करनेवालोंके साथ, देनी चाहिये ॥ २०६ ॥

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन्।
कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥ २०७ ॥

सब दक्षिणा लेकर यदि कार्यको पूरा न करै तो वह सब दक्षिणा रक्खै, परंतु शेष कार्य उसे किसीसे कराना होगा ॥ २०७ ॥

यस्मिन्कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः।
स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा ॥ २०८ ॥

जिस कार्यमें प्रत्येक अंगकी जो दक्षिणा कही है उस सबको वह ऋत्विज स्वयंही लेले, अथवा सब ऋत्विज उसे आपसमें बांटलें ॥ २०८ ॥

रथं हरेत चाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम्।
होता वापि हरेदश्वमुद्गाता चाप्यनः क्रये ॥ २०९ ॥

आधान कार्यमें अध्वर्यु रथको, ब्रह्मा तथा होता अश्वको, और उद्गाता शकट-को ग्रहण करै ॥ २०९ ॥

सर्वेषामर्द्धिनो मुख्यास्तदर्धेनार्धिनोऽपरे।
तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥ २१० ॥

सब ऋत्विजोंमें जो मुख्य चार हैं वे आधी दक्षिणा, दूसरे चार उससे आधी, तीसरे चार उसका तीसरा भाग, और चौथे चार उसके चौथाईके भागी होते हैं ॥ २१० ॥

संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः।
अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११ ॥

जो लोग एकत्र मिलकर कार्य करैं उनके आपसके भागका भी ऊपर कही हुई रीतिसे निर्णय करै ॥ २११ ॥

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम्।
पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥ २१२ ॥

यदि किसी पुरुषने धर्मकार्यके लिये मांगनेवालेको कुछ धन देदिया हो और याचक उस धनसे धर्मकार्य न करै तो उसे वह धन लौटा देना चाहिये ॥ २१२ ॥

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः ।
राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥ २१३ ॥

यदि याचक अभिमान वा मोहके वशमें होकर प्राप्त धनको न लौटावै तो राजा उसपर पापशुद्धिके लिये एक सुवर्ण दंड करै ॥ २१३ ॥

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥

यहांतक दियेहुए धनके लौटानेका विषय कहा, अब वेतन न देनेका विषय वर्णन करता हूं ॥ २१४ ॥

भृतोनार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् ।
स दण्ड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥ २१५ ॥

जो सेवक स्वस्थ रहकर भी अपने कार्योंको अहंकारसे नहीं करै उसपर राजा आठ कृष्णल सुवर्ण दंड करै और उसे कुछभी वेतन नदे ॥ २१५ ॥

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्यथाभाषितमादितः ।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम् ॥ २१६ ॥

परंतु यदि वह पीड़ित हो और स्वस्थ होनेपर उसी प्रकार अपने कार्यको करै कि जैसा कहा था तो उसे पहिले समयका भी वेतन मिलैगा ॥ २१६ ॥

यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत् ।
न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ २१७ ॥

पीड़ित हो चाहे स्वस्थ हो, यदि कार्य स्वयं अथवा दूसरेके द्वारा पूरा न करै तथा उसमें थोड़ा भी बाकी रहै तो उसे उस कामका कुछ भी वेतन न देना चाहिये ॥ २१७ ॥

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥ २१८ ॥

यह वेतन देनेकी विधि संपूर्ण रीतिसे कहीगई । अब व्यवस्था तोड़नेवालोंके धर्म कहता हूं ॥ २१८ ॥

यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम् ।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥ २१९ ॥

जो ग्रामवासी वा देशवासी शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करै और फिर लोभसे भंग करै तो राजा उसे राज्यसे निकाल दे ॥ २१९ ॥

निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम् ।
चतुःसुवर्णान्षण्निष्कांश्छतमानं च राजतम् ॥ २२० ॥

अथवा समयकी प्रतिज्ञा भंग करनेवालेको बांधकर चार सुवर्ण वा छः निष्क वा शत रजत दंड करै ॥ २२० ॥

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥ २२१ ॥

धर्मात्मा राजा ग्राम वा जातिसमूहमें प्रतिज्ञाभंग करनेवालोंको भी इसी प्रकार दंड दे ॥ २२१ ॥

क्रीत्वा विक्रीय वा किंचिद्यस्येहानुशयो भवेत् ।
सोऽन्तर्दशाहात्तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा ॥ २२२ ॥

जो पुरुष किसी वस्तुको मोल लेने या वेचनेपर पीछे पश्चात्ताप करै वह उस वस्तुको दस दिनके भीतर लौटा दे वा लेले ॥ २२२ ॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् ।
आददानो ददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ २२३ ॥

परंतु दस दिनके बाद न लेय और न देय । दस दिनके बाद वस्तु फेरने वालेपर राजा छः सौ पण दंड करै ॥ २२३ ॥

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति ।
तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥ २२४ ॥

जो पुरुष दोषयुक्त कन्याके दोषोंको विना कहे दान करै तो राजा स्वयं उसपर छयानवे पण दंड करै ॥ २२४ ॥

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद्द्वेषेण मानवः ।
स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥ २२५ ॥

जो मनुष्य द्वेषसे कन्याको क्षतयोनि कहकर ऐसे दोषको साबित न कर सकै तो राजा उसपर सौ पण दंड करै ॥ २२५ ॥

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः ।
नाकन्यासु क्वचिन्नृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥ २२६ ॥

मनुष्योंमें विवाहविषयके सब मंत्र केवल कन्याके ही लिये कहे हैं, क्षतयोनिके लिये नहीं, क्योंकि वे धर्महीन होती हैं ॥ २२६ ॥

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् ।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ २२७ ॥

विवाहके मंत्रही, निश्चय करके, स्त्रीके लक्षण हैं, और उन मंत्रोंकी सिद्धि कन्याके सप्तवें पदमें पंडितोंको जाननी चाहिये (सातवां पाँव रखनेके पहिले नहीं होती) ॥ २२७ ॥

यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ।
तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥

जिस २ कार्य के किये पीछे जिस मनुष्य को पछतावा हो उस मनुष्यको राजा इसी विधिसे धर्म मार्गमें स्थापन करै ॥ २२८ ॥

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे ।
विवादं संप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥ २२९ ॥

अब पशुओंके विषयमें जो स्वामी तथा ग्वालोंमें व्यतिक्रम होजाय तो उस विवादको धर्मपूर्वक यथार्थ कहूंगा ॥ २२९ ॥

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे ।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥ २३० ॥

दिनमें पशुपालनेवालेको सोंपेहुए पशुओंसे जो खेती आदिमें उपद्रव हो-जाय तो ग्वालेकी बुराई है, और रात्रिमें चरवाहे के लौटानेपर जो स्वामीके घरमें कोई पशु उपद्रव मचावै तो स्वामीका दोष है, और जो दिनरात चरानेवाले के पास रहते होयँ तो चरवाहेकी ही बुराई है ॥ २३० ॥

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम् ।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृतिः ॥ २३१ ॥

जो ग्वाला वेतनके बदलेमें दूध ले, तो वह सेवक स्वामीकी अनुमतिसे दश गौओंमें जो श्रेष्ठ गौ हो उसका दूध ले सक्ता है, यही ग्वालेका वेतन होता है ॥ २३१ ॥

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम् ।
हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥ २३२ ॥

यदि कोई पशु खो जाय, कीट अथवा कुत्तोंके काटनेसे नष्ट हो जाय, तथा ऊंचे नीचे स्थानमें गिरकर मरजाय, अथवा ग्वालेके पुरुषार्थ न करनेसे नष्ट हो जाय तो ग्वालियाही स्वामीको दैनदार है ॥ २३२ ॥

विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति ।
यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥ २३३ ॥

जो ग्वालेके पाससे चोर पशुको हरलें और ग्वाला उसी देश और उसी कालमें यह खबर अपने स्वामीको डंकेकी चोटसे जतादे तो पशुपालक उस हरेहुए पशुका देनदार नहीं होगा ॥ २३३ ॥

कर्णौ चर्म च वालांश्च वस्तिं स्नायुं च रोचनाम् ।
पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत् ॥ २३४ ॥

यदि पशु स्वयं मरजांय तो उनके कान, चर्म, वाल, वस्ति, स्नायु, गोरोचन स्वामियोंको दे दे, और उनके (सींग, खुर आदि) अंग दिखादे (कि जिससे स्वामीको निश्चय हो जाय) ॥ २३४ ॥

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति ।
यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥ २३५ ॥

यदि भेड़िये आकर भेड़ बकरीको पकड़लें और ग्वाल उनके बचानेको न आवै तो जिस बकरी वा भेड़ीको भेड़िया बलपूर्वक मारै उसका ग्वालेपर पाप पड़ता है, अर्थात् उसका देनदार ग्वाला होगा ॥ २३५ ॥

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने ।
यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी ॥ २३६ ॥

परंतु यदि वनमें रोके हुए और साथ चरते हुए पशुओंमेंसे किसी एक पशुको भेड़िया कूदकर मारै तो उसमें ग्वालियेका दोष न होगा ॥ २३६ ॥

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः ।
शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥ २३७ ॥

गांवके चारों ओर चारसौ हाथ अथवा तीन वार लकड़ी फेंकनेसे जहांतक पहुंचे उतना स्थान गौ चरानेके लिये रक्खै, और नगरके पास इससे तिगुना होना चाहिये ॥ २३७ ॥

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि ।
न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥

जो इस स्थानमें विना बाड़बांधे धान्यको पशु नष्ट करैं तो राजा पशु रक्षकोंको दंड न दे ॥ २३८ ॥

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् ।
छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥

उस स्थानकी बाड़ इतनी ऊंची हो कि जिसमेंसे ऊंट न देख सके; और उसमें ऐसे छेद न रक्खै कि जिसमें कुत्ते और शूकर मुख भीतर घुसेड़ सकैं ॥ २३९ ॥

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः ।
सपालः शतदण्डोर्हो विपालान्वारयेत्पशून् ॥ २४० ॥
क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति ।
सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥ २४१ ॥

मार्गके किनारे वा ग्रामके पासके बाड़किये हुए खेतको यदि पशु नष्ट करै तो पशु पालक १०० पण दंडके योग्य होता है; और जो पशुओंके साथ ग्वाला न हो और पशु चरने लगें तो खेतवाला पशुओंको खेतसे बाहर निकाल दे ॥ २४० ॥ यदि मार्ग ग्रामान्तके सिवाय अन्य खेतोंको पशु नष्ट करै तो पशुका स्वामी सवापण दंड योग्य होगा; और सब खेतको पशु नष्ट करदे तो स्वामीको पूरी हानि देनी होगी यही निश्चय है ॥ २४१ ॥

अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान्देवपशूंस्तथा ।
सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत् ॥ २४२ ॥

दश दिनके भीतरकी व्याई हुई गऊ, चक्र शूलसे अंकित छोड़े हुए बैल तथा देवताओंको उद्देश्यसे छोड़े हुए पशुओंके साथ ग्वाला हो चाहे न हो, दंड नहीं दिया जायगा, यह मनुजीने कहा है ॥ २४२ ॥

क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत् ।
ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रिकस्य तु ॥ २४३ ॥

यदि किसानके दोषसे खेत नष्ट हो तो जितना कर राजाको मिलनेवाला हो उसका दसगुणा, और जो किसानके विना जाने नौकरोंकी असावधानीसे खेत नष्ट हुआ हो तो पांच गुणा दंड किसानपर होना चाहिये ॥ २४३ ॥

एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे ॥ २४४ ॥

स्वामी, पशु और ग्वाले इनके अपराध करने पर धार्मिक राजाको इसी-प्रकार व्यवस्था करनी चाहिये ॥ २४४ ॥

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः ।
ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ २४५ ॥

यदि दो ग्रामोंकी सीमाके लिये विवाद उत्पन्न हो तो राजा जेठके महीनेमें सीमाके चिन्होंके प्रकट होनेपर सीमाका निर्णय करै ॥ २४५ ॥

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान् ।
शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ २४६ ॥
गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च ।
शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति ॥ २४७ ॥

वट, पीपल, ढाक, सेमल, साल, ताल तथा गूलर आदि दूधके वृक्षोंको सीमा चिन्हके लिये लगाना उचित है ॥ २४६ ॥ गुल्म, वांस, अनेक प्रकारके शमीवृक्ष, वल्ली, लता, मट्टीके टीले, सरपते और कुब्जक गुल्म आदि वृक्षोंको सीमाके चिन्ह करनेसे सीमा कभी नष्ट नहीं होती ॥ २४७ ॥

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च ।
सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८ ॥

सीमाके संधिस्थानोंमें तालाब, कुए, बावड़ी, झरने, देवस्थान निर्मित करने चाहियें ॥ २४८ ॥

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् ।
सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥ २४९ ॥

संसारमें मनुष्योंका सीमाके निर्णयमें सदासे भ्रम देखकर राजाको चाहिये कि और २ भी गुप्त चिन्ह करवा दे ॥ २४९ ॥

अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान्भस्म कपालिकाः ।
करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा वालुकास्तथा ॥ २५० ॥
यानि चैवंप्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् ।
तानि संधिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत् ॥ २५१ ॥

पत्थरके टुकड़े, हड्डी, गौके वाल, तुस, राख, कपालिका, सूखा गोवर, ईंटें, पत्थरके कंकड़, कोयले और रेत तथा अन्य प्रकारकी वस्तु जिन्हें वहुत दिनोंमें भी पृथ्वी अपने रूपमें न मिला सके उनको गुप्त प्रकारसे सीमाके संधिस्थानों में रखवा दे ॥ २५० ॥ २५१ ॥

एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः ।
पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २५२ ॥

विवादयुक्त ग्रामोंकी सीमाको इन पूर्वोक्त चिन्होंसे और पहिले जोतने बोनेसे, तथा जलके प्रवाहसे राजा सीमा निश्चय करै ॥ २५२ ॥

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने ।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः ॥ २५३ ॥

इन चिन्होंको देखकरभी यदि संदेह न जाय तो गवाहोंके द्वारा सीमाका निश्चय करै ॥ २५३ ॥

ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः ।
प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥ २५४ ॥

गांववालोंके तथा सीमाके वादी प्रतिवादी इन दोनोंके सामने राजा गवाहों से सीमाके चिन्होंको पूछै ॥ २५४ ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम् ।
निवध्नीयात्तथा सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः २५५ ॥

राजासे पूछे गए वे सब साक्षी जिस प्रकार सीमाका निश्चय कहैं उसी प्रकार सीमाको और उन सब साक्षियोंके नामोंको राजा एक पत्र पर लिख दे ॥ २५५ ॥

शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः ।
सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ॥ २५६ ॥

सब गवाह गलेमें माला धारण कियें, रक्त वस्त्र पहिरें और माथेपर मृत्तिकाको रखकर और अपने २ पुण्योंकी सौगन्द खाकर यथार्थरीतिसे सीमाका निर्णय करैं ॥ २५६ ॥

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः ।
विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥ २५७ ॥

सच्चे गवाह ज्यौं की त्यौं वात कह कर निष्पाप होते हैं, और झूठी गवाही देनेवालों पर राजा दोसौ पण दंड करै ॥ २५७ ॥

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः ।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसंनिधौ ॥ २५८ ॥

और जो साक्षियोंका अभावहो तो समीपस्थ चार ग्राम सावधान होकर राजाके सामने सीमाका निर्णय करैं ॥ २५८ ॥

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम् ।
इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥ २५९ ॥

यदि उक्त चार ग्राम और ग्राममें सदासे रहनेवाले साक्षियोंका अभाव होय तो राजा (आगे कहे) वनमें विचरनेवाले पुरुषोंसे धर्मपूर्वक साक्षी ले ॥ २५९ ॥

व्याधाञ्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान् ।
व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ॥ २६० ॥

व्याध, पक्षियोंका मांस बेचनेवाले, ग्वाले, मत्स्यजीवी, वनमें औषधि संग्रह करनेवाले, सपेरे, उञ्छ वृत्तिवाले और फल फूल आदि लानेवाले अंत्यज इनसे सीमाकी बात पूछैं ॥ २६० ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासंधिषु लक्षणाम् ।
तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥

पूछनेपर वे लोग सीमाके विषयमें जैसा लक्षण कहैं उसी भांति राजा दोनों ग्रामोंकी सीमा धर्मसे बांधे ॥ २६१ ॥

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च ।
सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥

खेत, कुआ, तालाव, वगीचा वा गृह इनकी सीमाका निर्णय उस देशके रहनेवाले गवाहोंके द्वारा जानें ॥ २६२ ॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् ।
सर्वे पृथक्पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥

यदि सीमाकी मर्यादा के विवाद करनेवाले मनुष्योंकी साक्षी देनेमें देशवासी झूठ बोलें तो राजा उन सवपर अलग २ मध्यम साहस दंड करै ॥ २६३ ॥

गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादज्ञानाद्द्विशतो दमः ॥ २६४ ॥

जो पुरुष भय दिखाकर दूसरेका घर, तालाव, वगीचा और खेत हरै तो राजा उसपर पांचसौ पण दंड करै, और जो अज्ञानसे हरै तो दोसौ पण दंड करै ॥ ४६४ ॥

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् ।
प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥

यदि अन्य उपायोंसे सीमा ठीक नहो तो धार्मिक राजा स्वयं इनका उपकार समझ दोनोंको भूमि बांट दे, ऐसीही व्यवस्था है ॥ २६५ ॥

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥

सीमा निर्णयमें यह सब धर्म तुमसे कहा; इसके उपरांत कठिन वचन के संबन्धमें निर्णय कहूंगा ॥ २६६ ॥

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ २६७ ॥

ब्राह्मण को कठोर वचन कहने से क्षत्रिय एक सौ पण के, वैश्य डेढ़ वा दो सौ पण के दंड योग्य होता है, और शूद्र वध के योग्य होता है ॥ २६७ ॥

पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने ।
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥ २६८ ॥

क्षत्रियसे कठोर वचन कहनेपर ब्राह्मण को पचास, वैश्य को पचीस और शूद्रको बारह पण दंड होगा ॥ २६८ ॥

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे ।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥

द्विजातियोंके आपसमें कठोर वचन कहनेसे बारह पण और (माता, भगिनी आदिके) अनुचित गाली बकने से इस से दूना दंड होगा ॥ २६९ ॥

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥ २७० ॥

शूद्र यदि द्विजातियों से कठोर वचन कहै तो उसे जिह्वा छेदनका दंड दिया जायगा, क्योंकि वह अधम, पैरसे उत्पन्न है ॥ २७० ॥

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।
निक्षेप्योऽयोमयः शङ्कुर्ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥ २७१ ॥

नाम और जाति लेकर यदि शूद्र द्रोहसे द्विजोंकी निन्दा करै तो जलते हुए दश अंगुल लोहकी शलाका उसके मुखमें डाली जाय ॥ २७१ ॥

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः ।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥

यदि शूद्र अभिमान से द्विजातियोंको धर्मका उपदेश करै तो राजा उसके मुख और कानोंमें तपाया हुआ तेल डालै ॥ २७२ ॥

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च ।
वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्दाप्यः स्याद्द्विशतं दमम् ॥ २७३ ॥

किसी मनुष्य के विद्या, देश, जाति, तथा शारीरिक संस्कार इनको घमंड से झूठा बतावै तो उसपर सौपण दंड होना चाहिये ॥ २७३ ॥

काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम्।
तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥ २७४ ॥

यथार्थमें होनेपर भी यदि कोई किसीसे काना, लंगड़ा और गंजा कुबड़ा आदि कहै तो राजा उस पुरुषपर एक कार्षापण दंड करै ॥ २७४ ॥

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्।
आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोः ॥ २७५ ॥

जो माता, पिता, पत्नी, भाई, पुत्र और गुरुकी निन्दा करै, वा गुरु के लिये मार्ग न छोड़े उसपर एक सौ पण दंड होना चाहिये ॥ २७५ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता।
ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥ २७६ ॥

ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें कहा सुनी होनेसे राजा ब्राह्मण पर पूर्वसाहस और क्षत्रीपर मध्यम साहस दंड करै ॥ २७६ ॥

विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः।
छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः ॥ २७७ ॥

वैश्य और शूद्र की आपसमें कहा सुनी होनेपर वैश्यको प्रथम साहस और शूद्रको मध्यम साहस दंडदे, परंतु शूद्रकी जीभ न काटै (जीभ तो ब्राह्मण क्षत्रीको पतित बतानेमेंही काटै), इस दंडका यही निश्चय है ॥ २७७ ॥

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥ २७८ ॥

यह कठोर वचन की यथार्थ दंड विधि कही, अब इसके पीछै कठोर दंड विधि कहूंगा ॥ २७८ ॥

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः।
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥ २७९ ॥
पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति।
पादेन प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २८० ॥

शूद्र जिस अंगसे द्विजाति को मारे, राजा उसका वही अंग कटवाले; यह मनुकी आज्ञा है ॥ २७९ ॥ जो शूद्र, द्विजातिको मारने के लिये हाथ वा लकड़ी उठावै तो राजा उसका हाथ कटवाले, और क्रोधकर लात मारनेपर उसका पैर कटवाले ॥ २८० ॥

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ॥ २८१ ॥

जो शूद्र ब्राह्मणके साथ एक आसनपर बैठना चाहै तो राजा उसकी कमर-पर दगवाकर उसे देशसे निकलवा दे, वा उसके चूतड़ कतरवाले ॥ २८१ ॥

अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः ।
अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥ २८२ ॥

यदि शूद्र अभिमानसे ब्राह्मणके ऊपर थूकै तो राजा उसके दोनों होठ कटवाले, पेशाव करनेसे लिंगेन्द्रिय, और अधोवायु करनेसे गुदाकी जगह कटवादे ॥ २८२ ॥

केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन् ।
पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ २८३ ॥

जो शूद्र अभिमानसे ब्राह्मणके केश, चरण, दाढ़ी, ग्रीवा, वृषण पकड़ै तो राजा विना विचार किये उस शूद्रके हाथ कटवा ले ॥ २८३ ॥

त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः ।
मांसभेत्ता तु षण्णिष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥ २८४ ॥

समान जातियोमें चर्मभेद करने वा रुधिर निकालनेसे एक सौ पण, और मांस भेद करनेवालेको छः निष्क दंड दे, तथा हड्डी छेदनेवालेको तो राज्यसेही निकाल दे ॥ २८४ ॥

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथायथा ।
तथातथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥ २८५ ॥

वृक्ष आदि सब वनस्पतियोंका जैसा २ उपभोग होता है, अर्थात् फल, पुष्प, पत्र आदिसे जैसा २ उत्तम मध्यम और अधम रूप होता है, वैसाही वैसा उनकी हिंसामेंभी (उत्तम साहस आदि) दंड करना चाहिये यह निश्चय है ॥ २८५ ॥

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति ।
यथायथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथातथा ॥ २८६ ॥

मनुष्य अथवा पशुओंको प्रहारसे पीड़ित करनेपर जैसा २ अधिक दुःखहों वैसाही वैसा अधिक दंड दे ॥ २८६ ॥

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा ।
समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥ २८७ ॥

अंगच्छेद, घाव करने वा रक्त बहानेकी पीड़ा देनेपर राजा घायल पुरुषके औषधि, पथ्य आदिका सब व्यय दिलावै, और न देनेपर राजा व्ययके अनुसार प्रहार करनेवालेको पूर्ण दंड दे ॥ २८७ ॥

द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा ।
स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥ २८८ ॥

जो मनुष्य ज्ञानसे वा अज्ञानसे जिसका द्रव्य नष्ट करै वह उतनाही द्रव्य देकर उसके स्वामीको संतुष्ट करै और राजाको भी दंडमें उतनाही द्रव्य दे कि जितना उसने नष्ट किया है ॥ २८८ ॥

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्ठमयेषु च ।
मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥ २८९ ॥

चमड़ा, चमड़ेके पात्र, काष्ठ, मट्टीके वर्तन, फूल, मूल, फल आदि नष्ट करनेपर उनका पंचगुना दंड राजाको दे (और उनके स्वामीको प्रसन्न करै) २८९

यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च ।
दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥

सवारी, सारथी और यानका स्वामी इनके दश अपराधोंको छोड़ अन्य अपराधोंमें दंड कहा है ॥ २९० ॥

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते ।
अक्षभङ्गे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ २९१ ॥
छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च ।
आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥ २९२ ॥

बैलकी नाथ छिद जाय, जुआ टूट जाय, ऊंची नीची भूमिपर रथ तिरछा हो जाय वा पहिये के बीचका काठ टूट जाय, या पहिया टूट जाय, चर्मबन्धन, पशुओंके गर्दनकी रस्सी वा रास टूट जाय तव, और जोरसे लोगोंको पुकार कर (हट जाओ २ ऐसा) सावधान करदेनेपर कुछ हानि होतो किसीको दंड न होगा, यह मनु कहते हैं ॥ २९१ ॥ २९२ ॥

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु ।
तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २९३ ॥

जहां सारथी के दोषसे रथके इधर उधर होनेके कारण प्राण हिंसा हो जाय वहां मूर्ख सारथी के रखने के कारण रथके स्वामीपर दोसौ पण दंड होगा ॥२९३॥

प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति ।
युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् ॥ २९४ ॥

यदि सारथी कुशल हो और उससे कुछ हानि हो जाय तो सारथीही दंडके योग्य है, और यदि सारथी कुशल नहो तो रथमें बैठे हुए हरएक पुरुष सौ सौ पण दंडके योग्य होते हैं ॥ २९४ ॥

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा ।
प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ २९५ ॥

परंतु यदि सारथी मार्गमें गौ आदि पशु वा रथ आदि सवारियोंसे रुकने परभी रथ चलावे और उससे किसी प्राणी की हत्या हो जाय तो राजा विना विचार किये ही उसे दंड दे ॥ २९५ ॥

मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत् ।
प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६ ॥

यदि सारथीकी असावधानी से कोई मनुष्य मर जाय तो चोर के समान

उसे पाप होता है इसलिये उसे उत्तम साहस हजारपण दंडदे, और यदि गौ, हाथी, ऊंट, घोड़ा आदि बड़े जीव मर जांय तो आधा पाप होता है, अर्थात् उसे ५०० पण दंड दे ॥ २९६ ॥

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः ।
पञ्चशत्तु भवेद्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥

सारथीसे छोटे पशुओंकी हिंसा होनेपर दोसौ पण, और रुरु, पृषत् आदि श्रेष्ठ मृग और शुक सारिका आदि श्रेष्ठ पक्षियोंके मरनेपर पचास पण दंड होना चाहिये ॥ २९७ ॥

गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः ।
माषिकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने ॥ २९८ ॥

गधा, बकरी, भेड़ आदिके मारनेसे पांच मासे चांदीका दंड होगा, और कुत्ता, शूकर मारनेसे एक मासा चांदीका दंड होना चाहिये ॥ २९८ ॥

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः ।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥ २९९ ॥

स्त्री, पुत्र, दास, भृत्य और सहोदर भाइयोंके अपराध करनेपर रस्सी वा वांसकी पतली लकड़ीसे उनकी ताड़ना करै ॥ २९९ ॥

पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथंचन ।
अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ ३०० ॥

परंतु रस्सी आदिसे पीठपर ताड़ना करै, मुखपर कदापि न मारै, अन्यथा ताड़न करनेवाला चोर के समान अपराधी होता है ॥ ३०० ॥

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः ।
स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥

यह सब कठिन दंडका विधान कहा, अब चोर के दंडके निर्णय की विधि कहूंगा ॥ ३०१ ॥

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः ।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥

चोरोंको दंड देनेमें राजा परम यत्न करै क्योंकि चोरोंको दंड देनेसे राजाके यश तथा राज्यकी वृद्धि होती है ॥ ३०२ ॥

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः ।
सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥

जो राजा प्रजाको अभय करता है उसका सदा पूजन करना चाहिये क्योंकि, अभय को है दक्षिणा जिसमें, ऐसा उस राजाका यज्ञरूप देश सदा बढ़ता है ॥ ३०३ ॥

सर्वतो धर्म षड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः ।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ ३०४ ॥

रक्षा करनेवाले राजाका सबके धर्ममें से छठा भाग होता है, और रक्षा न करनेवालेका अधर्ममें से छठा भाग होता है ॥ ३०४ ॥

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति ।
तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥ ३०५ ॥

मनुष्य जो पढ़ता है, यज्ञ करता है, दान देता है और देवताओंका पूजन करता है उन सबमें से प्रजाकी रक्षा के कारण राजा छठे हिस्से का भागी होता है ॥ ३०५ ॥

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन् ।
यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥

राजा धर्म से प्रजाकी रक्षा करता हुआ और वध योग्य लोगों को मारता हुआ प्रति दिन एक लाख गौं–दक्षिणावाले यज्ञ के समान फल पाता है ॥३०६॥

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ।
प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥

जो राजा प्रजा की रक्षा न कर के बलि[1], कर[2], शुल्क[3], प्रतिभाग[4] और दंड[5] लेता है वह मरकर शीघ्र नरकमें जाता है ॥ ३०७ ॥

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥

जो राजा प्रजाकी रक्षा न कर बलिका छठा भाग लेता है उस राजाको पण्डित जन सब लोकों के पापका भागी कहते हैं ॥ ३०८ ॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् ।
अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥

शास्त्र के अनुसार नहीं वर्तनेवाला, नास्तिक, अधिक लोभी, अरक्षक और सर्वस्वहारी राजाको अधोगामी जानना चाहिये ॥ ३०९ ॥

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः ।
निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ३१० ॥

हथकड़ी पहिराना, कैद करना, तथा हाथ पांव काटना आदि अनेक भांति से यत्नपूर्वक दंड देना–इन तीन उपायों से राजा चोर आदि को शारीरिक दंड दे ॥ ३१० ॥

---

(१) अन्नका छठा भाग. (२) जो प्रतिमास वा छठे मास लिया जाय. (३) व्यापारियों से लिया गया महसूल. (४) फल पुष्प शाक आदि की चुंगी. (५) जुर्माना—

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥

जैसे द्विजाति यज्ञ करके पवित्र होते हैं, उसी भांति पापियोंको दंड देनेसे और साधुओंपर अनुग्रह करने से राजा लोग सदा पवित्र होते हैं ॥ ३११ ॥

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम् ।
बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥

अपना हित चाहनेवाले राजा को चाहिये कि वादीप्रतिवादी, बालक, बूढ़े और आतुरों के आक्षेपयुक्त वचनों को सदा क्षमा करै ॥ ३१२ ॥

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते ।
यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥

जो राजा पीड़ित मनुष्योंके कठोर वचन सहता है, वह स्वर्गमें पूजित होता है, परंतु जो प्रभुतासे दुखियोंके कठोर वचनों को क्षमा नहीं करता वह नरकगामी होता है ॥ ३१३ ॥

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता ।
आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ॥ ३१४ ॥
स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम् ।
शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥ ३१५ ॥

चोर, मूसल वा खैर का दंड अपने कंधेपर रखकर, वा दोनों ओर पैनी बरछी वा लोहेका दंड रखकर बाल खोलें दौड़ता हुआ राजा के पास जाय और अपना अपराध कहै कि मैं चोरहूं, मुझे दंड दीजिये ॥ ३१४ ॥ ३१५ ॥

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेन स्तेयाद्विमुच्यते ।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ३१६ ॥

चोरको शिक्षा देनेसे वा छोड़नेसे चोर चोरी के पाप से छूटता है । यदि राजा चोरको दंड न दे तो चोरके पापका भागी होता है ॥ ३१६ ॥

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी ।
गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ॥ ३१७ ॥

ब्रह्महत्यारे का पाप उसके अन्न खानेवाले को, व्यभिचारिणी स्त्रीका पाप उसके पतिको, शिष्यका पाप गुरुको, यजमानका पाप यज्ञ करानेवालेको और चोरका पाप राजाको लगता है (इस लिये राजा चोरको अवश्य दण्ड दे) ॥ ३१७ ॥

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१८ ॥

पापी पुरुष राजाके द्वारा दंड पानेपर, साधु तथा पुण्यात्माओं की भांति निष्पाप होकर स्वर्गमें जाते हैं ॥ ३१८ ॥

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिद्याच्च यः प्रपाम् ।
स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥

जो पुरुष कूपसे घड़े वा रस्सी चुराता है वा प्याऊ तोड़ता है उसपर एक मासा सुवर्ण दंड होना चाहिये, और वह रस्सी और घड़े भी वहां लाकर रक्खै ॥ ३१९ ॥

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः ।
शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ ३२० ॥

जो दस कुंभसे अधिक धन चुरावै उसे शारीरिक दंड देना चाहिये, और दस कुंभतक चुरावै उसे मूल्य से ग्यारह गुना दंड दे तथा धान्य लौटवा दे ॥ ३२० ॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः ।
सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥

इसी प्रकार तोलने के योग्य सोना, चांदी तथा उत्तम वस्त्रों को सौसे अधिक चुरानेपर राजा चोरको प्राण दंड दे ॥ ३२१ ॥

पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते ।
शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥

पचास से लेकर सौतक चुरानेसे हाथ काटनेका दंड होगा, और एकसे पचास तक चुरानेसे मूल्यका ग्यारह गुना दंड होगा ॥ ३२२ ॥

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः ।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥

कुलीन पुरुषोंकी, विशेष कर कुलीन स्त्रियों की, तथा श्रेष्ठ रत्नोंकी चोरी करनेवालेको प्राण दंड दिया जायगा ॥ ३२३ ॥

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

हाथी घोड़े आदि बड़े २ पशुओंके, शस्त्रों के और औषधि के चुरानेपर राजाको चाहिये कि कार्य और कालके अनुसार चोरको दंड दे ॥ ३२४ ॥

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश्च भेदने ।
पशूनां हरणे चैव सद्यः कार्योऽर्धपादिकः ॥ ३२५ ॥

ब्राह्मणकी गौओंके चुरानेमें और लादने के लिये बाँझ गौके नाथनेमें, और भेड़ बकरी आदि पशुओंके चुराने में, हालही चोरका आधा पांव कटवा देना चाहिये ॥ ३२५ ॥

---

(१) दो सौ पलका एक द्रोण होता है और २० द्रोणका एक कुंभ होता है.

सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च।
दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च॥ ३२६॥
वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च।
मृन्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च॥ ३२७॥
मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च।
मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसंभवम्॥ ३२८॥
अन्येषां चैवमादीनामद्यानामोदनस्य च।
पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद्द्विगुणो दमः॥ ३२९॥

ऊन आदिका सूत, कपास, सुराबीज, गोबर, गुड़, दही, मट्ठा, जल, तृण, बांसके बने हुए पात्र, नमक, मट्टी के बर्तन, मट्टी, राख, मछली, पक्षी, तेल, घी, मांस, मधु, पशुओंके चमड़े, सींग आदि तथा अन्यान्य थोड़े मूल्यकी वस्तु, अनेक भांतिकी मद्य तथा (भातको छोड़) अन्य भांति २ के सब पक्वान्न, लड्डू आदि चोरी करने से वस्तुके मूल्यका दूना दंड होगा॥ ३२६॥ ३२७॥ ॥ ३२८॥ ३२९॥

पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च।
अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः॥ ३३०॥

फूल, खेतके हरे धान्य, गुल्म, वृक्ष, लता, तथा बांधकर ले जाने लायक वस्तु चोरी करनेसे पांच कृष्णल दंड होना चाहिये॥ ३३०॥

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च।
निरन्वये शतं दण्डः सान्वयेऽर्धशतं दमः॥ ३३१॥

साफ किये हुए धान्य, शाक, मूल, फल आदिकी चोरी करनेवाला चोर यदि स्वामीका संबन्धी नहो तो सौ पण, और संबन्धी हो तो पचास पण दंड राजाको करना चाहिये॥ ३३१॥

स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम्।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वापव्ययते च यत्॥ ३३२॥

स्वामीके सामने बलपूर्वक चोरीरूप कर्मका साहस तथा असमयमें चुराने, अथवा चुराकर मुकरनेको चोरी कहते हैं॥ ३३२॥

यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः।
तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद्गृहात्॥ ३३३॥

जो मनुष्य स्वामीकी अपने वर्तने के लिये रक्खी हुई वस्तुयें और घरमेंसे अग्निहोत्रका अग्नि चुरावै उसपर प्रथम साहस दंड होगा॥ ३३३॥

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥ ३३४॥

चोर जिस २ अंगसे दूसरे मनुष्योंका धन चुरावै राजा उसका वही २

अंग, चोरीके पापसे छूटनेके लिये कटवा डाले (कि जिसमें वह फिर चोरी न करै) ॥ ३३४ ॥

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥ ३३५ ॥

पिता, आचार्य, मित्र, माता, भार्या, पुत्र और पुरोहितको भी अपने धर्ममें तत्पर न रहनेसे राजा दंड दे सकता है ॥ ३३५ ॥

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ३३६ ॥

जिस अपराधपर साधारण मनुष्यको एक पण दंड होगा यदि राजा उसे स्वयं करै तो उसपर सहस्र पण दंड होनेकी शास्त्रमर्य्यादा है ॥ ३३६ ॥

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम् ।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥ ३३८ ॥

चोरीके गुणदोषोंको जाननेवाले शूद्रको चोरीसे आठ गुना, वैश्यको सोलह गुना, क्षत्रीको बत्तीस गुना और ब्राह्मणको चौंसठ गुना, सौ गुना वा एक सौ अठ्ठाईस गुना दंड होगा ॥ ३३७ ॥ ३३८ ॥

वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च ।
तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥ ३३९ ॥

वनसतियोंके फल, मूल, होमकी अग्निके लिये काठ और गौके चरानेके लिये तृण ले जानेको मनुने चोरी नहीं कहा है ॥ ३३९ ॥

योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।
याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ३४० ॥

ब्राह्मण यदि यज्ञ करानेकी और अध्यापनकी दक्षिणाका धन भी चोर के हाथसे लेनेकी इच्छा करै तो वह भी चोरकी भांति गिना जायगा ॥ ३४० ॥

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके ।
आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥ ३४१ ॥

द्विजाति पथिक के पास यदि भोजनकी वस्तु न रहै और वह भूखा होने पर पराये खेतमेंसे दो ईख वा मूली ले ले तो वह दण्ड देनेके योग्य नहीं होता ॥ ३४१ ॥

असंदितानां संदाता संदितानां च मोक्षकः ।
दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चोरकिल्बिषम् ॥ ३४२ ॥

दूसरेके छूटे हुए पशुओंको बांधनेवाला, तथा दूसरेके बंधे हुए पशुओंको

खोलनेवाला और दास, घोड़े तथा रथका हरनेवाला चोरकी भांति दंडनीय है ॥ ३४२ ॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम्।
यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥

इस भांति जो राजा चोरोंको दंड देता है वह इस लोकमें यश और परलोकमें परम उत्तम सुख पाता है ॥ ३४३ ॥

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम्।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥

जो राजा इन्द्रत्व पानेकी इच्छा करै और जो अक्षय, अव्यय यश चाहै वह क्षणभरके लिये भी साहसिक मनुष्य (गुंडे) की उपेक्षा न करै, अर्थात् उसे तत्काल दंड दिये विना न छोड़ै ॥ ३४४ ॥

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः।
साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥

दुष्ट वचन बोलनेवाला, चोर तथा दंडसे मार पीट करनेवाला इनसे साहस करनेवाला मनुष्य अत्यन्त पापी है ॥ ३४५ ॥

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥

जो राजा साहसिकोंको दंड न दे कर उनको क्षमा करता है वह शीघ्रही नष्ट हो जाता है और प्रजा उससे वैर करने लगती है ॥ ३४६ ॥

न मित्रधारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात्।
समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥

मित्रता वा अधिक धनके लोभसे, सब लोगोंको डरानेवाले साहसी (गुंडे) को राजा कभी न छोड़ै ॥ ३४७ ॥

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥ ३४८ ॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥ ३४९ ॥

जब द्विजोंके धर्मका मार्ग रुकै, अथवा समयके प्रभावसे आश्रमवालोंका वर्ण विप्लव होने लगे उस समय अपनी रक्षाके लिये तथा दक्षिणा (धन, गौ आदि हरने) के समय, युद्धमें, स्त्रियों तथा ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये द्विजाति भी शस्त्र ग्रहण करैं, क्योंकि धर्मके युद्धमें शत्रुओंको मारता हुआ कोई दोषका भागी नहीं होता (दूसरेके मारनेमेंभी यहां साहसका दंड नहीं करना चाहिये) ॥ ३४८ ॥ ३४९ ॥

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ ३५० ॥

गुरु, बालक, वृद्ध अथवा बहुश्रुत ब्राह्मण भी यदि मारनेके लिये आवै और अपनी रक्षाका कोई उपाय न दीखै तो विना विचारे उसका वध करै ॥ ३५० ॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ३५१ ॥

प्रकाश वा गुप्त रीतिसे आततायीको मारनेसे मारनेवालेको कुछ पाप नहीं होता, क्योंकि क्रोधही क्रोधका नाश करता है, अर्थात् क्रोध अपराधी है और क्रोधही मारनेवाला है ॥ ३५१ ॥

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः ।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥

राजाको चाहिये कि पराई स्त्रियोंसे विषय करनेवाले मनुष्योंको अनेक भांतिके उद्वेगजनक दंडोंसे नाक कान आदि कटवाकर देशसे निकाल दे ॥३५२॥

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः ।
येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ ३५३ ॥

पराई स्त्रियोंके साथ विषय करनेसे वर्णसंकर उत्पन्न होता है कि जिस संकरसे जगत्के मूलका नष्ट करनेवाला अधर्म सब जगतका नाश कर देता है ॥ ३५३ ॥

परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन्रहः ।
पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥

जो पहिलेसे परस्त्रीके दोषसे दूषित होकरभी यदि एकांतमें पराई स्त्रीसे बातचीत करै तो वह प्रथम साहस दंड पावैगा ॥ ३५४ ॥

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् ।
न दोषं प्राप्नुयात्किंचिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ॥ ३५५ ॥

जो पहिलेसे निर्दोष हो और किसी कारणसे एकांतमें परस्त्रीसे बातचीत करै, तो उसे कुछ दोष नहीं होगा, क्योंकि उसका कोई अपराध नहीं है ॥ ३५५ ॥

परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ।
नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥ ३५६ ॥

तीर्थ, जंगल, वन वा नदियोंके संगमस्थानमें जो पराई स्त्रीसे बातचीत करै उसे स्त्रीसंग्रहणका दंड मिलैगा ॥ ३५६ ॥

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् ।
सह खट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५७ ॥

पराई स्त्रीके पास सुगन्धित माला आदि भेजना, हँसी, आलिंगन आदि करना, गहने और वस्त्र छूना, एक शय्या पर सोना इन सबको मन्वादिकोंने संग्रहण कहा है ॥ ३५७ ॥

स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया ।
परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

यदि पुरुष अन्यकी स्त्रीके नहीं छूनेयोग्य (स्तन जंघा आदि) स्थानको छुए, और पुरुषका स्थान यदि स्त्री छुए और ऐसा करनेसे वे आपसमें रुष्ट न हों तो यह दोष परस्पर स्वीकार होनेसे संग्रहण कहा जायगा ॥ ३५८ ॥

अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति ।
चतुर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥ ३५९ ॥

यदि अब्राह्मण उक्त रीतिसे अकामा ब्राह्मणीका संग्रहण करै तो उसे वध दंड होगा क्योंकि चारों वर्णोंको चाहिये कि भार्याको अत्यंत रक्षित रक्खैं ॥ ३५९ ॥

भिक्षुका वन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तथा ।
संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥

भिक्षुक, वन्दी, ऋत्विक्, सूपकार, और कारीगर ये पराई स्त्रियोंके साथ वेखटके वातचीत कर सकते हैं (ये संग्रहणके दंड भागी नहीं हैं) ॥ ३६० ॥

न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् ।
निषिद्धो भाषमाणस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥ ३६१ ॥

पतिके मने करनेपर मनुष्य पराई स्त्रियोंसे वातचीत न करै । मने करनेपर भी जो मनुष्य संभाषण करैगा उसपर एक सुवर्ण दंड होगा ॥ ३६१ ॥

नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु ।
सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ३६२ ॥

परस्त्री संवन्धमें जो विधि कही गई है वह नट, गानेवाले और भार्यासे जीविका करनेवालोंके लिये नहीं है, क्योंकि वे तो आपही अपनी स्त्रियोंको सजा कर दूसरोंके संग करदेते हैं और छिपकर दूसरेको स्त्रीके साथ विषय करता देखते हैं ॥ ३६२ ॥

किंचिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरन् ।
प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥ ३६३ ॥

तोभी इन लोगोंकी स्त्रियां, दासी, बौद्धमतकी स्त्री, और ब्रह्मचारिणी इनके साथ एकांतमें वातचीत करनेपर कुछ दंड देना चाहिये ॥ ३६३ ॥

योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति ।
सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥

जो समान जातिका मनुष्य, नहीं चाहती हुई कन्याके साथ गमन करैगा

उसे तुरन्त प्राणदंड होगा, परंतु जो वह कन्या सकामा होगी तो दंड न होगा ॥ ३६४ ॥

कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किंचिदपि दापयेत् ।
जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद्गृहे ॥ ३६५ ॥

नीच जातिकी कन्या अपनेसे ऊंची जातिके पुरुषके साथ संग करै तो उसपर कुछ दंड न करै, और जो नीच जातिसे गमन करै तो उसे रोककर घरमें बसावै ॥ ३६५ ॥

उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ।
शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ॥ ३६६ ॥

नीच जातिका पुरुष यदि उत्तम जातिकी कन्यासे भोग करै तो उसका वध होगा, परंतु समान जातिकी सकामा कन्याके साथ भोग करनेसे कन्याका पिता चाहै तो उसे वह (नीच मनुष्य) मोल देकर उस कन्याके साथ विवाह कर ले ॥ ३६६ ॥

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः ।
तस्याशु कर्त्ये अङ्गुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् ॥ ३६७ ॥

जो पुरुष बलपूर्वक अहंकारसे किसी कन्याकी योनिमें अंगुली डाले तो उसी समय उसकी अंगुलियां कटवा डाले और ६०० पण दंड करै ॥ ३६७ ॥

सकामां दूषयंस्तुल्यो नाङ्गुलिच्छेदमाप्नुयात् ।
द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये ॥ ३६८ ॥

सकामा कन्याकी योनिमें अंगुली डालनेवाले सजातीय मनुष्यकी अंगुली नहीं काटी जायगी, परंतु आगेको इस प्रसंगसे रोकनेके लिये उसपर दोसौ पण दंड होगा ॥ ३६८ ॥

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्द्विशतो दमः ।
शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश ॥ ३६९ ॥

यदि कोई कन्या दूसरी कन्याकी योनिमें अंगुली डालकर उसका कन्यापन नष्ट करै तो उसपर दोसौ पण दंड हो, और वह दूना दंड इस कन्याके बापको दे, और राजा उसपर दस बैंत पड़वावै ॥ ३६९ ॥

या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति ।
अङ्गुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥ ३७० ॥

इस प्रकार यदि कोई स्त्री कन्याको नष्ट करै तो राजा उसका सिर तत्काल मुड़ादे वा अंगुली कटवा ले, वा गधेपर चढ़ा कर उसे राजमार्गमें घुमावै ३७०

भर्तारं लङ्घयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ॥

जो स्त्री, जाति वा सुन्दरताके गर्वसे पर पुरुषसे गमन करे उसे राजा बहुतसे लोगोंके सामने कुत्तोंसे नुचवा डाले ॥ ३७१ ॥

पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥

पापी जार पुरुषको तपाये हुए लोहेकी शय्यापर सुलाकर काष्ठ रख अग्निसे जला दे कि जिसमें पापी जलजाय ॥ ३७२ ॥

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः ।
व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु ॥ ३७३ ॥

एकवार दंडित होकर यदि फिर कोई एक वर्षके भीतर परस्त्रीगमनसे दूषित हो, तो उस दुष्टको दूना दंड होगा, और व्रात्य जाति तथा चांडाल जातिकी स्त्रीके साथ भोग करनेसे भी यही दंड होगा ॥ ३७३ ॥

शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् ।
अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥

यदि शूद्र, रक्षित वा अरक्षित जातिकी स्त्रीसे भोग करै तो अरक्षिता स्त्रीके साथ भोग करनेसे उसे मूत्रेन्द्रियरहित कर दे, और रक्षित स्त्रीके साथ गमन करनेसे उसे सर्वस्व हरण कर प्राणवधका दंड दे ॥ ३७४ ॥

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः ।
सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥ ३७५ ॥

यदि क्षत्रिय और वैश्य, रक्षित ब्राह्मणीके साथ गमन करैं तो वैश्यको एक वर्षकी कैद और सर्वस्वहरणका दंड दे, और क्षत्रियको एक हजार पण दंड होगा, और गधेके मूत्रसे उसका शिर मुड़ाया जायगा ॥ ३७५ ॥

ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ ।
वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥ ३७६ ॥

यदि वैश्य और क्षत्रिय, अरक्षिता ब्राह्मणीके साथ गमन करैं तो वैश्य पर पांचसौ और क्षत्री पर एक हजार पण दंड करै ॥ ३७६ ॥

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह ।
विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥ ३७७ ॥

यदि वैश्य और क्षत्रिय रक्षिता ब्राह्मणीके साथ गमन करैं तो उन्हें शूद्रकी भांति दंड होगा अथवा राजा उन्हें तृणाग्निसे जला दे ॥ ३७७ ॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः ॥ ३७८ ॥

यदि ब्राह्मण रक्षित ब्राह्मणीके साथ बलपूर्वक गमन करै तो एक हजार तथा सकामा ब्राह्मणीके साथ गमन करै तो उसपर पांचसौ पण दंड होगा ॥ ३७८ ॥

मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।
इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥ ३७९ ॥

वध न करके ब्राह्मणके सिरका मुंडनही करा दे यही प्राणांतक दंड है, और अन्य वर्णोंको प्राणान्त दंड हो सक्ता है ॥ ३७९ ॥

न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।
राष्ट्रादेनं वहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥ ३८० ॥

सब पापोंमें स्थित होने पर भी ब्राह्मणका वध कदापि न करै, उसे धन-सहित अक्षत शरीरसे राज्यसे निकाल दे ॥ ३८० ॥

न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि ।
तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥
वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् ।
यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥ ३८२ ॥

ब्राह्मणवधके समान दूसरा अधिक पाप पृथ्वीपर नहीं है इसलिये राजा मनमें भी ब्राह्मणवधका विचार न करै ॥ ३८१ ॥ वैश्य यदि रक्षित क्षत्रियासे और क्षत्री वैश्यासे गमन करै तो इन दोनोंको अरक्षिता ब्राह्मणीगमनके समान दंड होगा ॥ ३८२ ॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् ।
शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेद्दमः ॥ ३८३ ॥

यदि ब्राह्मण रक्षित क्षत्रिया अथवा वैश्या स्त्रीसे गमन करै तो उसपर एक हजार पण दंड होगा, और क्षत्रिय तथा वैश्य यदि रक्षित शूद्रा स्त्रीसे गमन करैं, तो उनपर भी एक हजार पण दंड होगा ॥ ३८३ ॥

क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः ।
मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत्तु क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥ ३८४ ॥

यदि वैश्य अरक्षित क्षत्रियासे गमन करै तो उस पर पांचसौ पण दंड करै और क्षत्रियका गधेके मूत्रसे सिर मुंडावै वा उसपर पांचसौ पण दंड करै ॥ ३८४ ॥

अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् ।
शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥ ३८५ ॥

अरक्षित क्षत्रिया, वैश्या और शूद्राके साथ गमन करनेसे ब्राह्मणपर पांचसौ पण दंड होगा, और चांडालकी स्त्रीके साथ गमन करनेसे एक हजार पण दंड होगा ॥ ३८५ ॥

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥ ३८६ ॥

जिस राजाके राज्यमें चोर, परस्त्रीगामी, कठोरवादी, साहसिक वा कठोर दंड देनेवाला ये नहीं हैं वह इन्द्रलोकको जाता है ॥ ३८६ ॥

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके।
साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥ ३८७ ॥

अपने राज्यमें उक्त चोर आदि पांचोंका निग्रह करनेवाला राजा, अपने सजातीय राजाओंमें साम्राज्य करता है और इस लोकमें यश पाता है ॥३८७॥

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक्त्यजेद्यदि।
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥ ३८८ ॥

जो यजमान, कर्म करानेमें समर्थ और साधु ऋत्विज् को त्याग दे, अथवा जो ऋत्विज् साधु यजमानको त्याग दे उन दोनोंपर राजा सौ २ पण दंड करै ॥ ३८८ ॥

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति।
त्यजन्नपतितानेतान्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ३८९ ॥

माता, पिता, स्त्री और पुत्र ये सब त्यागने योग्य नहीं होते, और जो इन चारों अपतितोंका त्याग करता है उसको एक २ के त्याग पर राजा छः २ सौ पण दंड दे ॥ ३८९ ॥

आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः।
न विब्रूयान्नृपो धर्मं चिकीर्षन्हितमात्मनः ॥ ३९० ॥

गार्हस्थ्यादि आश्रमोंके धर्मसंबन्धमें यदि द्विजाती किसी कार्यमें वादविवाद करें तो उनके बीचमें, अपना हित चाहनेवाला राजा "यह धर्म ठीक है यह ठीक नहीं है" यों न कहे ॥ ३९० ॥

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
सांत्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ३९१ ॥

राजा उनका यथोचित सत्कार करके और ब्राह्मणोंके साथ पहिले उन्हें प्रीतिपूर्वक शांत करके उनका धर्म समझावे ॥ ३९१ ॥

प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे।
अर्हावभोजयन्विप्रो दण्डमर्हति माषकम् ॥ ३९२ ॥

यदि किसी उत्सवमें बीस ब्राह्मणोंको भोजन कराना हो तो प्रतिवेश्य[१] और अनुवेश्य[२] योग्य ब्राह्मणों को भोजन न करानेसे ब्राह्मण एक मापा चांदीके दंड योग्य होता है ॥ ३९२ ॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन्।
तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥ ३९३ ॥

---

(१) जो निरंतर घरमें रहै. (२) जो निरंतर घरमें न रहै.

जो वेदपाठी, प्रतिवेश्य वा अनुवेश्य सज्जन वेदपाठीको मंगल कार्योंमें भोजन न करावै उसपर राजा भोजनसे दूनी खानेकी वस्तु और एक माषा सौना दंड करै ॥ ३९३ ॥

अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः ।
श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥ ३९४ ॥

अंधा, जड़, पंगा, सत्तर वर्षका वृद्ध और जो पुरुष वेदपाठियोंका उपकार करते हैं उनसे राजा किसी प्रकारका कर न ले ॥ ३९४ ॥

श्रोत्रियं व्याधितार्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम् ।
महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत्सदा ॥ ३९५ ॥

वेदपाठी, रोगी और दुखी, बालक, वृद्ध, दरिद्री, उत्तम कुलमें उत्पन्न और उत्तम आचरण करनेवाला इनका राजा दानमानसे सदा सन्मान करै ॥ ३९५ ॥

शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यान्नेजकः शनैः ।
न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥ ३९६ ॥

धोबी सैमरके चिकने पट्टे पर धीरै २ वस्त्र धोवै और एकके वस्त्र दूसरेके वस्त्रोंसे न मिलावै और दूसरेको पहिरनेको भी न दे ॥ ३९६ ॥

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ।
अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥ ३९७ ॥

कपड़ा बुननेवाला दस पल सूत ले और (माड़ी आदि लगानेके कारण) ग्यारह पल तोलकर दे, इससे कम देनेपर बारह पण दंड होगा ॥ ३९७ ॥

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः ।
कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत् ॥ ३९८ ॥

बेचनेके योग्य वस्तुओंके सार असारको जाननेवाले कुशल मनुष्य, बाजारमें वस्तुका जो मूल्य निर्णय करैं उसके नफेमेंसे राजा बीसवां भाग ले ३९८

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च ।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥ ३९९ ॥

राजाके प्रसिद्ध पात्र और जिन वस्तुओंकी राजाने बाहर ले जानेकी मनाही करदी है इनको जो मनुष्य लोभसे देशांतरोंको ले जाय राजा उस पुरुषका सर्वस्व हर ले ॥ ३९९ ॥

शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी ।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥ ४०० ॥

जो मनुष्य चुंगी घरको बचाकर अन्य मार्गसे अन्न आदि ले जाय, और जो कुसमयमें खरीदै–बेचै, और जो वस्तुओंकी संख्या वा नाप तोलको झूठ बतावै तो जितना कर झूठ बोलकर बचाया हो उसका अठगुना दंड राजा उसपर करै ॥ ४०० ॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ।
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥

वस्तुके आने, जाने, रखनेका समय, वृद्धि और हानि इनका निश्चय करके राजा वेचने और खरीदनेकी वस्तुओंका क्रय विक्रय करावै ॥ ४०१ ॥

पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥

पांच २ दिन वा पन्द्रह २ दिनके पीछे राजा व्यौपारियोंके सामने वस्तुओंका मूल्य निर्णय करै ॥ ४०२ ॥

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥

(सुवर्ण आदिके) तोलका प्रमाण और धान्य आदिके (नापने वा तोलके) लिये नापदान और तराजूको राजा विशेष ध्यानसे स्थिर करै, और छः २ महीने वाद फिर उनकी परीक्षा करता रहै ॥ ४०३ ॥

पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे ।
पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥

नावसे पार उतारनेमें, खाली गाड़ी आदि पर एक पण महसूल, एक पुरुषके ढोने योग्य भार पर आधा पण, पशु तथा स्त्रियोंके पार उतारनेमें चौथाई पण, और वोझरहित मनुष्यसे एक पणका आठवां भाग ले ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः ।
रिक्तभाण्डानि यत्किंचित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥ ४०५ ॥

चीजोंके भरे छकड़ोंके पार करनेमें, वस्तुओंके सार असारके अनुसार महसूल देना होगा, परंतु द्रव्यरहित शकट और दरिद्री लोगोंसे वहुत कम महसूल लिया जायगा ॥ ४०५ ॥

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ४०६ ॥

नदीके मार्गसे दूरतक आनेजानेमें नदीकी प्रवलता, स्थिरता और ग्रीष्म वर्षा आदिका समय विचार कर किराया निश्चय करै, परंतु समुद्रमें यह नियम नहीं है ॥ ४०६ ॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः ।
ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥ ४०७ ॥

दो महीनेसे अधिककी गर्भिणी स्त्री, संन्यासी, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और ब्राह्मणके पार जानेमें राजा किराया न ले ॥ ४०७ ॥

यन्नावि किंचिद्दाशानां विशीर्येतापराधतः ।
तद्दाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः ॥ ४०८ ॥

जो कुछ द्रव्य नावमें केवटोंके दोषसे नष्ट हो जाय तो वेही अपने २ अंशसे उसकी हानि भरदेंगे ॥ ४०८ ॥

एष नौयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः।
दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः॥ ४०९ ॥

नौकापर जानेवालोंके व्यवहारका यह निर्णय कहा है कि जो द्रव्य जलमें मल्लाहोंके अपराधसे नष्ट हो जाय उसको नाववाले दें, और जो (आँधी तूफान आदि) दैवयोगसे नष्ट हो तो केवटोंको हानि नहीं देना होगा ॥ ४०९ ॥

वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च।
पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥ ४१० ॥

राजा, वैश्यसे वाणिज्य, व्याजकी जीविका, कृषि और पशुपालन करावै, और शूद्रोंसे द्विजातियोंकी सेवा करावै ॥ ४१० ॥

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ।
बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन् ॥ ४११ ॥

क्षत्रिय और वैश्य यदि अपनी वृत्तिसे अपना पोषण न कर सकें तो ब्राह्मण उनकी जातिका कार्य कराकर करुणापूर्वक उनका पालन करै ॥ ४११ ॥

दास्यं तु कारयँल्लोभाद्ब्राह्मणः संस्कृतान्द्विजान्।
अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ४१२ ॥

जो ब्राह्मण अपनी प्रभुतासे वा लोभसे यज्ञोपवीतयुक्त द्विजातियोंसे उनकी इच्छाविना दासका कार्य करावे तो राजा उसपर छः सौ पण दंड करै ॥४१२॥

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥ ४१३ ॥

परंतु मोल लिये हुए वा न मोल लिये हुए शूद्रसे दासका कार्य करावे क्योंकि ब्रह्माने ब्राह्मणके दासकर्मके लियेही इस शूद्रको उत्पन्न किया है ॥ ४१३ ॥

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते।
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥ ४१४ ॥

स्वामीसे त्यागा हुआभी शूद्र दासपनेसे नहीं छुटैगा, क्योंकि दासपना उसका स्वाभाविक कार्य है, वह उससे कैसे छूट सक्ता है ॥ ४१४ ॥

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ।
पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥ ४१५ ॥

युद्ध जीतनेसे मिला, भोजनके लोभसे आया, दासीका पुत्र, मोल खरीदा, दूसरेका दिया हुआ, पिताके आगेसे चला आया, दंड ऋण आदि चुकानेके लिये दास हुआ ये सात प्रकारके दास होते हैं ॥ ४१५ ॥

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ ४१६ ॥

भार्या, पुत्र और दास ये तीनों शास्त्रमें निर्धन कहे गये हैं; ये जो कुछ पैदा करैं उस धनपर उनके स्वामीकाही अधिकार होता है ॥ ४१६ ॥

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्द्रव्योपादानमाचरेत् ।
नहि तस्यास्तिकिंचित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥ ४१७ ॥

ब्राह्मण निस्सन्देह शूद्रका धन ले सक्ता है, क्योंकि उसका निजधन कुछ भी नहीं है, सब धन उसके स्वामीका है ॥ ४१७ ॥

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ।
तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥ ४१८ ॥

राजाको चाहिये कि वैश्योंको और शूद्रोंको यत्नपूर्वक अपने २ कामोंमें लगा रक्खै; क्योंकि इनके अपने २ कार्य्योंमें न लगनेसे ये इस जगतमें (धनके मदसे) बड़ा दुंद मचाते हैं ॥ ४१८ ॥

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च ।
आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ॥ ४१९ ॥

राजा प्रतिदिन आरंभ किये कार्य्योंकी समाप्ति, वाहन, आय, व्यय, खान और खजानों को देखता रहै ॥ ४१९ ॥

एवं सर्वानिमान्राजा व्यवहारान्समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ४२० ॥

राजा इस प्रकार सब व्यवहारोंको समाप्त करता हुआ सब पापोंसे छूटकर परम गति पाता है ॥ ४२० ॥ इति

पण्डित रामेश्वरभट्टकृत सरला टीकासहित मनुस्मृतिका

अष्टम अध्याय समाप्त हुआ—शुभम्.

अथ नवमोऽध्यायः ।

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः ।
संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥

धर्ममार्गमें स्थित स्त्रीपुरुषोंके संयोग तथा वियोगके नित्य धर्म कहता हूं ॥ १ ॥

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥ २ ॥

अपने पति रातदिन स्त्रियोंको स्वतंत्रतासे न रहने दें; आनन्दित विषयोंमें लगी हों तो भी उन्हैं अपने वशमें रक्खैं ॥ २ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ३ ॥

बाल्यावस्थामें पिता, युवावस्थामें पति और वृद्धावस्थामें पुत्र स्त्रियोंकी रक्षा करैं; स्त्री कभी स्वतंत्र न रहै ॥ ३ ॥

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः ।
मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिताः ॥ ४ ॥

योग्य समयमें (अर्थात् ऋतुकालके पूर्व) यदि कन्यादान न किया जाय तो पिताकी निन्दा होती है, और ऋतुकालमें संगम न करनेसे पतिकी निन्दा होती है, और जो पिताके मरने पर यदि पुत्र माताकी रक्षा न करै तो उसकी निन्दा होती है ॥ ४ ॥

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥

थोड़े कुसंगसे भी स्त्रियोंकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये क्योंकि अरक्षित स्त्री, पिता और पतिके दोनों कुलोंको संतापित करती है ॥ ५ ॥

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् ।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥ ६ ॥

सब वर्णोंके इस उत्तम धर्मको देखकर दुर्बल पतियोंको भी अपनी २ स्त्रियोंकी रक्षा करनेके लिये यत्न करना चाहिये ॥ ६ ॥

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्हि रक्षति ॥ ७ ॥

जो अपनी स्त्रीकी रक्षा करता है वह अपनी संतान, चरित्र, कुल, अपनी आत्मा और अपने धर्मकी भी रक्षा करता है ॥ ७ ॥

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८ ॥

पति भार्या के शरीरमें प्रविष्ट हो कर और गर्भ हो कर भार्यामें जन्म लेता हैं, और स्त्रीमें फिर जन्म लेनेके कारण भार्य्याका नाम जाया होता है ॥ ८ ॥

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥

स्त्री जैसे पतिका सेवन करती है वैसेही पुत्रको उत्पन्न करती है, इसलिये संतानकी शुद्धिके लिये भार्य्याकी रक्षा यत्नपूर्वक करै ॥ ९ ॥

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥ १० ॥

बल से कोई पुरुष स्त्री की रक्षा नहीं कर सक्ता, इसलिये नीचे कहे हुए उपायोंसे उनकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १० ॥

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपत्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥ ११ ॥

धनसंग्रह, व्यय, शरीर आदिकी शुद्धि, धर्मकार्य, रसोई बनाना तथा घरकी सामग्रीकी देख भाल इनमें स्त्रियोंको लगावै ॥ ११ ॥

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥

स्वजन, स्त्रियोंको घरमें बंद करके भी उनकी रक्षा नहीं कर सक्ते परंतु जो स्वयं अपनी रक्षाकरती हैं वेही सुरक्षित रहती हैं ॥ १२ ॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥

मद्यपीना, दुर्ज्जनोंका संसर्ग, पतिका विरह, इधर उधर घूमना, कुसमयमें सोना और दूसरेके घरमें रहना, ये स्त्रियोंके छः दोष हैं ॥ १३ ॥

नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः ।
सरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥

स्त्रियां न रूपकी परीक्षा करती हैं न अवस्थाविशेष पर ध्यान देती हैं; परन्तु सुरूप वा कुरूप चाहे जैसे पुरुषको पाकर उसके साथ संभोग करती हैं ॥ १४ ॥

पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः ।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ १५ ॥

ये स्त्रियां, पुरुषके देखतेही भोगकी इच्छा, चित्तकी चंचलता और स्वाभाविक स्नेहहीनताके कारण स्वामीसे उत्तम रीतिसे रक्षित होने पर भी पतिके विरुद्ध आचरण करती हैं ॥ १५ ॥

एवंस्वभावं ज्ञात्वासां प्रजापतिनिसर्गजम् ।
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ १६ ॥

"विधाताने स्वभावसे ही स्त्रियोंको ऐसा बनाया है" इनका ऐसा स्वभाव जान कर पुरुषको स्त्रीकी रक्षाके लिये बड़ा यत्न करना चाहिये ॥ १६ ॥

शय्यासनमलंकारं कामं क्रोधमनार्जवम् ।
द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥

शय्या, आसन, आभूषण, काम, क्रोध, द्रोह, कुटिलता और निन्दित आचरण ये मनुने स्त्रियोंके लिये ही बनाये हैं ॥ १७ ॥

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः ।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥ १८ ॥

स्त्रियोंका संस्कार मंत्रोंसे नहीं होता यही शास्त्रकी मर्य्यादा है । स्मृति तथा धर्मशास्त्रमें और किसी मंत्रमें भी इनका अधिकार नहीं है, इसलिये ये झूठ के समान अशुभ हैं ॥ १८ ॥

तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि ।
स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥

वेदमें भी बहुतसी श्रुतियां कहीं हैं, उनमें व्यभिचार प्रकाशित करनेवाली श्रुतिको तुम सुनों ॥ १९ ॥

यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता ।
तन्मे रेतः पिता वृङ्क्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥ २० ॥

(कोई पुत्र अपनी माताके व्यभिचारको जान कर कहता है कि) मेरी माताजी पराये घरोंमें जाकर पतिव्रत धर्म रहित हुई है उस वीर्यको पिता शुद्ध करें, यही मंत्र व्यभिचारका उदाहरण है ॥ २० ॥

ध्यायत्यनिष्टं यत्किंचित्पाणिग्राहस्य चेतसा ।
तस्यैष व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥

मनसे परगमनकी इच्छा करके स्त्री पतिके साथ जो अप्रिय आचरण करती है, उस पापके छुड़ाने के लिये यह मंत्र कहा है ॥ २१ ॥

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।
तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥ २२ ॥

जैसे नदीका जल समुद्रमें मिलनेसे खारी हो जाता है उसी भांति स्त्रियां भी अच्छे वा बुरे मनुष्योंके साथ विवाह होनेसे उन्हींके समान गुणयुक्त हो जाती हैं ॥ २२ ॥

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३ ॥

अधम योनिमें उत्पन्न हुई अक्षमाला वसिष्ठके साथ विवाह होनेसे, और शारंगी मंदपाल ऋषिके साथ विवाह होनेसे परम पूज्य हुई थीं ॥ २३ ॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ २४ ॥

ये तथा अन्य संसारमें कितनीही स्त्रियां अधमयोनिमें उत्पन्न होकर अपने २ पतिके अच्छे गुणोंसे श्रेष्ठताको प्राप्त हुईथीं ॥ २४ ॥

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ।
प्रेत्येह च सुखोदर्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

यह हमने स्त्रियोंका सदा शुभदायक लोकाचार कहा, अब इसलोक तथा परलोकमें सुखदायक संतानके धर्म कहता हूं उनको सुनों ॥ २५ ॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥

(यद्यपि स्त्रियोंकी बहुतसी निन्दा करी परंतु) ये पुत्रोंको उत्पन्न करती हैं इसलिये भाग्यवती सत्कारके योग्य और गृहकी शोभा हैं । घरमें श्री और स्त्रीमें कुछभी विशेषता नहीं है, अर्थात् जैसे लक्ष्मी विना घरकी शोभा नहीं ऐसेही स्त्रीके विना घरकी शोभा नहीं है ॥ २६ ॥

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥

संतानोत्पत्ति, उत्पन्न हुई संतानका पालन, और घरके धंधोंका देखना भालना, इनके लिये भार्य्याही मुख्य कारण है ॥ २७ ॥

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥

संतानोत्पत्ति, (अग्निहोत्र आदि) धर्मकार्य, सेवा, उत्तम रति, और पितरोंके तथा अपने स्वर्ग प्राप्तिके कार्य्य केवल पत्नीकेही आधीन हैं ॥ २८ ॥

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ २९ ॥

जो स्त्री, शरीर, मन और वचनसे पतिका अवलंघन नहीं करती वह मरनेपर पतिलोक आदि लोकोंको पाती है और इसलोकमें सज्जन उसे पतिव्रता कहते हैं ॥ २९ ॥

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
सृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ ३० ॥

और पतिका अवलंघन करनेसे स्त्रीकी इसलोकमें निंदा होती है और मरनेकेबाद वह सियार योनिमें उत्पन्न होती है, तथा बुरे २ रोगोंसे पीड़ित होती है ॥ ३० ॥

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः ।
विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥

प्राचीन अच्छे ऋषियोंने पुत्रोत्पत्तिके विषयमें जो पुराना इतिहास कहा है वह सर्वोपकारक पवित्र उपाख्यान कहताहूं, तुम सुनो ॥ ३१ ॥

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि ।
आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

मुनि कहते हैं कि पुत्र स्त्रीके पतिकाही होता है, परंतु पतिके संबन्धमें दो

प्रकारकी श्रुति है । कोई कहते हैं कि संतानोत्पन्न करनेवाले (देवर आदि) का पुत्र होता है, और दूसरे कहते हैं कि क्षेत्रके स्वामीकाही पुत्र है ॥ ३२ ॥

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात्संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥

स्त्री क्षेत्ररूप कही है और पुरुष बीजरूप कहा गया है, और बीज और खेतके संयोगसे सब प्राणियोंका जन्म होता है ॥ ३३ ॥

विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् ।
उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥

कहीं बीज प्रधान है और कहीं २ क्षेत्र है, परंतु जहां दोनोंकी प्रधानता रहती है उससे उत्पन्न हुई संतान बहुत श्रेष्ठ गिनी जाती है ॥ ३४ ॥

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते ।
सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ ३५ ॥

बीज और क्षेत्रमें बीजकीही प्रधानता कही है, क्योंकि बीजके लक्षणोंसे युक्त सब प्राणी उत्पन्न होते हैं ॥ ३५ ॥

यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते ।
तादृग्रोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥ ३६ ॥

समयपर ज़ोते हुए खेतमें जैसा बीजबोया जाता है वह बीज उसमें अपने गुणोंके अनुसार ही उत्पन्न होता है ॥ ३६ ॥

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते ।
न च योनिगुणान्कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥ ३७ ॥

यह पृथ्वी प्राणियोंकी उत्पत्तिकी योनि सदासे कही गई है, परन्तु अंकुर उत्पन्न होनेमें खेतके समान कोई गुण नहीं होता ॥ ३७ ॥

भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः ।
नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥ ३८ ॥

भूमिमेंभी समयपर किसानोंके एक खेतमें बोये हुए बीज अपने २ स्वभाव के अनुसार अनेक रूपके होते हैं ॥ ३८ ॥

व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः ।
यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ३९ ॥

साठीधान, चांवल, मूंग, तिल, उड़द, जौ, लहसन और ईख सब अपने २ बीजके अनुरूप होते हैं ॥ ३९ ॥

अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नोपपद्यते ।
उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ ४० ॥

एक बीज बोनेसे उसमें दूसरे बीजका अंकुर कदापि नहीं होता, जब जैसा बीज बोया जाता है तब वही वह उत्पन्न होता है ॥ ४० ॥

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना ।
आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥

प्राज्ञ और विशेष करके नम्र, और वेद आदि शास्त्रोंका जाननेवाला और दीर्घजीवी होनेका इच्छुक पुरुष कदापि पराई स्त्रीमें बीज न बोवै ॥ ४१ ॥

अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः ।
यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥

इस विषयमें पण्डितलोग, वायु देवताकी कथा कहा करते हैं कि पुरुषको कभी परस्त्रीमें बीज नहीं बोना चाहिये ॥ ४२ ॥

नश्यतीषुर्यथा विद्धः खे विद्धमनुविध्यतः ।
तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥

जैसे अन्यके वेधे हुए मृगके शरीरके उसी छेदमें फेंका गया दूसरेका बाण निष्फल होता है, उसी भांति परस्त्रीमें बोया हुआ बीजभी निष्फल होता है (क्योंकि क्षेत्रीको संतति मिलती है) ॥ ४३ ॥

पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः ।
स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥ ४४ ॥

पहिले समयमें पण्डितोंने पृथ्वीको राजा पृथुकी भी भार्य्या कहा है (क्योंकि उसने उसे समान कियाथा) इसी प्रकार जो पुरुष जिस भूमिको ठूंठ आदि काटकर ठीक करते हैं वह भूमि उन्हींकी होती है, और एक शिकारीसे विद्ध किया गया मृग दूसरेसे विद्ध होनेपरभी उसीका होता है ॥ ४४ ॥

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह ।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥

स्त्री, अपना देह, और संतान ये तीनों मिलकर पुरुष होता है यह वेदके ज्ञाता पण्डित कहते हैं । अर्थात् जो भर्ता है वही भार्य्या है इन दोनोंमें कुछ भेद नहीं है ॥ ४५ ॥

न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते ।
एवं धर्मं विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥ ४६ ॥

विक्रय वा त्यागसे स्त्री पतिसे अलग नहीं होसक्ती । हम प्रजापतिके बनाए हुए पहिले इस धर्मको मानते हैं ॥ ४६ ॥

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥ ४७ ॥

पिताके धनका विभाग एकवार, कन्याका दान एकवार और गौ आदिका

दान एकवार–ये तीनों, सज्जनोंके एकवारही होते हैं; "मैं एकवारही देताहूं" ऐसा कहा जाता है ॥ ४७ ॥

यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च ।
नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥ ४८ ॥

गौ, घोड़ी, ऊँटनी, दासी, भैंस, बकरी और भेड़में उत्पन्न करनेवाला जैसे संतानको नहीं पाता है उसी भांति पराई स्त्रीमें उत्पन्न करनेवाला संतान नहीं पाता ॥ ४८ ॥

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः ।
ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥ ४९ ॥

जिसके पास क्षेत्र नहीं है केवल बीजही बीज है वह यदि दूसरोंके खेतमें बीज बोवै तो उसको कुछ भी धान्य आदि फल नहीं मिलता ॥ ४९ ॥

यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् ।
गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥ ५० ॥

यदि किसीका बैल दूसरोंकी गऊओंमें सैंकड़ों बछड़े उत्पन्न करै, तो वे सब बछड़े उन गौओंके स्वामियोंके होते हैं, बैलका वीर्यसेचन वृथा है ॥ ५० ॥

तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः ।
कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥ ५१ ॥

वैसेही यदि क्षेत्ररहित पुरुष अपना बीज पराये क्षेत्रमें बोवै, तो बीज-बोनेवालेका बीज खेतवालोंके लिये होता है बीजवाला उसके फलको नहीं पाता ॥ ५१ ॥

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।
प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

जो क्षेत्रके स्वामी और बीजबोनेवालेमें परस्पर यह निश्चय न होजाय कि इसकी संतान हम दोनोंकी है तो वह संतानरूपफल स्पष्ट रीतिसे क्षेत्रके स्वामीकाही होता है क्योंकि बीजसे योनि बलवती है ॥ ५२ ॥

क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते ।
तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥

जब बीजवाले और क्षेत्रके अधिकारीकी संमतिसे बीज बोया जाता है तब इसमें दोनोंही सस्य फलके भागी देखे गये हैं ॥ ५३ ॥

ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति ।
क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ ५४ ॥

बीज जिसके खेतमें पड़कर जल और पवनके सहारेसे उगता है तो उसके फलका अधिकारी खेतवालाही होता है, बीजवाला उसके फलको नहीं पाता ॥ ५४ ॥

एष धर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च ।
विहंगमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥ ५५ ॥

यही नियम घरमें पाले हुए गौ, घोड़ा, दासी, ऊंट, बकरी, भेड़, पक्षी तथा भैंसकी संतानके लिये भी है ॥ ५५ ॥

एतद्वः सारफल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ।
अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

क्षेत्र और बीजके परस्पर संबन्धमें ये प्रधानता और अप्रधानता तुमसे कही, अब आपत्ति कालमें स्त्रियोंके धर्म कहताहूं ॥ ५६ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥ ५७ ॥

देवरके लिये जेठे भाईकी जो स्त्री है वह गुरु पत्नीके समान होती है और छोटे भाईकी जो स्त्री है वह जेठे भाईके लिये पुत्रवधूके तुल्य कही गई है ५७

ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ५८ ॥

जेठा भाई छोटे भाईकी स्त्रीसे और छोटा भाई बड़े भाईकी स्त्रीसे आपत्कालके विना संभोग करैं तो (गुरुकी आज्ञा होनेपर भी) पतित होते हैं ॥५८॥

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये ॥ ५९ ॥

निज स्वामीसे संतान न होनेपर स्त्री पतिकी आज्ञासे अपने देवर वा अन्य सपिंड पुरुषसे इच्छित पुत्रका लाभ कर सक्ती है ॥ ५९ ॥

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥ ६० ॥

रात्रिके समय, चुपचाप, गुरुके द्वारा नियुक्त पुरुष, अपने शरीरमें घी लगाकर विधवामें एक पुत्र उत्पन्न कर सक्ता है, परंतु दूसरा पुत्र कदापि नहीं ॥ ६० ॥

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः ।
अनिर्वृतं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥

कोई २ विधिके जाननेवाले आचार्य्य यह देखते हुए कि एक संतानसे नियोगका उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सक्ता (वह तो न होनेकेही समान है) स्त्रियोंमें द्वितीय संतान उत्पन्न करनेकी आज्ञा देते हैं ॥ ६१ ॥

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि ।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥

विधवामें उद्देश्य सफल होनेसे, जेठा भाई और छोटे भाईकी वधू पहिलेकी भांति गुरु और पुत्रवधूके समान परस्पर व्यवहार करैं ॥ ६२ ॥

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः ।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥ ६३ ॥

नियोजित बड़ा वा छोटा भाई यदि विधि छोड़कर केवल इन्द्रिय सुखमें रत हों तो बड़ा भाई पुत्रवधूगमन और छोटा भाई गुरुपत्नीगमनका दोषी होगा ॥ ६३ ॥

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ ६४ ॥

द्विजाति, देवर आदिमें विधवाको नियुक्त न करैं क्योंकि जो देवर आदिमें नियुक्त करते हैं वे सनातन पतिव्रत धर्मको नष्ट करते हैं ॥ ६४ ॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥

विवाहके मंत्रोंमें कहीं नियोग नहीं कहा है, और विवाह शास्त्रोंमें भी विधवाविवाह नहीं कहा है ॥ ६५ ॥

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥

शास्त्र जाननेवाले द्विजातियोंने इस पशु धर्मको निन्दित कहा है, मनुष्योंमें इसका प्रचार वेणु राजाके राज्यमें हुआ था ॥ ६६ ॥

स महीमखिलां भुञ्जन्राजर्षिप्रवरः पुरा ।
वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥

संपूर्ण पृथ्वीके पालक तथा राजर्षियोंमें मुख्य उस वेणुने कामसे नष्ट बुद्धि होकर इस वर्णसंकरपनेको फैलाया था ॥ ६७ ॥

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥

उसके राज्यके पीछे जो पुरुष मोहके वश होकर विधवाको संतानके लिये नियुक्त करता है साधुजन उसकी निन्दा करते हैं ॥ ६८ ॥

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥

जो सगाई के पीछे वरकी मृत्यु होजाय तो इसी विधानसे उस कन्याको उसके देवरके साथ व्याहदे ॥ ६९ ॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।
मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥ ७० ॥

नियमानुसार उसका विवाह करके जबतक उस कन्याके संतान न हो तब-तक उसका देवर प्रतिऋतुमें उस श्वेतवस्त्र धारण करनेवाली तथा पवित्र स्त्रीके पास जाय ॥ ७० ॥

न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः।
दत्त्वा पुनः प्रयच्छन्हि प्राप्नोति पुरुषोऽनृतम् ॥ ७१ ॥
विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम्।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥ ७२ ॥

बुद्धिमान् एकसे सगाई करके अपनी कन्या दूसरेको न दे क्योंकि अन्यको देनेसे उसे झूठका पाप लगता है ॥ ७१ ॥ निन्दित, रोगिणी, दुष्ट और छलसे दीहुई कन्याको विधिपूर्वक ग्रहण करके भी पुरुष त्याग सक्ता है ॥ ७२ ॥

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत्।
तस्य तद्वितथं कुर्यात्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥

जो पुरुष, कन्याका दोष विना कहे प्रदान करै तो वरको चाहिये कि उस दुष्ट कन्याके दानको व्यर्थ करै, अर्थात् उसको उस देनेवालेकोही लौटा दे ॥७३॥

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत्कार्यवान्नरः।
अवृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥

कार्यवान् पुरुष, पत्नीको पोषणके योग्य वृत्ति देकर विदेश जाय, क्योंकि जीविकाका उपाय न रहनेपर मर्य्यादामें स्थित स्त्रियांभी दुष्ट होजाती हैं ॥७४॥

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥

निर्वाहके योग्य वृत्ति देकर जबतक पति विदेशमें रहै तबतक स्त्री नियम-पूर्वक अपना निर्वाह करै, और जो पति जीवन निर्वाहका प्रबन्ध विना किये परदेश चला जाय तो स्त्री (सीनापिरोना आदि) अनिन्दित शिल्पोंसे अपना निर्वाह करै ॥ ७५ ॥

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥ ७६ ॥

पति धर्मकार्यके लिये विदेश जाय तो आठ वर्षतक, विद्या पढ़ने वा यश प्राप्तके लिये छः वर्षतक, और इन्द्रिय उपभोग के लिये तीन वर्षतक स्त्री उसकी बाट देखै ॥ ७६ ॥

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः।
ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥ ७७ ॥

स्वामीको चाहिये कि द्वेष करनेवाली अपनी स्त्रीकी एक वर्षतक राह देखे; वर्षके पीछे उससे आभूषण आदि छीनकर उसका संग छोड़दे ॥ ७७ ॥

अतिक्रामेत्प्रमत्तं यां मत्तं रोगार्तमेव वा ।
सा त्रीन्मासान्परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥ ७८ ॥

जो स्त्री, जुआरी, (मदिरामें) मतवाला वा रोगी होनेसे स्वामीकी अवज्ञा करै, उसके वस्त्र भूषण आदि छीनकर तीन महीनेतक उसका त्याग कर दे ७८

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् ।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम् ॥ ७९ ॥

जो स्त्री उन्मत्त, पतित, नपुंसक, अबीज (जिसका वीर्य न ठहरै) कुष्ठी होने आदिके कारण पतिकी सेवा नहीं करती वह परित्यागके तथा भूषण छीने जानेके योग्य नहीं होती है ॥ ७९ ॥

मद्यपा साधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत् ।
व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंस्रार्थघ्नी च सर्वदा ॥ ८० ॥

मद्य पीनेवाली, दुश्चरित्रा, पतिसे द्वेष करनेवाली, असाध्य रोगवाली, भृत्य आदिको ताडना और सदा धन नष्ट करनेवाली स्त्रीके होतेभी दूसरा व्याह करले ॥ ८० ॥

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ ८१ ॥

स्त्रीके संतान न होतो आठवें वर्ष, संतान होकर मर जाती होतो दशवें वर्ष, अथवा स्त्रीके केवल कन्याही कन्या होती हों तो ग्यारहवें वर्ष दूसरा विवाह करले, और जो स्त्री अप्रिय वचन बोलनेवाली हो तो तुरंतही दूसरा व्याह करले ॥ ८१ ॥

या रोगिणी स्यात्तु हिता संपन्ना चैव शीलतः ।
सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥ ८२ ॥

जो रोगिणी स्त्री अपने पतिमें रत और सुशीला हो तो स्त्रीकी अनुमति लेकर पति दूसरा विवाह करै और उसकी कभी अवज्ञा न करै ॥ ८२ ॥

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात् ।
सा सद्यः संनिरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसंनिधौ ॥ ८३ ॥

दूसरा व्याह करनेपर यदि स्त्री क्रोधके वश होकर घरसे निकलनेको तैयार होतो तत्काल उसे बांध रक्खै अथवा स्वजनोंके सामने उसे त्यागदे ॥ ८३ ॥

प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि ।
प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट् ॥ ८४ ॥

जो (क्षत्री आदिकी) स्त्री पतिसे निषेध किये जानेपरभी (विवाह आदि) उत्सवके समय भी मद्यपिये वा नाचनेकी जगह वा भीड़में जाय तो राजा उसे छः कृष्णल दंड दे ॥ ८४ ॥

यदि स्वाश्चापराश्चैव विन्देरन्योषितो द्विजाः ।
तासां वर्णक्रमेण स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥ ८५ ॥

यदि तीनों द्विज अपनी सजातीय और विजातीय स्त्रियोंको व्याहलें तो उनके वर्णके क्रमसे उनका मान सहित भाषण, दायका भाग, और वस्त्राभूषणका सत्कार होता है, अर्थात् उत्तम वर्णकी स्त्रीके उत्तम और नीच वर्णवालीके नीच होते हैं ॥ ८५ ॥

भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम् ।
स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथंचन ॥ ८६ ॥

सब वर्णोंमें स्वामीके शरीरकी सेवा, और नित्यका धर्मकार्य केवल स्वजातीय स्त्रीही करे, विजातीय कदापि नहीं ॥ ८६ ॥

यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयान्यया ।
यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ८७ ॥

जो ब्राह्मण मोहसे स्वजातीय स्त्रीके होते अन्य जातिकी स्त्रीसे इन कार्योंको कराता है वह ब्राह्मणीमें शूद्रसे उत्पन्न हुआ ब्राह्मण-चांडालके समान है ॥८७॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च ।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ८८ ॥

सुन्दर श्रेष्ठ और रूपवान् वर मिलजाय तो कन्या विवाह योग्य न हो तोभी उसे विधिपूर्वक दे दे ॥ ८८ ॥

काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
नचैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥

ऋतुमती होनेपरभी चाहे कन्या जन्मभर घरमेंही रहै परंतु इसे किसी निर्गुण पात्रको कभी न दे ॥ ८९ ॥

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालदेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥

ऋतुमती कन्या तीन वर्षतक (पिताके दानकी) बाट देखे इसके पीछे अपने तुल्यवरको स्वयं वर ले ॥ ९० ॥

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् ।
नैनः किंचिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति ॥ ९१ ॥

पिता आदिके दान न करनेपर यथा समय कन्या किसी पुरुषको पतिरूपसे वरले तो उसे वा पतिको कुछ पाप नहीं होता ॥ ९१ ॥

अलंकारं नाददीत पित्र्यं कन्यां स्वयंवरा ।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ॥ ९२ ॥

इस प्रकार स्वयंवर करनेवाली कन्या पिता, माता अथवा भाईके दिये हुए आभूषण आदि न ले, क्योंकि उनके लेनेसे वह चोर गिनी जायगी ॥ ९२ ॥

पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन्।
स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ॥ ९३ ॥

ऋतुमती कुमारीके साथ विवाह करनेवाला वर, कन्याके पिताको शुल्क न दे, क्योंकि ऋतु अवरोध करनेके कारण उस कन्याके ऊपरसे पिताका आधिपत्य जाता रहता है ॥ ९३ ॥

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥

तीस वर्षका युवक, मनोहर और बारह वर्षकी कन्याके साथ, और चौबीस वर्षका, आठ वर्षकी कन्याके साथ विवाह करै। और जो शीघ्रता करता है वह गृहस्थधर्ममें दुःख पाता है ॥ ९४ ॥

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः।
तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥ ९५ ॥

पति अपनी इच्छासे भार्य्या नहीं पासक्ता, उसे दैवकी दी हुई भार्य्याही मिलती है, इसलिये पुरुषको देवताओंकी प्रसन्नताके लिये सदा उस पत्नीका पोषण करना चाहिये ॥ ९५ ॥

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ ९६ ॥

गर्भ धारणके लिये स्त्रियां और गर्भाधानके लिये पुरुष उत्पन्न हुए हैं इसलिये वेदमें कहा है कि साधारण धर्मोंकोभी स्त्री सहित करै (अकेला न करै) ॥ ९६ ॥

कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः।
देवराय प्रदातव्या यदि कन्यानुमन्यते ॥ ९७ ॥

यदि कोई पुरुष किसी कन्याको शुल्क देकर विवाहके पहिले मर जाय तो कन्याके सहमत होनेसे, शुल्क देनेवालेके छोटे भाईके साथ उसका विवाह कर दे ॥ ९७ ॥

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन्।
शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ ९८ ॥

कन्याके विवाहमें शूद्रभी शुल्क न ले, छिपाकर शुल्क लेना कन्याका बेचना है ॥ ९८ ॥

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः।
यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥ ९९ ॥

प्राचीन लोगोंमेंसे किसीने भी एकको वाग्दान करके अपनी कन्या दूसरेको कभी नहीं दी और न वर्तमान कालमें लोग ऐसा करते हैं ॥ ९९ ॥

नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु।
शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥

यह बात हमने पहिले कल्पोंमें भी कभी नहीं सुनी कि शुल्क है नाम जिसका ऐसे मूल्यसे किसीने कन्याका गुप्तविक्रय किया हो ॥ १०० ॥

अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥

स्त्री पुरुषका आपसमें यह धर्म जानना चाहिये कि जीवनपर्यन्त धर्म अर्थ काम आदिमें पृथक् न हों ॥ १०१ ॥

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥

विवाहित स्त्री और पुरुष धर्म, अर्थ, काममें किसी प्रकार पृथक् हों तो भी एक दूसरेके साथ व्यभिचार न करें, अर्थात् एक संमति होकर रहें, इसमें सदा सावधान रहना आवश्यक है ॥ १०२ ॥

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत ॥ १०३ ॥

स्त्री पुरुषके परस्पर प्रीतियुक्त धर्म तथा आपत्तिमें (नियोग विधिसे) संतानप्राप्तिकी बात तुमसे कही; अब तुम दायभाग सुनों ॥ १०३ ॥

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥

मातापिताके मरनेपर सब भाई एकत्रित होकर पैतृक धनको बराबर बांटलें, क्योंकि मातापिताके जीतेजी पुत्रोंको कुछ अधिकार नहीं है ॥ १०४ ॥

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥

जेठाभाई ही पिताके सब धनको ग्रहण करे और अन्य भाई जेठे भाईके आधीन इस प्रकार रहें कि जैसे पिताके आधीन रहते थे ॥ १०५ ॥

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्रीभवति मानवः।
पितॄणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥ १०६ ॥

जेठे पुत्रके जन्मतेही मनुष्य पुत्रवान् होता है और पितरोंके ऋणसे मुक्त होता है, इसलिये जेठा पुत्र सब धनपाने योग्य है ॥ १०६ ॥

यस्मिन्नृणं संनयति येन चानन्त्यमश्नुते।
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥ १०७ ॥

जिसके उत्पन्न होतेही पिता पितरोंके ऋणसे छूटता है और स्वर्ग पाता है वह जेठा पुत्र धर्मसे उत्पन्न पुत्र है और अन्यान्य संतान केवल कामसे उत्पन्न हैं ऐसा कहा है ॥ १०७ ॥

पितेव पालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रातॄन्यवीयसः ।
पुत्रवच्चापि वर्तेरञ्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥ १०८ ॥

जेठा भाई छोटे भाइयोंका ऐसे पालन करै कि जैसे पितापुत्रोंका करताथा, और छोटे भाई धर्मसे जेठे भाईके साथ पिताकी भांति वर्ताव करैं ॥ १०८ ॥

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥ १०९ ॥

जेठा भाईही कुलको बढ़ाता है और जेठाही कुलको नष्ट करता है, जेठाही लोकमें परम पूज्य होता है और उसकीही सज्जन प्रशंसा करते हैं ॥ १०९ ॥

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः ।
अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूज्यस्तु बन्धुवत् ॥ ११० ॥

जो जेठा भाई (छोटे भाइयोंके साथ) बड़ेकीभांति वर्ताव करै तो माता पिताके समान पूज्य है, और जो जेठेके समान आचरण न करै तो वह बंधुके सदृश पूज्य होता है ॥ ११० ॥

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया ।
पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया ॥ १११ ॥

सब भाई इसप्रकार मिलकर रहैं अथवा धर्मकी अभिलाषासे जुदे २ रहैं । पृथक् रहनेसे धर्मकी वृद्धि होती है इसलिये पृथक् रहना धर्मसंमत है ॥१११॥

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ।
ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥ ११२ ॥

अथ उद्धृतविभागप्रकरणं—सब द्रव्यका बीसवां भाग और सबसे श्रेष्ठ वस्तु जेठे पुत्रको मिलें; मझलेको चालीसवां और छोटेको अस्सीवां भाग मिलेगा ॥ ११२ ॥

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् ।
येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥ ११३ ॥

जेठा और सबसे छोटा पुत्र अपना भाग ऊपर लिखे अनुसार ग्रहण करै, और इन ज्येष्ठ कनिष्ठ दोनोंके बीचके सब भाई चालीसवें भागके अधिकारी हैं ॥११३॥

सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः ।
यच्च सातिशयं किंचिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम् ॥ ११४ ॥

जेठा भाई सब धनमेंसे मुख्य धन, सब द्रव्योंमेंसे श्रेष्ठ वस्तु, और दस गौ आदि पशुओंमेंसे एक श्रेष्ठ पशु, इनको ले ॥ ११४ ॥

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु ।
यत्किंचिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥ ११५ ॥

सब भाइयोंके, अपने कर्मोंमें समान गुणवान् होनेपर दश पशुओंमेंसे एक

अधिक पशु जेठेको नहीं दिया जायगा परंतु उसके सन्मानके लिये कुछ अधिक देना चाहिये ॥ ११५ ॥

एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान्प्रकल्पयेत् ।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ११६ ॥

पिताका धन उपर्युक्त रीतिसे बट जानेपर शेष धनको सब भाई बराबर बांटले; यदि बीसवां भाग आदि न बांटाहो तो वह धन इस रीतिसे बांटा जायगा ॥ ११६ ॥

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः ।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ११७ ॥

जेठे पुत्रको दोभाग, जेठेसे छोटेको डेढ़ भाग और अन्यान्य पुत्रोंको एक २ भाग मिलता है, यही धर्मकी व्यवस्था है ॥ ११७ ॥

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् ।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥ ११८ ॥

विना विवाही बहनोंके विवाहके लिये प्रत्येक भाईको अपने २ हिस्सोंमेंसे चौथा हिस्सा अवश्य देना होगा, नहीं देनेवाले भाई पतित होते हैं ॥ ११८ ॥

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् ।
अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९ ॥

मेड़, बकरी और घोड़े आदि पशुओंका भाग यदि बराबर नहीं बटसकै तो विभागसे बचे हुए पशु जेठे भाईके होंगे ॥ ११९ ॥

यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १२० ॥

अथ नियोगप्रकरणं—यदि छोटा भाई जेठे भाईकी स्त्रीमें पुत्र उत्पन्न करै तो वह पुत्र अपने चचा लोगोंके समान अंशका भागी होगा यही धर्मकी व्यवस्था है ॥ १२० ॥

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते ।
पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् ॥ १२१ ॥

छोटे भाईसे जेठे भाईकी स्त्रीमें उत्पन्न होनेपर भी वह पुत्र जेठेकी भांति अंशका भागी नहीं हो सक्ता; निजक्षेत्रमें संतान उत्पन्न करनेमें क्षेत्रही प्रधान है इसलिये पहिले निर्णय किया हुआ दायभाग ठीक है ॥ १२१ ॥

पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः ।
कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत् ॥ १२२ ॥

यदि पहिली विवाहिता स्त्रीका छोटा पुत्र हो और पिछली विवाहिता का जेठा पुत्र हो, और विभागमें यह संदेह हो कि माताके विवाहके क्रमसे

ज्येष्ठता होती है कि जन्मके क्रमसे, और उनके धन धान्यका विभाग कैसे हो तो ॥ १२२ ॥

एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः ।
ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥ १२३ ॥

पहिली स्त्रीसे उत्पन्न हुए पुत्रको कनिष्ठ होनेपर भी एक वृषभ अधिक मिलैगा और अपनी २ माताके क्रमसे जो उससे कनिष्ठ हैं उन्हें अधिक वृषभ नहीं मिलेगा ॥ १२३ ॥

ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशाः ।
ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥

परन्तु पहिली विवाहिता स्त्रीमें जेठा पुत्र उत्पन्न होनेसे वह पन्द्रह गऊ और एक बैल ले, और अन्य पुत्र अपनी माताकी ज्येष्ठतानुसार धनका विभाग करैं यही शास्त्रका निर्णय है ॥ १२४ ॥

सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः ।
न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥ १२५ ॥

समान जातिकी स्त्रीमें उत्पन्न पुत्रोंको (जातिकी विशेषता न होनेसे) माताकी ज्येष्ठतानुसार ज्येष्ठता नहीं मानी जाती, वहां जन्मसे ही पुत्रकी ज्येष्ठता है, अर्थात् पहिले जो जन्मा है वही जेठा है ॥ १२५ ॥

जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्राह्मण्यास्वपि स्मृतम् ।
यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥

स्वब्राह्मण्या मंत्रोंमें भी जन्मसे जेठे पुत्रकोही इन्द्रका आवाहन करना कहा है । यमज (जुड़ैले) दो सन्तानोंमें भी प्रथम जन्मी संतान जेठी होती है ॥ १२६ ॥

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम् ।
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ १२७ ॥

अथ पुत्रिकाप्रकरणं—इस कन्यासे जो पुत्र हो वह मेरे श्राद्धका अधिकारी होगा इस रीतिसे पुत्रहीन मनुष्य अपनी कन्याको पुत्रिका करै ॥१२७॥

[अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम् ।
अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥]

(मैं तुमको अपनी भ्रातृहीन भूषणयुक्त कन्याको देता हूं । इससे जो पुत्र पैदा होगा वह मेरे पुत्रके समान होगा)

अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः ।
विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥ १२८ ॥

स्वयं दक्ष प्रजापतिने इस विधानसे अपनी वंशवृद्धिके लिये पहिले (साठ) पुत्रिका की थीं ॥ १२८ ॥

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश ।
सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥ १२९ ॥

दक्ष प्रजापतिने प्रसन्न चित्तसे, धर्मराजको दस, कश्यपको तेरह, और सोमराजाको सत्ताईस कन्या सत्कारपूर्वक दी थीं ॥ १२९ ॥

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा ।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ १३० ॥

जैसे पुत्र आत्माके तुल्य है वैसेही कन्याभी पुत्रके समान है इसलिये पुत्रिका कन्याके होते अन्य पुरुष धनका भागी कैसे हो सकता है ॥ १३० ॥

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः ।
दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१ ॥

माताके विवाह समय जो धन मिला है वह कुमारीको मिलना चाहिये और पुत्रहीन नानाका सब धन दौहित्रही ग्रहण करें ॥ १३१ ॥

दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् ।
स एव दद्याद्द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥ १३२ ॥

दौहित्रही (अन्य पुत्र न हो तो) अपने पुत्रहीन पिताके भी धनको ग्रहण करें और वही दौहित्र अपने पिता और नानाको दो पिंड दे ॥ १३२ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः ।
तयोर्हि मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः ॥ १३३ ॥

लोकमें पौत्र और दौहित्रमें कुछ भी विशेषता नहीं है क्योंकि एकही देहसे इन दोनोंके मातापिता उत्पन्न हुए हैं ॥ १३३ ॥

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनु जायते ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥ १३४ ॥

पुत्रिका करनेपर यदि किसी पुरुषके पुत्र उत्पन्न हो तो पुत्रिका और पुत्र दोनों समान भागी होंगे क्योंकि पुत्रीको ज्येष्ठता नहीं होती (पुत्रीके ज्येष्ठ होनेपर भी उसे पुत्रसे अधिक नहीं मिलेगा) ॥ १३४ ॥

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथंचन ।
धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन् ॥ १३५ ॥

जो कोई पुत्रिका पुत्रहीन रहकर मरजाय तो उस पुत्रिकाका पतिही विचारको छोड़कर अर्थात निस्सन्देह उसका धन ले ले ॥ १३५ ॥

अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्सदृशात्सुतम् ।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिंडं हरेद्धनम् ॥ १३६ ॥

पुत्रिका कीहुई हो वा न कीहुई हो, लड़कीके गर्भसे समान जातीय पतिसे उत्पन्न हुए पुत्रसे नाना पौत्रवान् होगा और वह पौत्र नानाको पिंड देकर नानाका धन लेगा ॥ १३६ ॥

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥ १३७ ॥

मनुष्य पुत्रसे स्वर्गादिक लोकोंको पाता है, पौत्रसे बहुत कालतक वहां रहता है और प्रपौत्रसे सूर्य्यलोकको जाता है ॥ १३७ ॥

पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ १३८ ॥

पुत्र, पुन्नाम नरकसे पिताकी रक्षा करता है इसलिये ब्रह्माने स्वयं उसका नाम पुत्र रक्खा है ॥ १३८ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते।
दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत् ॥ १३९ ॥

लोकमें पौत्र और दौहित्रमें कोई भी विशेष नहीं है क्योंकि दौहित्र भी पौत्रकी भांति नानाको परलोकमें तार देता है ॥ १३९ ॥

मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः।
द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥ १४० ॥

पुत्रिका का पुत्र पहिला पिंड माताको दे, उसके पीछे दूसरा पिंड नानाको दे और फिर तीसरा पिंड माताके दादाको दे ॥ १४० ॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः।
स हरेतैव तद्रिक्थं संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥ १४१ ॥

अथ दत्तकप्रकरणं—जिसका दत्तक पुत्र सब गुणोंसे युक्त हो चाहे वह अन्य गोत्रसे भी आया हो तोभी पिताके सब धनको ले ॥ १४१ ॥

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्त्रिमः क्वचित्।
गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥ १४२ ॥

दत्तक पुत्र जन्मदाताके गोत्र और धनको कभी नहीं पासक्ता, जिसके धन और गोत्रको ग्रहण करता है उसेही पिंड दे सक्ता है, इसलिये दत्तक पुत्र देनेवालेके लिये (उस पुत्रके किये) स्वधा (श्राद्धादि) नाश हो जाते हैं ॥१४२॥

अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात्।
उभौ तौ नार्हतो भागं जारजातककामजौ ॥ १४३ ॥
नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः।
नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः ॥ १४४ ॥

अथ क्षेत्रविभागप्रकरणं—यदि कोई स्त्री, गुरुजनों की अनुमतिके विना, अन्य पुरुषके द्वारा संतान उत्पन्न करे, वा संतान होनेपर भी देवरसे संतान उत्पन्न करावै तो ये दोनों पुत्र जारज और कामज होनेसे धनके अधिकारी नहीं हो सके ॥ १४३ ॥ जो पुरुष गुरु आदिकी नियुक्त कीहुई स्त्रीमें भी (घृतके अभ्यंगनादि) शास्त्रोक्त विधिसे उत्पन्न नहीं हुआ

वह भी (क्षेत्रवाले) पिताके धनके योग्य नहीं होता क्योंकि वह पतितसे पैदा हुआ है ॥ १४४ ॥

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः।
क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥ १४५ ॥

गुरुजनकी आज्ञासे उत्पन्न हुआ पुत्र औरस पुत्रकी भांति पैतृक धनका अधिकारी होता है, क्योंकि उसमें क्षेत्रस्वामी काही बीज है और वह संतानभी धर्मसे है ॥ १४५ ॥

धनं यो बिभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥

यदि कोई पुरुष संपत्ति छोड़कर निस्संतान मर जाय तो उसका छोटा भाई बड़े भाईकी स्त्री और धनकी रक्षा करे तथा उसकी स्त्रीमें पुत्र उत्पन्न करके जेठे भाईकी सब संपत्ति उसे दे दे ॥ १४६ ॥

या नियुक्तान्यतः पुत्रं देवराद्वाप्यवाप्नुयात्।
तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७ ॥

गुरु आदिकी आज्ञासे यदि कोई स्त्री देवर वा अन्य किसी पुरुषसे कामके वश होकर पुत्र उत्पन्न करावै, तो वह पुत्र कामज और वृथा उत्पन्न होनेसे पैतृक धनका अधिकारी नहीं होसक्ता ॥ १४७ ॥

एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु।
बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥ १४८ ॥

विजातीयपुत्रविभागप्रकरणं—यह सवर्णा स्त्रीमें उत्पन्न हुए पुत्रोंका विभागविधान जानना चाहिये। अब अनेक वर्णकी स्त्रियोंमें उत्पन्न हुए पुत्रोंके विभागका विषय सुनो ॥ १४८ ॥

ब्राह्मणस्यानुपूर्वेण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः।
तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥ १४९ ॥

यदि ब्राह्मणकी वर्णक्रमसे चार स्त्रियां हों तो उनके पैदा हुए पुत्रोंमें विभाग की यह विधि कही गई है ॥ १४९ ॥

कीनाशो गोवृषो यानमलंकारश्च वेश्म च।
विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥ १५० ॥

ब्राह्मणीके पुत्रको एक खेतीका बैल, सवारी, आभूषण, घर और अन्य संपत्तियोंमेंसे प्रधान भाग देना चाहिये ॥ १५० ॥

त्र्यंशं दायाद्धरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः।
वैश्याजः सार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५१ ॥

ब्राह्मणीका पुत्र सब दायमेंसे तीन अंश, क्षत्रियाणीका पुत्र दो अंश, वैश्यानीका पुत्र डेढ़ अंश और शूद्राका पुत्र एक अंश ग्रहण करे ॥ १५१ ॥

सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा परिकल्प्य च ।
धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनानेन धर्मवित् ॥ १५२ ॥

अथवा धर्मज्ञ पुरुष सब संपत्तिको दस भागोंमें बांटकर इसरीतिसे धर्मके अनुसार विभाग करै ॥ १५२ ॥

चतुरोंऽशान्हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः ।
वैश्यापुत्रो हरेद्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥ १५३ ॥

ब्राह्मणीका पुत्र चार भाग ले, क्षत्रियाणीका पुत्र तीन भाग ले, वैश्यापुत्र दो भाग ले और शूद्रापुत्र एक भाग ले ॥ १५३ ॥

यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत् ।
नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥

यद्यपि ब्राह्मणका (द्विजाति स्त्रियोंसे) पुत्र हो वा न हो परंतु शूद्रा स्त्रीके पुत्रको धर्मसे दशवें भागसे अधिक नहीं मिलेगा ॥ १५४ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक् ।
यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥ १५५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वा वैश्यका, शूद्रासे उत्पन्न हुआ पुत्र धनका भागी नहीं होता, पिता जो अपनी इच्छासे इसे दे वही इसका धन होता है ॥ १५५ ॥

समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम् ।
उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम् ॥ १५६ ॥

द्विजातियोंकी समान वर्णवाली स्त्रियोंमें पैदा हुए पुत्रोंमें जेठेको पूर्वोक्त उद्धारांश देकर शेष संपत्तिमेंसे सब पुत्र बराबर भाग बांट लें ॥ १५६ ॥

शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते ।
तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ १५७ ॥

शूद्रकी स्वजातीयके सिवाय अन्य स्त्री नहीं कही है इसलिये उसमें एकसौ पुत्र होनेपरभी सबको समान भाग मिलेगा ॥ १५७ ॥

पुत्रान्द्वादश यानाह नृणां स्वायंभुवो मनुः ।
तेषां षड्बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः ॥ १५८ ॥

अथ द्वादशविधा पुत्रस्वरूपविभागप्रकरणं—स्वायंभुव मनुने जो बारह प्रकारके पुत्र मनुष्योंके कहे हैं उनमें छः सगोत्रके दायभागी और बांधव हैं, परंतु अन्य छः केवल बांधव हैं, वे गोत्र और दायके भागी नहीं हैं ॥ १५८ ॥

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च ।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥ १५९ ॥

औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढ़ोत्पन्न और अपविद्ध ये छः प्रकारके पुत्र गोत्रके धनके भागी और बांधव गिने जाते हैं ॥ १५९ ॥

कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा ।
स्वयं दत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥ १६० ॥

कानीन, सहोढ़, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शौद्र ये छः प्रकारके पुत्र गोत्र और दायके भागी नहीं होते, केवल बांधव कहाते हैं ॥ १६० ॥

यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरञ्जलम् ।
तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः ॥ १६१ ॥

टूटी नावसे जलमें तरनेवाले मनुष्यको जैसा फल मिलता है उसी प्रकार कुपुत्रोंसे पुरुषको तम (संसार) पार करनेमें दुःख मिलता है ॥१६१॥

यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ ।
यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद्गृह्णीत नेतरः ॥ १६२ ॥

एक पुरुषके औरस और क्षेत्रज दो प्रकारके पुत्र एक धनके भागी होजांय तो जिसके बापका धन है वह उसे ले, दूसरा क्षेत्रज न ले ॥ १६२ ॥

एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः ।
शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥ १६३ ॥

केवल औरस पुत्रही पितृधनका अधिकारी है, परंतु वह क्षेत्रज आदि शेष पुत्रोंको दोषनिवृत्तिके लिये भोजन वस्त्र आदि दे ॥ १६३ ॥

षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ।
औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥

पितृधन बांटनेके समय औरस पुत्र, उस धनमेंसे क्षेत्रजको अपने हिस्सेका छठा अथवा पांचवां भाग दे ॥ १६४ ॥

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ।
दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥ १६५ ॥

औरस तथा क्षेत्रज पिताके धनके भागी होते हैं, परंतु अन्य दत्तक आदि दस पुत्र क्रमसे गोत्रके भागी होते हैं, और पूर्व २ के अभावमें पर २ धनके भागी होते हैं ॥ १६५ ॥

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम् ।
तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ १६६ ॥

विवाहित सवर्णा स्त्रीमें जिसे स्वयं उत्पन्न करे उस पुत्रको औरस जानना चाहिये और औरस पुत्रही मुख्य है ॥ १६६ ॥

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ १६७ ॥

मृत पुरुष, क्लीब अथवा व्याधिग्रस्त पुरुष की स्त्रीमें नियोग होकर जो संतान उत्पन्न होती है उसे क्षेत्रज कहते हैं ॥ १६७ ॥

माता पिता वा दद्यात्तां यमद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः ॥ १६८ ॥

पिता माता आपत्तिकालमें जिस सजातीय पुत्रका प्रीतिपूर्वक जलसे संकल्प करके दान करते हैं उसे दत्तक कहते हैं ॥ १६८ ॥

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् ।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥ १६९ ॥

पुत्रके गुण और दोष जाननेमें चतुर और पुत्रके गुणोंसे युक्त और सजातीय ऐसे जिस पुत्रको मनुष्य पुत्र गोदले उसे कृत्रिम पुत्र जानना ॥ १६९ ॥

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः ।
स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥

जो पुत्र किसीकी स्त्रीमें सवर्णी जारसे उत्पन्न हो और ठीक २ विदित न हो कि वह किसका है तो वह जिसकी स्त्रीमें उत्पन्न हो उसकाही गूढ़ोत्पन्न पुत्र होगा ॥ १७० ॥

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥ १७१ ॥

मातापिताने अथवा दोनोंमेंसे एकने जिसे त्याग दिया हो ऐसे पुत्रको जो पुरुष ग्रहण करता है उसका वह अपविद्ध पुत्र ही कहाता है ॥ १७१ ॥

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ १७२ ॥

पिताके घरमें रहकर कन्या गुप्तभावसे जिस पुत्रको उत्पन्न करती है उस पुत्रको कानीन कहते हैं और उस कन्याका जिसके साथ विवाह हो वह उसीका पुत्र है ॥ १७२ ॥

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥ १७३ ॥

जानकर वा विना जाने गर्भवती कन्याको व्याहनेपर जो पुत्र उत्पन्न होता है वह विवाह करनेवालेका सहोढ़ पुत्र कहताहै ॥ १७३ ॥

क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥ १७४ ॥

जो पुरुष, जिसे अपत्यके निमित्त उसके मातापिताको मूल्य देकर ले वह सवर्ण हो वा असवर्ण हो उसे क्रीत (मोलका लिया) पुत्र कहते हैं ॥१७४॥

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ १७५ ॥

पतिके द्वारा त्यागी हुई अथवा विधवा स्त्री स्वेच्छापूर्वक फिर दूसरेकी भार्या होकर जो पुत्र उत्पन्न करती है उसे पौनर्भव कहते हैं ॥ १७५ ॥

सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

यह स्त्री यदि अक्षतयोनि रहकर दूसरे पुरुषके पास जाय और वह उसे व्याहले, वा पूर्वपतिके पास लौट आवै और पति फिरसे उसके साथ विवाह कर ले, तो यह पतिकी पुनर्भू स्त्री होगी ॥ १७६ ॥

मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥ १७७ ॥

पिता मातासे रहित अथवा उनके द्वारा विना कारणही त्यागा हुआ पुत्र अपनेको जिसे स्वयंदान करै तो वह उसका स्वयंदत्त पुत्र कहा जाता है ॥ १७७ ॥

यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम् ।
स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः ॥ १७८ ॥

ब्राह्मण कामके वश होकर विवाहित शूद्रा स्त्रीमें जिस पुत्रको उत्पन्न करता है उस पुत्रको पारशव कहते हैं, क्योंकि वह जीता हुआ भी मरेके समान है ॥ १७८ ॥

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत् ।
सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १७९ ॥

दासी वा दासकी स्त्रीमें शूद्रका जो पुत्र हो वह पिताकी आज्ञासे पिताके औरस पुत्रके बराबर भाग ले यही धर्म व्यवस्था है ॥ १७९ ॥

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान् ।
पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः ॥ १८० ॥

श्राद्धादि लोप न हो, इसलिये क्रमसे कहे हुए इन क्षेत्रज आदि ग्यारह प्रकारके पुत्रोंको पण्डितजन पुत्रके प्रतिनिधि (एवजी) कहते हैं ॥ १८० ॥

य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः ।
यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥ १८१ ॥

जो प्रसंगवश अन्यके बीजसे पैदा हुए पुत्र वर्णन किये हैं वे जिसके बीजसे हुए हों उसके ही पुत्र होते हैं अन्यके नहीं ॥ १८१ ॥

भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत् ।
सर्वांस्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥ १८२ ॥

एक माताने पैदा हुए सहोदर भाइयोंमें यदि एकही पुत्रवान् हो तो उस एक पुत्रसे सब भाई अपनेको पुत्रवान् जानें ॥ १८२ ॥

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत् ।
सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥ १८३ ॥

जिन स्त्रियोंका एकही पति है, उनमें यदि एक स्त्री पुत्रवती हो तो उस एक पुत्रसे सब स्त्रियां अपनेको पुत्रवती जानें ॥ १८३ ॥

श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान्रिक्थमर्हति ।
बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः ॥ १८४ ॥

अथ द्वादश पुत्रदायभागप्रकरणं—श्रेष्ठ २ पुत्रके अभावमें अधम २ पुत्र धनाधिकारी होता है, और यदि बहुतसे पुत्र एकसे हों तो वे सब धनके भागी होते हैं ॥ १८४ ॥

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः ।
पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥ १८५ ॥

अपुत्र धनविभागप्रकरणं—पिताके धनके पुत्रही अधिकारी होते हैं, भाई और पिता नहीं होते; परंतु पुत्रहीन पुरुषका धन पिता वा भाई ले ले ॥ १८५ ॥

त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते ।
चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥
[असुतास्तु पितुः पत्न्याः समानांशाः प्रकीर्तिताः ।
पितामहश्च ताः सर्वा मातृकल्पाः प्रकीर्तिताः ॥]

पिता, पितामह, और प्रपितामह इन तीनोंका जलदान और पिंडदान होता है; चौथा पिंडोदकदाता होता है, इसमें पांचवेंका कोई संबन्ध नहीं ॥ १८६ ॥ (जो पुत्रहीन हैं वे सब और पितामह, पिता और पत्नीके समान भागी कहे हैं और सब स्त्रियां माताके समान होती है)

अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ।
अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥ १८७ ॥

जो सपिंडसे अत्यंत निकटका संबन्धी होगा वही सबसे पहिले धनका अधिकारी होगा, और सपिंडके न रहनेपर समानोदक आचार्य्य और शिष्य होंगे ॥ १८७ ॥

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः ।
त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते ॥ १८८ ॥

जो कोई (पास वा दूरका) संबन्धी न हो तो तीनों वेदोंके ज्ञाता, पवित्र जितेन्द्रिय ब्राह्मण अधिकारी होते हैं, इस प्रकार मृत पुरुषके श्राद्ध आदि धर्मकी हानि नहीं होती (क्योंकि वे ही पिंडके दाता होते हैं) ॥ १८८ ॥

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः ।
इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ १८९ ॥

[illegible] ब्राह्मणका धन राजाको लेना उचित नहीं है यह शास्त्रकी

सदाकी मर्य्यादा है । (क्षत्री आदि) अन्य वर्णोंके धनको सबके अभावमें राजा ग्रहण करे ॥ १८९ ॥

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत् ।
तत्र यद्रिक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत् ॥ १९० ॥

पुत्रहीन मृत पुरुषकी स्त्री, सगोत्र पुरुषसे पुत्र उत्पन्न करके मरे हुए पुरुषका सब धन उस पुत्रको दे दे ॥ १९० ॥

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने ।
तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृह्णीत नेतरः ॥ १९१ ॥

यदि दो पिताओंसे पैदा हुए (औरस और पौनर्भव) दो पुत्र स्त्रीधनके ऊपर विवाद करें तो धन जिसके जन्मदाताका हो वही धन उसे मिले, दूसरा नहीं ॥ १९१ ॥

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः ।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥ १९२ ॥

माताके मरनेपर उसका धन सब सहोदर भाई और सहोदर बहनें समान भाग करके बांट लें ॥ १९२ ॥

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः ।
मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ १९३ ॥

यदि इन कन्याओंकी कन्या हों तो उनको भी सन्मानके लिये नानीके धनमेंसे प्रसन्नता के साथ और यथोचित रीतिसे कुछ देना चाहिये ॥ १९३ ॥

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि ।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १९४ ॥

स्त्रीधनस्वरूपनिर्णयः—स्त्रीधन छः प्रकारका कहा गया है, (१) अध्यग्नि, (२) अध्यावाहनिक, (३) प्रतिदत्त (४) माताका दिया, (५) पिताका दिया, और (६) भाईका दिया हुआ ॥ १९४ ॥

अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् ।
पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥ १९५ ॥

विवाहके अनंतर पिताके वा पतिके कुलसे जो धन मिले उसे अन्वाधेय कहते हैं; यह अन्वाधेय और प्रीतिसे पतिका दिया हुआ धन पतिकी जीवित अवस्थामें स्त्रीके मरनेपर उसके पुत्रपुत्रियोंका होता है ॥ १९५ ॥

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु ।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥

ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व, और प्राजापत्य इन पांच प्रकारके विवाहोंमें मिला हुआ छः प्रकारका जो स्त्रीधन है वह स्त्रीके संतानरहित मरजानेपर उसके पतिको मिलता है ॥ १९६ ॥

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु ।
अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १९७ ॥

असुर, राक्षस, और पैशाच विवाहमें मिला हुआ जो स्त्रीधन हो वह स्त्रीके निःसन्तान मरनेपर मातापिताका होगा ॥ १९७ ॥

स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन ।
ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ १९८ ॥

ब्राह्मणसे विवाही हुई अनेक जातिकी स्त्रियोंमें यदि क्षत्रियाणी आदि स्त्री निःसन्तान मरजाय तो उसके पिताका दिया हुआ धन सपत्नी ब्राह्मणकी कन्याको मिलेगा और उसके न रहनेपर उसकी संतानको मिलेगा ॥ १९८ ॥

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात् ।
स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥ १९९ ॥

कोई स्त्री बहुत कुटुम्बियोंके साधारण धनमेंसे और अपने भी धनमेंसे विना पतिकी आज्ञाके (भूषणादिके लिये) धन इकट्ठा वा व्यय न कर सकैगी ॥ १९९ ॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् ।
न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥ २०० ॥

पतिके जीतेजी स्त्रियोंने जो आभूषण पहिन लिये हों उन्हें भर्त्ताके मरने पर पुत्र आदि दायाद (स्त्रीके जीवित रहते) न ले सकेंगे, यदि लेंगे तो वे पापी होंगे ॥ २०० ॥

अनंशौ क्लीवपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥

अथ विभागनधारिप्रकरणं—क्लीव, पतित, जन्मांध, बधिर उन्मत्त, जड, मूक और (करचरणादि) इन्द्रियरहित पुरुष पितृधनके अधिकारी नहीं होते ॥ २०१ ॥

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा ।
ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥ २०२ ॥

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि इन क्लीब आदि सबको यथाशक्ति जीवन पर्यन्त भोजन वस्त्र दे, न देनेसे वह अधिक पापी होता है ॥ २०२ ॥

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥

क्लीव आदिकोंको यदि विवाहकी इच्छा हो और उनकी स्त्रियोंमें किसी तरह यदि क्षेत्रज पुत्र जन्में तो वे पितामहके धनके अधिकारी होते हैं ॥ २०३ ॥

यत्किंचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति ।
भोगो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥ २०४ ॥

पिताके मरनेपर यदि जेठा भाई भाइयोंके संग रहता हो और अपनी सामर्थ्यसे कुछ धन पैदा करै तो उसमें विद्या पढ़नेवाले छोटे भाइयोंकाभी भाग होता है ॥ २०४ ॥

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत्।
समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥ २०५ ॥

यदि विद्याहीन सब भाई व्यापार करके धनकी वृद्धि करैं तो पिताके धनको छोड़कर वे समान भागी होंगे यह शास्त्रका नियम है ॥ २०५ ॥

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत्।
मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥

अविभाज्य प्रकरणं—जिसका जो धन, विद्यासे, मित्रसे, विवाहके समय और यज्ञमें मिला हो वह जिसे मिला हो उसीका होता है ॥ २०६ ॥

भ्रातृणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा।
स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किंचिद्दत्त्वोपजीवनम् ॥ २०७ ॥

भाइयोंमेंसे जो भाई स्वयं उपार्जन करनेमें समर्थ होनेसे पिताके धनको न चाहै—तो पितृधनमेंसे कुछ धन देकर सब भाई उसे अलग करदें (नहीं तो उसके लड़के पीछे झगड़ा मचावेंगे) ॥ २०७ ॥

अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम्।
स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥

पिताके धनको नष्ट न करके जिस पुरुषने अपने परिश्रमसे वा अपनी चेष्टासे धन पैदा कियाहै—वह यदि न चाहै तो उस धनमेंसे किसीको कुछ न दे ॥२०८॥

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात्।
न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ २०९ ॥

यदि पैतृक संपत्ति पिताकी असामर्थ्यसे स्थानांतरित होगई हो और पुत्र अपनी शक्तिसे उसका उद्धार करै तो वह धन उसका स्वयं उपार्जित गिना जायगा, और यदि वह न चाहे तो अपने पुत्रोंको उसमेंसे भाग न दे ॥ २०९ ॥

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥ २१० ॥

अथ संसृष्टिधनविभागः—भाई पहिले अलग रहकर पीछे मिलकर रहैं तो फिर विभागके समय सबको बराबर भाग मिलेगा, जेठा भाई उद्धारांश नहीं पावेगा ॥ २१० ॥

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः।
म्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते ॥ २११ ॥
सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम्।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥ २१२ ॥

यदि भाइयोंमेंसे जेठा वा छोटा भाई (संन्यासी पतित आदि होनेसे) अंशरहित होजाय वा मरजाय तो उसके भागका लोप न होगा, उसके पुत्रोंको देदेना चाहिये; (और जो पुत्र न हों तो) उस धनको सब सगे भाई, सब संसृष्टभाई और सगी बहिनें इकट्ठे होकर समान रीतिसे आपसमें बांटलें ॥ २११ ॥ २१२ ॥

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद्भ्रातॄन्यवीयसः ।
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥ २१३ ॥

जो जेठा भाई लोभसे छोटे भाइयोंको ठगे अर्थात् उन्हें पूरा भाग न दे तो उसे बड़ा नहीं मानना चाहिये, उसे जेठेके योग्य उद्धारांश भी नहीं मिलैगा और राजाके द्वारा उसे दंड मिलना चाहिये ॥ २१३ ॥

सर्वे एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् ।
न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥ २१४ ॥

(द्यूत वेश्यागमन आदि) कुकर्म करनेवाले सब भाई धनके भागी नहीं होते, छोटे भाइयोंको विना दिये जेठा भाई साधारण धनकोभी अपने आधीन न करै ॥ २१४ ॥

भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह ।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात्कथंचन ॥ २१५ ॥

यदि अविभक्त भाई साथ रहकर धन पैदा करैं तो पिता उनमेंसे किसीको थोड़ा किसीको बहुत कभी न दे ॥ २१५ ॥

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् ।
संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ २१६ ॥

यदि कोई पुत्र धन बंटनेके अनंतर जन्में तो उसे पिताका धन मिलैगा; और यदि कुछ भाई पिताके साथ होगए हों तो उनके साथ सब धन मिलाकर वह विभाग करै ॥ २१६ ॥

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् ।
मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ २१७ ॥

निःसंतान पुत्रका धन माता पावैगी, माताके मरनेपर वह दादीको मिलेगा ॥ २१७ ॥

ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि ।
पश्चाद्दृश्येत यत्किंचित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥ २१८ ॥

पिताके सब ऋण और धन विधिपूर्वक बंटनेके पीछे भी यदि कहीं पैतृक धन वा ऋण दीखै तो उसमें भी पहिलेकी भांति सब समान भाग कर लें ॥२१८॥

वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः ।
योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ २१९ ॥

वस्त्र, सवारी, आभूषण, पक्वान्न, कूपादि, दासी आदि स्त्रियां, पुरोहित मंत्री छत्र चामर आदि, और घर आदिके प्रवेशका मार्ग, इनका विभाग करना अयोग्य कहा है ॥ २१९ ॥ (इति दायभागः)

अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः।
क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥ २२० ॥

यह तुमसे विभागकी व्यवस्था और क्षेत्रज आदि पुत्रोंका दाय भाग क्रमसे कहा; अब द्यूतधर्म सुनों ॥ २२० ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत्।
राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥

राजा अपने राज्यसे जुएका खेलना और समाह्वय बंद करै क्योंकि ये दोनों दोष राजाओंके नाशक हैं ॥ २२१ ॥

प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमाह्वयौ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥ २२२ ॥

जुआ और समाह्वय ये दोनों प्रत्यक्ष चोरी हैं, इसलिये राजाको सदा इन दोनोंके रोकनेका सदा यत्न करना चाहिये ॥ २२२ ॥

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ २२३ ॥

पासा आदि खेलनेको जुआ कहते हैं, और घोड़ा भेड़ आदि प्राणियोंके द्वारा बाजी बदकर जो खेला जाता है उसे समाह्वय जानना ॥ २२३ ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा।
तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥

जो पुरुष जुआ वा समाह्वय स्वयं करै वा दूसरेसे करावै उन सबको राजा प्राणवधपर्यन्त दंड दे, और द्विजचिन्हधारी शूद्रोंको भी ऐसाही दंड दे ॥ २२४ ॥

कितवान्कुशीलवान्क्रूरान्पाषण्डस्थांश्च मानवान्।
विकर्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥ २२५ ॥

कितव अर्थात् जुआ समाह्वय करनेवाले, नाचने और गानेवाले, (नटआदि) क्रूर, पाखंडी मनुष्य, अवैदिकधर्ममें प्रीति करनेवाले, और मद्य पीनेवाले आदिको राजा नगरके बाहर शीघ्र निकाल दे ॥ २२५ ॥

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ २२६ ॥

ये सब और छिपे हुए चोर राज्यमें रहकर अधर्म करके राजाको और उत्तम प्रजाको सदा बहुत क्लेश पहुंचाते हैं ॥ २२६ ॥

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत्।
तस्माद्द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २२७ ॥

पहिले कल्पमें भी जुआ बड़ी शत्रुता करनेवाला देखा गया है इसलिये बुद्धिमान् पुरुष हँसीके लिये भी जुआ न खेलै ॥ २२७ ॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥

जो पुरुष छुपकर वा प्रकाशरूपसे जुआ खेले उसे राजाकी इच्छानुसार दंड होता है ॥ २२८ ॥

क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन्।
आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः ॥ २२९ ॥

क्षत्री, वैश्य और शूद्र आदि यदि दंड देनेमें असमर्थ हों तो राजा उनके योग्य काम कराकर दंडका वदला चुका ले, परंतु ब्राह्मणसे धीरे २ दंडका धन वसूल करै ॥ २२९ ॥

स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम्।
शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् ॥ २३० ॥

स्त्रियां, बालक, उन्मत्त, वृद्ध, दरिद्री, और रोगी इन्हैं वैंत, बांस अथवा रस्सीआदिसे राजा दंड दे ॥ २३० ॥

ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम्।
धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः ॥ २३१ ॥

कर्मचारी यदि लोभसे रिशवत लेकर वादीप्रतिवादियोंके कार्य्योंको विगाड़े तो राजा उनका सर्वस्व हरले ॥ २३१ ॥

कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान्।
स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्द्विट्सेविनस्तथा ॥ २३२ ॥

राजाकी आज्ञाको छलसे लिखनेवाले, प्रजाओंमें भेद करनेवाले, स्त्री, बालक तथा विप्रघातक, तथा शत्रुकी सेवा करनेवाले इनका राजा वध करै ॥ २३२ ॥

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत्।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ॥ २३३ ॥
[तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विकर्मणा।
द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत् ॥]

व्यवहारमें किसी कार्यको धर्मके अनुसार समाप्त कर दिया हो अथवा किसीको दंड दे दिया हो तो उसे किया हुआही समझै, उसे फिर न वदलै ॥ २३३ ॥

(धर्मके अनुसार की हुई व्यवस्था, वा दंडके प्रतिकूल कार्य करके जो उसका अपमान करै उसपर दूना दंड करके राजा उससे उस धर्म-निश्चित निर्णयके अनुकूल फिर कार्य करावै)

अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥ २३४ ॥

मंत्री वा न्यायकर्ता जिस कामको अन्यथा कर दें, अर्थात् शास्त्रानुसार न करैं, तो राजा उसको फिरसे स्वयं करै और उनको सहस्र पण दंड दे ॥ २३४ ॥

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः।
एते सर्वे पृथग्ज्ञेया महापातकिनो नराः ॥ २३५ ॥

ब्राह्मणघाती, मद्यप, चोर और गुरुपत्नीगामी इन सब पुरुषोंको अलग २ महापापी जानें ॥ २३५ ॥

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम्।
शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

जो ये चारों प्रायश्चित्त न करैं तो राजा इन्हैं धर्मपूर्वक, धनसंयुक्त नीचे लिखा शारीरक दंड दे ॥ २३६ ॥

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः।
स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥ २३७ ॥

गुरुपत्नीगामीके मस्तकपर लोहा तपाकर भगका चिन्ह, मद्यपके मस्तकपर मद्यपात्रका चिन्ह, चोरके मस्तकपर कुत्तेके पांवका चिन्ह और ब्रह्महत्यारेके मस्तकपर एक शिरहीन पुरुषका चिन्ह अंकित कर दे ॥ २३७ ॥

असंभोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्याविवाहिनः।
चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ॥ २३८ ॥

ये महापतकी भोजन, यज्ञ और अध्यापन कराने योग्य नहीं हैं; इनके साथ कन्यादानका भी संबन्ध न करै; ये चारों सब धर्मोंसे रहित होकर दीन हुए पृथ्वीपर घूमते रहैं ॥ २३८ ॥

ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः।
निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥ २३९ ॥

इन चिन्हित महापापियोंको स्वजन तथा अन्य संबन्धी छोड़ दें, उनपर दया न करैं, उन्हैं नमस्कार न करैं, यह मनुकी आज्ञा है ॥ २३९ ॥

प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम्।
नाङ्क्या राज्ञा ललाटे स्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् ॥ २४० ॥

यदि ये सब अपने २ वर्णके अनुसार प्रायश्चित्त करैं तो उनके मस्तकपर राजा चिन्ह अंकित न करै परंतु उन्है उत्तम साहस दंड दे ॥ २४० ॥

आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः।
विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः॥ २४१॥

ब्राह्मण अज्ञानसे यह पातक करै तो राजा उसे भी मध्यम साहस दंड दे, और जानकर करै तो उसे धनवस्त्रसहित राज्यसे बाहर निकाल दे॥ २४१॥

इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः।
सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम्॥ २४२॥

यदि क्षत्रिय आदि अज्ञानसे इन सब महापातकोंको करैं तो उन्हैं सर्वस्व हरणका दंड होगा, और जानकर करनेपर वे देशसे निकाल दिये जांयगे॥ २४२॥

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम्।
आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते॥ २४३॥

धार्मिक राजा महापापीका धन कदापि न ले और जो लोभसे ले ले तो वह महापातकके दोषसे लिप्त होता है॥ २४३॥

अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत्।
श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत्॥ २४४॥

महापातकीको दंड देनेसे जो धन मिलै उसे जलमें फैंककर वरुण देवताके अर्पण कर दे अथवा वेद और सदाचारसे युक्त ब्राह्मणको दे दे॥ २४४॥

ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः।
ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः॥ २४५॥

क्योंकि वरुण राजाओंके शासक हैं और दंडके धनके स्वामी हैं, और वेदपाठी ब्राह्मण सबजगतका प्रभु है॥ २४५॥

यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनागमम्।
तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः॥ २४६॥
निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक्।
बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते॥ २४७॥

जहां राजा पापियोंका धन नहीं लेता है वहां मनुष्य उचित समयमें जन्मते और दीर्घजीवी होते हैं॥ २४६॥ वहां वैश्य जैसा २ अन्न बोते हैं वैसेही सब शस्य भी अलग २ उपजते हैं, बाल्यावस्थामें कोई नहीं मरता और (कुब्ज, पंगु आदि) विकृत पुरुष पैदा नहीं होतें॥ २४७॥

ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादवरवर्णजम्।
हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः॥ २४८॥

यदि शूद्र जान बूझकर ब्राह्मणोंको क्लेश दे तो राजा शूद्रको अनेक प्रकारके उद्वेगजनक वधउपायोंसे मारै॥ २४८॥

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे ।
अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥

राजाको अवध्यके मारनेसे जितना पाप होता है उतनाही वध्यके छोड़ देनेमें अधर्म होता है, शास्त्रके अनुसार दंड देना राजाका धर्म देखा गया है ॥२४९॥

उदितोऽयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः ।
अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥

आपसमें झगड़नेवाले वादी प्रतिवादीका व्यवहारनिर्णय मैंने अठारह भागोंमें विस्तारपूर्वक कहा ॥ २५० ॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः ।
देशानलब्धांल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥

इसभांति राजा धर्मपूर्वक कार्योंको अच्छीतरह करता हुआ अलब्ध देशोंके पानेकी इच्छा करै और अपने आधीन देशोंका पालन करै ॥ २५१ ॥

सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः ।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥

राजा पूर्वोक्त जंगल सस्य संपन्न देशोंमें शास्त्रानुसार किला बनाकर रहै और चोर डाकू आदि कंटकोंके नष्ट करनेके सदा उत्तम यत्न करै ॥ २५२ ॥

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥ २५३ ॥

सदाचारी लोगोंकी रक्षा करनेसे और दुष्टोंको दंडित कर देनेवाले प्रजापालक राजा स्वर्गमें जाते हैं ॥ २५३ ॥

अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः ।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४ ॥

चोरोंको विना दंड दिये जो राजा प्रजासे कर लेता है उसका राज्य विगड़ जाता है और उसे स्वर्गलोक नहीं मिलता ॥ २५४ ॥

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।
तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥ २५५ ॥

जिस राजाके बाहुबलके आसरे सब देश निर्भय रहता है उसका देश इस प्रकार बढ़ता है जैसे सींचनेसे वृक्ष बढ़ता है ॥ २५५ ॥

द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ।
प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥ २५६ ॥

दूतही हैं नेत्र जिसके ऐसा राजा दूतोंके द्वारा प्रकाश और गुप्त दोनों प्रकार के परधनहारी चोरोंको जाने ॥ २५६ ॥

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।
प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥ २५७ ॥

उनमेंसे बेचनेकी अनेक वस्तुओंके मूल वा तोल आदिमें ठगें वे प्रत्यक्ष वंचक हैं, और जो सेंध लगाकर चोरी करैं अथवा जंगलमें रहकर पराया धन हरैं उन्हैं गुप्त वंचक जानना चाहिये ॥ २५७ ॥

उत्कोचकाश्चोपधिका वञ्चकाः कितवास्तथा ।
मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्च क्षणिकैः सह ॥ २५८ ॥
असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।
शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोषितः ॥ २५९ ॥
एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशाँल्लोककण्टकान् ।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥ २६० ॥

रिशवत लेनेवाले, भय दिखाकर धन लेनेवाले, ठग, जुआरी, अच्छी २ बातें मारकर धन लेनेवाले, उत्तम वेशसे पाप छुपाकर धन लेनेवाले, हाथकी रेखा देखकर शुभाशुभ फल कहनेवाले, अशिक्षित महावत, अशिक्षित चिकित्सक, शिल्पकी जीविकावाले, धन हरनेमें निपुण वेश्या, और उत्तम वेशधर कर गुप्त विचरनेवाले शूद्र आदि इनको प्रत्यक्ष लोककंटक जानें ॥ २५८ ॥ २५९ ॥ २६० ॥

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ।
चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥

उस कर्मकेही करनेवाले, गुप्त और उत्तम चरित्रवाले और अनेक स्थानोंमें टिके हुए जासूदोंसे उन पूर्वोक्त वंचकोंको जानकर और उचित ताड़ना देकर अपने वशमें करै ॥ २६१ ॥

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।
कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥ २६२ ॥

राजाको चाहिये कि जो कर्म जिसने किया हो उसमें दोषोंकी प्रत्यक्ष घोषणा करके उनके अपराधोंके अनुसार भली प्रकार दंड दे ॥ २६२ ॥

नहि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः ।
स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥

चोर, पापबुद्धि और गुप्त रीतिसे पृथ्वीपर विचरनेवाले चोरोंके पापका रोकना बिना दंड किये अपने आप नहीं हो सक्ता ॥ २६३ ॥

सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।
चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥
जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च ।
शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥

एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः।
तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥

सभा, प्याऊ, मालपुए आदिकी विक्रीकी जगह, वेश्याघर, मद्यघर, अन्न वेचनेके स्थान, चौराहे, वृक्षमूल, लोगोंके एकत्र होनेके स्थान, टूटे-फूटे बगीचे, जंगल, शिल्पगृह, निर्जनघर, वन और उपवन, ऐसे स्थानोंमें चोरोंके नाशके लिये राजा एकस्थानमें रहनेवाली तथा चलती हुई प्यादोंकी सेनाको तथा अन्य दूतोंको नियुक्त करै ॥ २६४ ॥ २६५ ॥ २६६ ॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः।
विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥

जो लोग चोरोंके सहायक वा चोरोंकी भांति सन्धिच्छेद आदि कार्योंमें निपुण हों, अथवा पहिलेके चोर हों, उन्हींके सहारे राजा चोरोंको जानकर उनका नाश करै ॥ २६७ ॥

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः।
शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥

भक्ष्य वा भोजनका लोभ दिखाकर वा ब्राह्मणोंका दर्शन तथा शौर्यकर्म दिखानेके वहाने उन नवीन चोरोंको राजदूतोंके द्वारा बुला कर एकत्र करै ॥ २६८ ॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये।
तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥ २६९ ॥

यदि नवीन चोर (दूतोंके बुलानेपरभी) पकड़नेका संदेह कर न आवें तो राजा स्वयं बलपूर्वक उनका, मित्र, ज्ञाति और बांधवसहित वध करै ॥ २६९ ॥

न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः।
सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ २७० ॥

धर्मात्मा राजाको चाहिये कि चोरीका माल बरामद न हो और चोरका निश्चय न हो तो उसे विनष्ट न करै, परंतु जो चोरीका माल तथा सेंध फोड़नेके औजारसहित चोर निश्चित हो जाय तो विना विचारे उसका वध करै ॥ २७० ॥

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः।
भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वांस्तानपि घातयेत् ॥ २७१ ॥

यदि गांवोंमें कोई चोरोंको बल देनेवाले हों अर्थात् भोजन वस्त्रादिसे सहायता करते हों, अथवा चोरोंको चोरीके उपयोगी अन्न, बासन, वा रहनेको स्थान देते हों तो राजा उन सबका भी वध करै ॥ २७१ ॥

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान्।
अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिष्याच्चौरानिव द्रुतम् ॥ २७२ ॥

जो राज्यमें रक्षाके लिये नियुक्त हों अथवा राजसामंत जो सीमापर नियुक्त हों और चोरी करानेमें मिले हुए हों तो राजा चोरकी भांति उन्हें भी शीघ्र दंड दे ॥ २७२ ॥

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः।
दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम् ॥ २७३ ॥

धर्मजीवी ब्राह्मण यदि धर्मसे भ्रष्ट होजाय अर्थात् यज्ञादि न करै तो उस अपने धर्मसे पतितको राजा दंडसे ताड़ना दे ॥ २७३ ॥

ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने।
शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः ॥ २७४ ॥

गांव लुटनेमें, पुल टूटनेमें, मार्गमें चोरोंको देखकर जो अपनी शक्तिके अनुसार नहीं दौड़ते अर्थात् रक्षा नहीं करते उन्हें भी राजा वस्त्र धनसहित देशसे निकाल दे ॥ २७४ ॥

राज्ञः कोषापहर्तृंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान्।
घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥ २७५ ॥

राज्यके खजानेको चुरानेवाले, राजाके विरोधी और राजाके साथ शत्रुओं का वैर बढ़ानेवाले लोगोंको अनेक प्रकारका दंड देकर राजा उनका वध करै ॥ २७५ ॥

संधिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः।
तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् ॥ २७६ ॥

जो चोर सैंध लगाकर रातको चोरी करते हैं, राजा उनके हाथ काटकर पैनी सूलीपर चढ़ावै ॥ २७६ ॥

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ २७७ ॥

जो लोग गांठ काटकर चोरी करते हैं उनका पहिली वार अँगूठा और तर्जनी अँगुली कटवा दे; दूसरी वार हाथ पांव कटवा दे; तीसरी वार उसे वधका दंड दे ॥ २७७ ॥

अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान्।
संनिधातृंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥

जो चोरोंको अग्नि, भोजन देते हों अथवा उनको शस्त्र और मौका देते हों और चुराई हुई वस्तुओंको पास रखते हों उनको राजा चोरकी भांति दंड दे ॥२७८॥

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा।
यद्वापि प्रतिसंस्कुर्याद्दाप्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ २७९ ॥

बाड़ तोड़कर तालावको नष्ट करनेवालेको जलमें डुबाकर वा साधारण रीति से वध करै, और जो वह तालाव ज्यौंका त्यौं कर दे तो राजा उसे उत्तम साहस दंड दे ॥ २७९ ॥

कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान्।
हस्त्यश्वरथहर्तृंश्च हन्यादेवाविचारयन्॥ २८०॥

राजाका कोठार, अस्त्रशस्त्रोंका घर और देवालय, इनको नष्ट करनेवाले अथवा रथ, हाथी और घोड़ोंको हरनेवाले इनको राजा विना विचारे वध करै ॥ २८० ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत्।
आगमं वाप्यतां भिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम्॥ २८१॥

जो किसीके पहिले बनाये हुए तालावका जल हरै अथवा जल आनेके मार्गको नष्ट करदे उसे राजा प्रथम साहस दंड दे॥ २८१॥

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि।
स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत्॥ २८२॥

जो पुरुष अनापत्कालमें राजमार्गोंमें (विष्ठा आदि) अपवित्र वस्तु डाल दे उसपर राजा दो कार्षापण दंड करै और वह वस्तु उसीसे उठवा कर साफ करावै ॥ २८२ ॥

आपद्गतोऽथवा वृद्धा गर्भिणी बाल एव वा।
परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः॥ २८३॥

यदि विपत्तिमें पड़ा हुआ वृद्ध, वा गर्भिणी वा बालक ऐसा करै तो उसको झिड़कै और उनसे वह वस्तु उठवा कर साफ करावै यह मर्य्यादा है ॥ २८३॥

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः।
अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः॥ २८४॥

जो चिकित्सक गऊ घोड़े आदिकी ठीक २ चिकित्सा न करैं उन सब पर प्रथम साहस दंड, और जो मनुष्योंकी कुछ से कुछ चिकित्सा करैं उनपर मध्य साहस दंड होना चाहिये ॥ २८४ ॥

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च॥ २८५॥

जलके ऊपरसे जानेका छोटा पुल, ध्वजा, पूजनका स्तंभ तथा प्रतिमा इनके तोड़नेवालेपर राजा पांचसौ पण दंड करै और इन सबको उससे फिर बनवावै ॥ २८५॥

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा।
मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः॥ २८६॥
समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा।
समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा॥ २८७॥

अदूषित द्रव्योंको (निन्दित वस्तु मिलाकर) दूषित करनेमें, माणिक आदि

रत्नोंके तोड़नेमें, अथवा मुक्ता, प्रवाल आदिको अयोग्य स्थानमें वेधनसे मनुष्यपर प्रथम साहस दंड करै ॥ २८६ ॥ जो पुरुष समान मूल्य देनेवालों में किसीको अच्छा और किसीको बुरा द्रव्य देता है अथवा समान मूल्यकी वस्तुको एकको अधिक और एकको थोड़े मूल्यमें देता है वह मनुष्य प्रथम वा मध्यम साहस दंड पाता है ॥ २८७ ॥

बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत् ।
दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥ २८८ ॥

राजाको चाहिये कि कारागार आदि बंधनगृह राजमार्गमें बनावे कि जिससे दुःखित (बेड़ी डले, लूले, लंगड़े आदि) विकृत और पापी लोगोंको सब देख सकें ॥ २८८ ॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् ।
द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ २८९ ॥

राजगृह वा नगरका परकोटा तोड़नेवाले, खाईको भरनेवाले और द्वार भंग करनेवाले लोगोंको राजा तत्काल देशसे निकाल दे ॥ २८९ ॥

अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः ।
मूलकर्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ॥ २९० ॥

सब मारणके उपायोंमें, वशीकरणके कामोंमें तथा अनेक प्रकारके उच्चाटन आदि कार्य्योंमें यदि किसीका मरण न हो तो दोसौ पण दंड होगा (और जो कोई मरजाय तो वधदंड होहीगा) ॥ २९० ॥

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च ।
मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥ २९१ ॥

जो पुरुष उपजनेके अयोग्य बीजोंको वेचै वा निकृष्ट बीजको उत्तम बीज कहकर बेचै, और जो गांवकी सीमा नष्ट करै उसके नाक, कान, पांव आदि कटवा दे ॥ २९१ ॥

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः ।
प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥

सब पापियोंमें सुवर्णकार अधिक पापी है इसलिये उसे अन्यायमें प्रवृत्त देखकर राजा छुरोंसे उसके टुकड़े काटनेकी आज्ञा दे ॥ २९२ ॥

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च ।
कालमासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २९३ ॥

हल, कुदाली आदि खेतकी वस्तुओंको चुरानेमें वा शस्त्र अथवा औषधी की चोरीमें राजा समयके अनुसार दंड कल्पना करै ॥ २९३ ॥

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥

राजा, मंत्री, पुर, देश, कोष, दंड (सेना) और सुहृत् ये सात अंग हैं इसलिये राज्यको सप्तांग कहते हैं ॥ २९४ ॥

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥

राज्यकी इन सात प्रकृतियोंमें पूर्वं २ व्यसनको यथाक्रम महान् और अति गुरु व्यसन जाने, अर्थात् दूसरेकी अपेक्षा पहिलेकी रक्षाका यत्न करै, जैसे मित्रसे सेनाको, सेनासे खजानेको बड़ा जाने इत्यादि ॥ २९५ ॥

सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥

संन्यासीके तीन दंडोंके समान मिले हुए सप्तांग राज्यमें आपसके गुणोंकी विशेषताके कारण कोई किसीसे बढ़कर नहीं है ॥ २९६ ॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिञ्छ्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥

जिस २ कार्यमें जो २ अंग श्रेष्ठ होता है और उस अंगसे जो कार्य पूरा होता है उस कार्यमें वही अंग श्रेष्ठ होता है ॥ २९७ ॥

चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम् ।
स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥ २९८ ॥

दूतोंसे, उत्साह योगसे और कार्य्योंके करनेसे राजा शत्रुकी शक्ति और अपनी शक्तिको सदा जाने ॥ २९८ ॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ।
आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥

(अपने तथा शत्रुके देशमें) सब प्रकारकी बीमारी और व्यसनोंके न्यूनाधिक भावको विचार कर राजा कार्य आरंभ करै ॥ २९९ ॥

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।
कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥

थका हुआ राजा भी वार २ कार्य्योंका आरंभ करै, क्योंकि कार्य आरंभ करनेवाले मनुष्यकी लक्ष्मी स्वयं सेवा करती है (इसलिये राजा हार जानेपर भी वार २ शत्रुपर चढ़ाई करै, उदासीन न रहै) ॥ ३०० ॥

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥

सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ये सब राजाके ही आचरण विशेष हैं इसलिये राजाही युग कहा जाता है ॥ ३०१ ॥

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम्॥ ३०२॥

उद्यमरहित राजा कलियुग होता है, जानकर भी कार्य न करनेवाला राजा द्वापर, राज्यकार्य्यमें उद्योगी राजा त्रेता, और सब कार्योंको करता हुआ जो स्वच्छन्द विचरता है वह सतयुग होता है॥ ३०२॥

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत्॥ ३०३॥

राजाको चाहिये कि इन्द्र, सूर्य्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथ्वी इनके तेजके अनुसार वर्ते॥ ३०३॥

वार्षिकांश्चतुरो मासान्यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।
तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन्॥ ३०४॥

जैसे इन्द्र वर्षाके चारों महीनोंमें जल बरसाता है वैसेही राजाभी इन्द्रव्रत ग्रहणकर देशकी कामनाओंको पूर्ण करै॥ ३०४॥

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत्॥ ३०५॥

जैसे सूर्य आठ महीनेतक धीरे २ अपनी किरणोंसे जल खींचता है उसी भांति राजाभी धीरे २ राज्यसे कर ग्रहण करै, यही उसका अर्कव्रत है॥ ३०५॥

प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम्॥ ३०६॥

जैसे प्राणवायु सब प्राणियोंके भीतर प्रविष्ट होकर विचरता है उसी भांति राजाभी दूतोंके द्वारा सर्वत्र प्रवेश करै, यही वायुव्रत है॥ ३०६॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम्॥ ३०७॥

समय आनेपर जैसे यम, मित्र और शत्रुको मारता है उसी भांति राजाभी मित्र और शत्रुका विचार न कर प्रजाको न्यायपूर्वक दंड दे, यही यमव्रत है॥ ३०७॥

वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते।
तथा पापान्निगृह्णीयाद्व्रतमेतद्धि वारुणम्॥ ३०८॥

जैसे वरुणकी फांसीमें बांधने योग्य मनुष्य उससे बंधा हुआही दीखता है उसी भांति राजाभी पापियोंका निग्रह करै यही वरुणव्रत है॥ ३०८॥

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः।
तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चान्द्रव्रतिको नृपः॥ ३०९॥

जैसे पूर्णचन्द्रमाको देख कर मनुष्य प्रसन्न होते हैं उसी भांति राजाको देखकर प्रजा आनन्दित हो यही चन्द्रव्रत है ॥ ३०९ ॥

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

राजा पापियोंके लिये सदा प्रतापयुक्त, तेजस्वी हो और प्रतिकूल मंत्रियोंका मारनेवाला हो यही अग्निव्रत है ॥ ३१० ॥

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥

जैसे पृथ्वी सब प्राणियोंको समभावसे धारण करती है वैसेही राजा संपूर्ण प्रजाका समभावसे प्रतिपालन करै यह पृथ्वीव्रत है ॥ ३११ ॥

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।
स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥

इन सब तथा अन्यान्य उपायोंसे राजा सदा आलस्यरहित होकर अपने और पराये राज्यके चोरोंको पकड़े ॥ ३१२ ॥

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ।
ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥ ३१३ ॥

अत्यन्त विपद्ग्रस्त होनेपरभी राजा कभी ब्राह्मणोंपर क्रोध न करै; क्योंकि ब्राह्मण कुपित होनेसे सेना और वाहनयुक्त राजाको तत्काल नष्ट कर देते हैं ॥ ३१३ ॥

यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः ।
क्षयी चाप्यायितः सोमः को न नश्येत्प्रकोप्य तान् ॥३१४॥

जिन ब्राह्मणोंने क्रुद्ध होकर अग्निको सर्व भक्षी बनाया, समुद्रका जल पीनेके अयोग्य किया, और क्षयीरोगयुक्त चन्द्रमाको फिर पूरा किया अर्थात् उसका क्षयरोग दूर किया, ऐसे ब्राह्मणोंको क्रोधित करके कौन नष्ट न होगा ॥ ३१४ ॥

लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः ।
देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात् ॥ ३१५ ॥

जो ब्राह्मण अन्य लोक और लोकपालोंको रच सक्ते हैं और देवताओंको अदेवता कर सक्ते हैं ऐसे ब्राह्मणोंको कुपित करके कौन वृद्धि पा सक्ता है ॥ ३१५ ॥

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा ।
ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्तान्जिजीविषुः ॥ ३१६ ॥

जिन ब्राह्मणोंके सहारे लोक और देवता सदा टिकते हैं और जिनका वेद

ही धन है, अपने जीवनको चाहनेवाला कौन ऐसे ब्राह्मणोंकी हिंसा करेगा ॥ ३१६ ॥

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥ ३१७ ॥

शास्त्रोक्त विधिसे स्थापन की हुई अथवा नहीं स्थापन की हुई अग्नि जैसे परम देवता है वैसेही विद्वान् हो वा अविद्वान् हो ब्राह्मणभी परम देवतारूप है (इसलिये किसी ब्राह्मणका अपमान नहीं करना चाहिये) ॥ ३१७ ॥

श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥

जैसे तेजस्वी अग्नि श्मशानमें होनेपरभी अपवित्र नहीं होती, वरन यज्ञोंमें जो उसमें होम किया जाय तो वृद्धिको प्राप्त होती है ॥ ३१८ ॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ ३१९ ॥

वैसेही यद्यपि ब्राह्मण सब निन्दित कार्य्य भलेही करैं तो भी ब्राह्मण सर्वथा पूजनीय हैं क्योंकि ब्राह्मणरूप परम देवता है ॥ ३१९ ॥

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः।
ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥

अतिसमृद्ध क्षत्रिय यदि ब्राह्मणोंको पीड़ा दे तो ब्राह्मण उसको दंड दे, क्योंकि क्षत्री ब्राह्मणसे पैदा हुआ है ॥ ३२० ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३२१ ॥

जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय, और पत्थरसे अस्त्रशस्त्र उत्पन्न हुए हैं, इससे इनका तेज सर्वत्र कारगर होनेपरभी अपने २ उत्पत्तिस्थानमें जाकर शांत हो जातः है ॥ ३२१

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥

ब्राह्मण विना क्षत्रियजी और क्षत्रीके विना ब्राह्मणकी कभी वृद्धि नहीं होती, परंतु ब्राह्मण और क्षत्रीके मिलनेसे इस लोक और परलोकमें उनकी वृद्धि होती है ॥ ३२२ ॥

दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम्।
पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥ ३२३ ॥

राजाको चाहिये कि दंडसे प्राप्त हुआ सब धन ब्राह्मणोंको देकर और पुत्रको राज्य सौंपकर युद्धमें प्राणत्याग करै ॥ ३२३ ॥

एवं चरन्सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः ।
हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

राजा सदा इसी भांति राजधर्ममें तत्पर रहकर सब सेवकोंको लोकोंके हितके कामोंमें लगावै ॥ ३२४ ॥

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः ।
इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥

राजाकी यह सनातन कार्य्यविधि पूर्ण रीतिसे कही, अब वैश्य और शूद्रकी क्रमसे कर्मविधि जानों ॥ ३२५ ॥

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम् ।
वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥ ३२६ ॥

वैश्य जनेऊ होनेपर विवाह करके कृषि और वाणिज्य आदिमें तथा पशुओं की रक्षामें सदा लगा रहै ॥ ३२६ ॥

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून् ।
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥ ३२७ ॥

प्रजापतिने पशु उत्पन्न करके वैश्यको दिये और संपूर्ण प्रजाको उत्पन्न करके उसका भार राजा और ब्राह्मणको सोंपा ॥ ३२७ ॥

न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन ॥ ३२८ ॥

वैश्य यह कभी न समझे कि मैं पशुपालन कभी नहीं करूंगा । जब तक वैश्य पशुपालन की इच्छा करै तबतक राजा पशुपालन अन्यसे कभी न करावै ॥ ३२८ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च ।
गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥ ३२९ ॥

वैश्यको चाहिये कि मणि, मोती, प्रवाल, लोहा, वस्त्र, सुगन्धित वस्तु और (लवणादि) रस इत्यादिके मूल्यका न्यूनाधिक भाव जानें ॥ ३२९ ॥

बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च ।
मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ ३३० ॥

वैश्यको बीजबोनेकी रीति, खेतके गुणदोष, सब तरहके परिमाणके उपाय, तथा तोलके उपाय भी जानने चाहिये ॥ ३३० ॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् ।
लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ ३३१ ॥

सब वस्तुओंकी उत्तमता, हीनता, देशोंके गुणदोष, बिक्रीकी वस्तुओंकी लाभ–हानि, पशुओंकी वृद्धिका उपाय ॥ ३३१ ॥

भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम् ।
द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥ ३३२ ॥
धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ।
दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥
विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् ।
शुश्रूषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ ३३४ ॥

नोकरोंकी मजदूरी, भिन्न २ देशोंके मनुष्योंकी भाषा, सब वस्तुओंके उपयोगी स्थान और उनके परस्पर संयोग (अर्थात् इस वस्तुके संयोगसे यह नहीं बिगड़ेगी) और बेचने खरीदनेके सब विषय इनको वैश्य जाने ॥ ३३२ ॥ वैश्यको चाहिये कि धर्मपूर्वक धन बढ़ानेका विशेष यत्न करै और यत्नपूर्वक सब प्राणियोंको अन्न दान करै ॥ ३३३ ॥ वेदज्ञ ब्राह्मणोंकी और यशस्वी गृहस्थियोंकी सेवा करनाही शूद्रका परम कल्याणकारी धर्म है ॥ ३३४ ॥

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ३३५ ॥

(देह और मनसे) शुद्ध, अपनी जातिसे ऊंची जातिकी सेवा करनेवाला, मधुरभाषी, अहंकाररहित, और ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंका सेवक ऐसा शूद्रभी (अपनी जातिसे) उत्तम जाति हो जाता है ॥ ३३५ ॥

एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः ।
आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ३३६ ॥

यह चारों वर्णोंके अनापद्वकालकी शुभविधि कही गई, अब इनके आपत्कालके धर्म क्रमसे सुनों ॥ ३३६ ॥

इति—पण्डित रामेश्वरभट्टकृत सरला टीकासहित मनुस्मृतिका
नवम अध्याय समाप्त हुआ—शुभम्.

अथ दशमोऽध्यायः ।

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।
प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥

अपने २ कर्म करते हुए तीनों द्विजाति वेद पढ़ें, परन्तु इनमेंसे ब्राह्मणही इनको वेद पढ़ावै, वैश्य और क्षत्रिय नहीं, यह निश्चय है ॥ १ ॥

सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान्यथाविधि ।
प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥

ब्राह्मण शास्त्रके अनुसार सब वर्णोंके जीविकाके उपायोंको जानकर और स्वयंभी सदा अपने कर्ममें रत रहकर सब वर्णोंको विधिपूर्वक उपदेश करै ॥२॥

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात्।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः॥ ३॥

जातिकी श्रेष्ठतासे, उत्पत्तिस्थानकी श्रेष्ठतासे, वेदके पढ़ने पढ़ानेसे तथा उपनयन संस्कारकी विशेषतासे, ब्राह्मण सब वर्णोंका प्रभु है॥ ३॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥ ४॥

(उपनयन संकारयुक्त होनेसे) ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य ये तीनों वर्ण द्विजाति कहाते हैं, (उपनयन संस्कारहीन चौथा वर्ण) शूद्र एकजाति है; इनके सिवाय पांचवां वर्ण नहीं है॥ ४॥

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते॥ ५॥

चारों वर्णोंमें विवाहिता, सवर्णा, अक्षतयोनि स्त्रियोंमें जो ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें, क्षत्रियसे क्षत्रियामें, इस क्रमसे पैदा हुए हैं उन्हें मातापिताकी जातिकाही जानना चाहिये॥ ५॥

स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान्।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान्॥ ६॥

मनु आदिने कहा है कि अपनेसे अनन्तर वर्णकी स्त्रियोंमें जो द्विजोंने पुत्र उत्पन्न किये हों (जैसे ब्राह्मणने क्षत्रियामें, क्षत्रियने वैश्यामें) वे पिताके समान (अर्थात् पिताकी जातिसे निकृष्ट) और माताके दोषसे निन्दित होते हैं॥ ६॥

अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः।
द्व्येकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम्॥ ७॥

अनन्तर वर्णकी स्त्रियोंमें उत्पन्न हुए पुत्रोंकी यह सनातन विधि कही; और पतिसे दो एक वर्णके अनन्तरकी स्त्रियोंमें उत्पन्न पुत्रोंकी धर्मानुकूल यह विधि है सो जानना॥ ७॥

ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते।
निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते॥ ८॥

ब्राह्मणसे विवाहिता वैश्या कन्यासे पैदा हुई संतान अंबष्ट, और विवाही शूद्रासे जो उत्पन्न हो वह निषाद वा पारशव कही जाती है॥ ८॥

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान्।
क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते॥ ९॥

क्षत्रियसे शूद्राके गर्भमें उत्पन्न संतान का उग्रनाम होता है, वह संतान क्षत्रियशूद्र (पितामाता) के स्वभावयुक्त, क्रूर चेष्टावाली और क्रूर कर्मकारिणी होती है॥ ९॥

विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः।
वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्षडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥

ब्राह्मणके द्वारा क्षत्रिया आदि तीनों वर्णोंकी स्त्रियोंसे पैदा हुए, क्षत्रियके वैश्या आदि दो वर्णकी स्त्रियोंसे, और वैश्यके द्वारा एक वर्णकी शूद्रामें उत्पन्न हुए–ये छः प्रकारके पुत्र (सवर्ण पुत्रसे) अधम है ॥ १० ॥

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ ११ ॥

(अनुलोमसे पैदा हुए पुत्रोंको कहकर अब प्रतिलोमसे पैदा हुए पुत्रोंको कहते हैं) क्षत्री द्वारा ब्राह्मणीसे उत्पन्न हुए पुत्रको "सूत," वैश्यके द्वारा क्षत्रियासे उत्पन्नको "मागध," और वैश्यसे ब्राह्मणीमें उत्पन्नको "विदेह" कहते है ॥ ११ ॥

शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम्।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १२ ॥

शूद्रके द्वारा वैश्यासे उत्पन्न संतानको "आयोगव," शूद्रसे क्षत्रियामें उत्पन्न संतानको "क्षत्ता," और शूद्रसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न संतानको मनुष्योंमें नीच "चांडाल" कहते हैं ये शूद्रसे उत्पन्न होनेके कारण तीनों वर्णसंकर होते है ॥ १२ ॥

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ।
क्षत्तृवैदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥ १३ ॥

अनुलोमक्रमसे एक वर्णके व्यवधानमें पैदा हुए "अंबष्ठ" और "उग्र" जैसे स्पर्शके योग्य कहे हैं इसी प्रकार प्रतिलोम विधिसे पैदा हुई क्षत्ता और वैदेह जाति भी स्पर्श योग्य कही गई हैं ॥ १३ ॥

पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम्।
ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

जो पुत्र अनन्तर वर्णकी स्त्रियोंमें क्रमसे उत्पन्न हुए द्विजातियोंके कहे हैं उनको माताके दोपसे जिस अनन्तर वर्णकी स्त्रियोंमें पैदा हुए हों उन स्त्रियोंकी ही जातिवाले कहते हैं (यद्यपि ये मातापिताकी जातिसे भिन्न संकीर्ण जातिके होते हैं तो भी इनको माताकी जातिवाले इसलिये कहा है कि उनके संस्कार माताकी जातिकेही अनुसार होते हैं) ॥ १४ ॥

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते।
आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः ॥ १५ ॥

ब्राह्मणके द्वारा उग्र कन्याके गर्भसे उत्पन्न पुत्र "आवृत," ब्राह्मणसे अंबष्ठ कन्याके गर्भमें पैदा हुआ पुत्र "आभीर," और ब्राह्मणसे आयोगवी कन्याके गर्भमें उत्पन्न पुत्र "धिग्वण" होता है ॥ १५ ॥

आयोगवश्च क्षत्ता च चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।
प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥ १६ ॥

शूद्रके द्वारा (वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणोंकी कन्याओंमें) प्रतिलोम विधिसे आयोगव, क्षत्ता, और मनुष्योंमें नीच चाण्डाल ये तीनों नीच शूद्र होते हैं ॥ १६ ॥

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूत एव तु ।
प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥ १७ ॥

वैश्यके द्वारा प्रतिलोम विधिसे उत्पन्न "मागध" और "वैदेह" होते हैं (अर्थात् वैश्यसे क्षत्रीकी कन्यामें उत्पन्न "मागध" और वैश्यसे ब्राह्मणीमें पैदा हुआ "वैदेह" होता है) तथा प्रतिलोम क्रमसे क्षत्रीके द्वारा ब्राह्मणीमें उत्पन्न "सूत" होता है, ये तीनों नीच होते हैं (अर्थात् इनको पुत्रके कार्य्य करनेका अधिकार नहीं है) ॥ १७ ॥

जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः ।
शूद्राज्जातो निषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥ १८ ॥

निषादके द्वारा शूद्रकन्यामें उत्पन्न हुआ पुत्र जातिका "पुक्कस" और शूद्रके द्वारा निषाद कन्यामें उत्पन्न पुत्र "कुक्कुट" कहा गया है ॥ १८ ॥

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते ।
वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यामुत्पन्नो वेण उच्यते ॥ १९ ॥

क्षत्ताके द्वारा उग्र कन्यामें उत्पन्न हुआ पुत्र "श्वपाक" कहा गया है और विदेहके द्वारा अंवष्ठ कन्यामें उत्पन्न पुत्रको "वेण" कहते हैं ॥ १९ ॥

द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् ।
तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान्व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

तीनों द्विजाति अपने २ वर्णकी स्त्रियोंमें जिन पुत्रोंको पैदा करते हैं यदि वे यज्ञोपवीत संस्कारसे हीन और गायत्रीसे रहित हों तो उन पुत्रोंको "व्रात्य" कहते हैं ॥ २० ॥

व्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः ।
आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥ २१ ॥

व्रात्य ब्राह्मणकी सवर्णा स्त्रीमें उत्पन्न पुत्र पापी "भूर्जकंटक" होता है । देशभेदसे इसके चार नाम और हैं जैसे आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध और शैख ॥ २१ ॥

झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छिविरेव च ।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥ २२ ॥

व्रात्य क्षत्रियद्वारा सवर्णा स्त्रीसे उत्पन्न पुत्रके देशभेदसे सात नाम होते हैं जैसे—झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस और द्रविड ॥ २२ ॥

वैश्यात्तु जायते व्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च ।
कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च ॥ २३ ॥

व्रात्य वैश्यकी सवर्णा स्त्रीसे उत्पन्न पुत्रके ये नाम हैं—सुधन्वाचार्य, कारुष, विजन्मा, मैत्र और सात्वत ॥ २३ ॥

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ २४ ॥

स्त्रीगमन, अपने गोत्रमें विवाह और अपने कर्म्मोंका त्याग इनके करनेसे ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंमें वर्णसंकर होते हैं ॥ २४ ॥

संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः ।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २५ ॥

अन्योन्य स्त्रीगमनसे और अनुलोम प्रतिलोमसे जो संकीर्ण वर्ण पैदा होते हैं उन सबको मैं कहता हूं ॥ २५ ॥

सूतो वैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः ।
मागधः क्षत्तृजातिश्च तथाऽऽयोगव एव च ॥ २६ ॥

सूत, वैदेह, मनुष्योंमें अधम चाण्डाल, मागध, क्षत्ता जाति और आयोगव, ये वर्णसंकर हैं ॥ २६ ॥

एते षट् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु ।
मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥

ये छः वर्णसंकर, निजजाति, मातृजाति और अपनेसे श्रेष्ठ जातिकी कन्याओंमें भी अपनेही वर्णके पुत्र उत्पन्न करते हैं ॥ २७ ॥

यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्मास्य जायते ।
आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात् ॥ २८ ॥

जैसे क्षत्री, वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णोंमेंसे क्षत्रिया और वैश्या पत्नियोंमें ब्राह्मणके द्वारा उत्पन्न संतान और ब्राह्मणकी सवर्णा स्त्रीसे उत्पन्न संतान द्विज कहाती है वैसेही इतर जातिमें वैश्यके द्वारा क्षत्रिया स्त्रीमें पैदा हुई संतान और क्षत्रियके द्वारा ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न हुई संतान, शूद्रकी प्रतिलोम संतानसे कुछ श्रेष्ठ है ॥ २८ ॥

ते चापि बाह्यान्सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान् ।
परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ २९ ॥

आयोगव आदि छः तरहके वर्णसंकर अनुलोम विधिसे परस्पर स्वजातीय स्त्रियोंमें जो पुत्र उत्पन्न करते हैं वे पितामातासे भी अधिक दूषित, निन्दित और सत्क्रियासे बाहिर होते हैं ॥ २९ ॥

यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते ।
तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

जैसे शूद्र ब्राह्मणीमें नीच चांडाल प्राणीको पैदा करता है इसी प्रकार नीच चांडालभी चारों वर्णोंकी स्त्रियोंमें अपनेसेभी नीच प्राणीको उत्पन्न करता है ॥३०॥

प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्याबाह्यतरान्पुनः ।
हीना हीनान्प्रसूयन्ते वर्णान्पञ्चदशैव तु ॥ ३१ ॥

आयोगव आदि छः प्रकारके हीन जातिवाले नीच, प्रतिलोम विधिसे चारों वर्णोंकी और अपनी जातिकी स्त्रियोंमें पन्द्रह प्रकारके अपनेसे भी नीच पुत्रोंको उत्पन्न करते हैं ॥ ३१ ॥

प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् ।
सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

दस्यु जातिके द्वारा आयोगव स्त्रीसे जो संतान उत्पन्न होती है उसे "सैरिन्ध्र" कहते हैं; यह जाति केश आदिके प्रसाधनमें चतुर होती है, दास न होकर दास कर्मसे तथा पाशसे हरिण आदि मारकर जीविका करती है ॥ ३२ ॥

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते ।
नॄन्प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये ॥ ३३ ॥

वैदेह जातिके द्वारा आयोगव स्त्रीमें जो संतान जन्मती है उसे मैत्रेय कहते हैं; यह मीठा बोलनेवाली है और नित्य प्रातःकाल घंटा बजाकर राजा आदिकी स्तुति करती है ॥ ३३ ॥

निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम् ।
कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥

निषादके द्वारा आयोगव स्त्रीमें जन्मी हुई संतानको "मार्गव" वा "दास" कहते हैं; वह नाव चलाकर जीविका करती है और आर्यावर्तके निवासी इसे "कैवर्त" कहते हैं ॥ ३४ ॥

मृतवस्त्रभृत्सु नारीषु गर्हितान्नाशनासु च ।
भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥ ३५ ॥

आयोगवी स्त्रियोंके गर्भसे मुर्देका वस्त्र पहिरनेवाली तथा जूठन खानेवाली सैरिन्ध्र, मैत्रेय और मार्गव ये तीन हीन जातियां पिताके भेदसे उत्पन्न होती हैं ॥ ३५ ॥

कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते ।
वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥ ३६ ॥

निषादके द्वारा वैदेही स्त्रीमें "कारावर" नामकी चमार जाति उत्पन्न होती है; और वैदेह जातिके द्वारा कारावरी और निषादी स्त्रियोंमें अंध्र और मेद जाति उत्पन्न होती है; ये दोनों गांवके बाहर रहती हैं ॥ ३६ ॥

चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् ।
आहिण्डिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७ ॥

चांडालके द्वारा वैदेही स्त्रीमें बाँसोंके व्यवहारसे जीविका निभानेवाली पांडु सोपाक जाति, और निषादके द्वारा वैदेही स्त्रीमें आहिंडक जाति पैदा होती है ॥ ३७ ॥

चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान् ।
पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥ ३८ ॥

चांडालके द्वारा पुक्कसी स्त्रीमें सोपाक जाति जन्मती है और (राजाकी आज्ञासे) सज्जनोंसे निन्दित और अत्यन्त पापजनक अपराधियोंको मारने-का काम इस जातिकी जीविका है ॥ ३८ ॥

निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् ।
श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ३९ ॥

चांडालके द्वारा निषादी स्त्रीके गर्भसे अन्त्यावसायी जाति पैदा होती है । श्मशानकार्यकी इसकी जीविका है और यह सब निकृष्ट जातियोंसे भी निकृष्ट है ॥ ३९ ॥

संकरे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः ।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ ४० ॥

वर्णसंकरोंमें पिता और माताओंसे दिखाई हुई इन जातियोंको इनके गुप्त वा प्रकट कार्य्योंसे जानलेना चाहिये ॥ ४० ॥

सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः ।
शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥

तीनों द्विजातियोंमें सजातीय स्त्रियोंमें उत्पन्न हुए और अनन्तर वर्णकी स्त्रियोंमें अर्थात् अनुलोम विधिसे ब्राह्मणद्वारा क्षत्रिया और वैश्यामें दो और क्षत्रियसे वैश्यामें एक यों छः प्रकारके पुत्रोंका उपनयन संस्कार होता है और जो पुत्र प्रतिलोम विधिसे उत्पन्न होते हैं (सूत आदि) वे सब शूद्रके समान धर्मवाले होते हैं (इसलिये उनका उपनयन नहीं होता) ॥ ४१ ॥

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ४२ ॥

उक्त छः प्रकारके पुत्र युग २ में तप और वीर्य्यके प्रभावसे जन्मकी अपेक्षा मनुष्योंमें उत्तम और नीच होजाते हैं (जैसे तपके प्रभावसे विश्वामित्र क्षत्रीसे ब्राह्मण होगए) ॥ ४२ ॥

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥

ये क्षत्रिय जातियां (उपनयन आदि) कर्मोंके लोप होनेसे और (याजन

अध्यापन प्रायश्चित्तादि बतानेके लिये) ब्राह्मणोंको न देखनेसे धीरे २ शूद्र होगईं ॥ ४३ ॥

पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदापह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ ४४ ॥

पौंड्रक, ओड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खस इन देशोंके निवासी क्रियाके लोप होनेसे धीरे २ शूद्र होगए ॥ ४४ ॥

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ ४५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंके लोग जो संसारमें बाह्य कहे जाते हैं चाहैं आर्य्य भाषा बोलें चाहे म्लेच्छ भाषा बोलें दस्यु कहाते हैं ॥ ४५ ॥

ये द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाः स्मृताः।
ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥ ४६ ॥

जो द्विजातियोंमें नीच हैं और जो अपध्वंससे पैदा हुये हैं वे द्विजातिके (उपकारक) निन्दित कर्मोंसे (जो आगे कहेंगे) अपनी २ जीविका करें ॥ ४६ ॥

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम्।
वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ॥ ४७ ॥

सूतोंका कर्म रथ जोतना, अश्व साधन आदि, अंबष्ठोंका कर्म चिकित्सा करना, वैदेहिकोंका कर्म रनवासकी रक्षा करना, और मागधोंका कर्म वाणिज्य है ॥ ४७ ॥

मत्स्यघातो निषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च।
मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥ ४८ ॥

निषादोंका कर्म मछली मारना, आयोगवोंका काठ चीरना, और मेद, चंचु, अंध्र और मद्गु इनोंका कर्म वनके पशुओंकी हिंसा है ॥ ४८ ॥

क्षत्त्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम्।
धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम् ॥ ४९ ॥

क्षत्र, उग्र, पुक्कस इनका कर्म बिलेमें रहनेवाले जानवरोंको मारना और बांधना है, धिग्वर्णोंका कर्म चर्म बेचना, और वेणोंका कर्म कांस्य (कांसीका घंटा आदि) मुरज आदि बाजे बजाना है ॥ ४९ ॥

चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च।
वसेयुरेते विज्ञाना वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

ये सव, अपने २ कर्मोंसे आजीविका करके प्रसिद्ध, वृक्षकी जड़में, पर्वतपर, श्मशान और उपवनमें रहते हैं ॥ ५० ॥

चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः।
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥ ५१ ॥
वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम्।
कार्ष्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥ ५२ ॥

चाण्डालों और श्वपचोंका निवास गांवके वाहर होना चाहिये। ये पात्र रहित हों तथा कुत्ते और गधे इनका माल हो, और ये मुर्देका कफन पहिरें, फूटे वर्तनोंमें खाँय, लोहेके आभूषण पहिरें और सदा घूमते रहैं यह इनका कार्य्य है ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन्।
व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥ ५३ ॥

धर्मात्मा मनुष्य उनके साथ वातचीत न करै, उनका लेनदेन और विवाह सजातीयोंके साथही होता है ॥ ५३ ॥

अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने।
रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥

इनका अन्न दूसरोंके आधीन होता है और वह टूटे फूटे पात्रमें दिया जाता है, और ये गांवमें वा नगरमें रात्रिके समय न विचरैं ॥ ५४ ॥

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः।
अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥

राजाकी आज्ञासे (चपरास) चिन्ह धारण कर कार्य्यसाधनके लिये ये दिनमें इधर उधर घूमें और अनाथ मुर्देको श्मशानपर ले जांय यह शास्त्रकी मर्य्यादा है ॥ ५५ ॥

वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया।
वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ ५६ ॥

शास्त्रके अनुसार राजाकी आज्ञासे वध्य मनुष्योंको (शूलीपर चढ़ा कर) निरंतर मारें और वध्य पुरुषोंके वस्त्र, शय्या और आभूषण ले लें ॥ ५६ ॥

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम्।
आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥

वर्णसे पतित, अप्रसिद्ध, संकर जातिमें उत्पन्न, देखनेमें सज्जन और यथार्थमें असज्जन ऐसे पुरुषको उसके कार्य्योंको देखकर पहिचानें ॥ ५७ ॥

अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५८ ॥

असज्जनता, निष्ठुरता, क्रूरता और विहित कर्म न करना ये बातें लोकमें संकीर्ण जातिके मनुष्यको प्रकट कर देती हैं ॥ ५८ ॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा।
न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ॥ ५९ ॥

पूर्वोक्त दुष्ट योनिमें उत्पन्न हुआ मनुष्य पिताके, वा माताके, वा दोनोंके स्वभावका होता है और यह अपने बुरे स्वभावको कभी नहीं छिपा सक्ता ॥ ५९ ॥

कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसंकरः।
संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु ॥ ६० ॥

उत्तम कुलमें जन्मनेमें भी यदि योनिसंकर हो जाय तो अवश्य ही वह थोड़ा या बहुत अपने जन्मदाताके स्वभावको प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥

जिस देशमें वर्णोंके दूषित करनेवाले ये वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं वह देश शीघ्रही प्रजासहित नष्ट हो जाता है ॥ ६१ ॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः।
स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥

पुरस्कारकी आशा न करके गौ, ब्राह्मण, स्त्री और बालक इनमेंसे किसीके लियेभी प्राणत्याग करना प्रतिलोमज जातिवालोंके लिये सिद्धिका कारण होता हैं अर्थात् इससे वे स्वर्गको जाते हैं ॥ ६२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्र रहना और इन्द्रियोंका संयम करना यह चारों वर्णोंका धर्म मनुने संक्षेपसे कहा है ॥ ६३ ॥

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते।
अश्रेयाञ्छ्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥ ६४ ॥

ब्राह्मणके द्वारा शूद्रामें उत्पन्न हुई पारशव कन्या यदि उत्तम स्त्री हो जाय तो वह अनुत्तम पारशवभी सातवें जन्ममें ब्राह्मण जातिका हो जात है ॥ ६४ ॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ६५ ॥

जैसे शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है वैसेही क्षत्री और वैश्यसे उत्पन्न हुए शूद्रभी क्षत्रिय और वैश्य हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया।
ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं केति चेद्भवेत्॥ ६६॥
जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः।
जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः॥ ६७॥

ब्राह्मणके द्वारा (विना विवाही) शूद्रामें उत्पन्न और शूद्रके द्वारा ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुई संतानमेंसे कौनसी श्रेष्ठ है उसका उत्तर यह है कि ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न हुई संतानही गुणयुक्त होनेसे श्रेष्ठ गिनी जाती है, परंतु शूद्रके द्वार ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न हुई संतान निश्चयही नीच होती है यह शास्त्रकी मर्य्यादा है॥ ६६॥ ६७॥

तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः।
वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः॥ ६८॥

शास्त्रकी व्यवस्थाके अनुसार (पारशव वा चांडाल) इन दोनोंमेंसे कोईभी यज्ञोपवीत संस्कारके योग्य नहीं क्योंकि पहिला तो निन्दित क्षेत्रमें पैदा हुआ और दूसरा प्रतिलोमज है (अर्थात् शूद्रसे ब्राह्मणीमें पैदा होनेसे संस्कार के योग्य नहीं)॥ ६८॥

सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा।
तथार्याज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति॥ ६९॥

उत्तम बीज उत्तम खेतमें बोनेसे जैसे बहुत वृद्धिको प्राप्त होता है उसी भांति द्विजातियोंके द्वारा द्विजाति स्त्रियोंमें पैदा हुई संतान सब संस्कारोंके योग्य होती है॥ ६९॥

बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः।
बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः॥ ७०॥

पण्डितोंमें कोई बीजकी, कोई क्षेत्रकी और कोई क्षेत्र तथा बीज दोनोंकी ही प्रशंसा करते हैं इस संदेहमें आगेकी व्यवस्था है॥ ७०॥

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति।
अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत्॥ ७१॥

ऊसर भूमिमें बोया हुआ बीज अंकुरित होनेसे पहिलेही नष्ट हो जाता है और बिना बीज बोए उर्वरा भूमिभी निष्फल हो जाती है॥ ७१॥

यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्।
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते॥ ७२॥

केवल बीजकेही प्रभावसे तिर्य्यक् योनिमें उत्पन्न होकर भी ऋष्यशृंग आदि नमस्कारके योग्य और पूजित हुए थे इसलिये उत्तम बीजकी पण्डित प्रशंसा करते हैं॥ ७२॥

अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम्।
संप्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥ ७३ ॥

ब्रह्माने यह निश्चय किया है कि द्विजकर्म करनेवाला शूद्र और शूद्रका कर्म करनेवाला द्विज ये दोनों न समान हैं और न असमान हैं, अर्थात् कर्मसे शूद्र द्विज और द्विज शूद्र नहीं हो सक्ता ॥ ७३ ॥

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः।
ते सम्यगुपजीवेयुः षट्कर्माणि यथाक्रमम् ॥ ७४ ॥

जो ब्राह्मण ब्रह्मध्यानमें तत्पर और अपने कर्ममें स्थित हैं उन्हें विधिपूवक अध्यापन आदि षट्कर्मोंसे जीविका करनी चाहिये ॥ ७४ ॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥

पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना ये ब्राह्मणके छः कर्म हैं ॥ ७५ ॥

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥

षट्कर्मोंमेंसे पढ़ाना, यज्ञ कराना और विशुद्ध (द्विजाति) से दान लेना ये तीनों ब्राह्मणकी जीविका कहीं हैं ॥ ७६ ॥

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७ ॥

परंतु ब्राह्मणकी अपेक्षा यज्ञ कराना, पढ़ाना और दान लेना ये तीनों क्षत्रियके लिये वर्जित हैं ॥ ७७ ॥

वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः।
न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥ ७८ ॥

क्षत्रियकी भांति वैश्यको भी ये तीनों कर्म त्याज्य हैं यही शास्त्रकी व्यवस्था है, क्योंकि प्रजापति मनुने क्षत्री और वैश्यके लिये इन कर्मोंको नहीं कहा ॥ ७८ ॥

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ ७९ ॥

क्षत्रीकी आजीविकाके लिये शस्त्र अस्त्र धारण करना, वैश्यकी आजीविकाके लिये पशुपालन, कृषि और वाणिज्य करना है और दान, यज्ञ तथा पढ़ना दोनोंका धर्म है ॥ ७९ ॥

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्।
वार्ता कर्मेव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ८० ॥

अपने २ कर्मोंमें, ब्राह्मणको वेदका अभ्यास, क्षत्रीको प्रजापालन और वैश्यको वाणिज्य ये कर्म श्रेष्ठ हैं ॥ ८० ॥

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ ८१ ॥

यदि ब्राह्मण निज जीविकासे जीवन निर्वाह करनेमें असमर्थ हो तो क्षत्रियकी वृत्तिसे जीविका करै क्योंकि यह उसके पासका वर्ण है ॥ ८१ ॥

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥ ८२ ॥
वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥ ८३ ॥

अपनी वृत्ति और क्षत्रियकी वृत्तिसेभी ब्राह्मणको जीविका करना कठिन हो तो खेती, गोरक्षा वाणिज्य आदि वैश्यकी जीविकासे निर्वाह करै ॥ ८२ ॥ जो ब्राह्मण वा क्षत्री वैश्यवृत्तिसे आजीविका चाहै तो हिंसायुक्त और दूसरोंके आधीन कृषि कार्यको यत्नपूर्वक छोड़ दे ॥ ८३ ॥

कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्भिर्गर्हिता।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥ ८४ ॥

कोई कृषिकी प्रशंसा करते हैं तथापि सज्जनोंने उसे निन्दित कही है, क्योंकि लोहमुखवाला हल भूमि और भूमिमें सोनेवाले जीवोंको नष्ट कर देता है ॥ ८४ ॥

इदं तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो धर्मनैपुणम्।
विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥

ब्राह्मण, क्षत्री, अपनी आजीविकाके भ्रष्ट होनेपर अपनी धर्मनिष्ठाको छोड़ दे और (आगे कही) निषिद्ध वस्तुओंको छोड़ कर वैश्यके बेचनेके योग्य धन बढ़ानेवाली वस्तुओंको बेच कर अपनी आजीविका करै ॥ ८५ ॥

सर्वान्रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह।
अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः ॥ ८६ ॥

सब रस, तिल, पक्वान्न, पाषाण, लवण और मनुष्योंके उपकारी पशु इन सबका बेचना त्याग दे ॥ ८६ ॥

सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च।
अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥

रँगे हुए सब भांतिके वस्त्र, सन, रेशम, तथा ऊनके रँगे या विना रँगे कपड़े तथा फल, मूल और औषध इनका बेचनाभी त्याग दे ॥ ८७ ॥

अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥

जल, शस्त्र, विष, मांस, सोमरस, सब भांतिकी सुगन्धित वस्तुएं, दूध, मौम, दही, घृत, तेल, शहद, गुड़, और कुश इनका भी बेचना त्याग दे ॥ ८८ ॥

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च।
मद्यं नीलिं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥ ८९ ॥

सब भांतिके जंगली पशु, डाढ़वाले जानवर, पक्षी, नील, मद्य, लाख और एक खुरवाले पशु इनका बेचना भी वर्ज दे ॥ ८९ ॥

काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः।
विक्रीणीत तिलाञ्छूद्रान्धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥ ९० ॥

किसान, अपनी खेतीमें स्वयं तिलोंको किसी अन्नके साथ अच्छी भांति उत्पन्न करके धर्म (होम आदि) के लिये बहुत शीघ्र बेच दे (ब्राह्मण क्षत्रीभी खेती करने लगे हों तो उनको भी धर्मके लिये तिल बेचना दूषित नहीं है) ॥ ९० ॥

भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः।
कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥ ९१ ॥

भोजन, उबटन, और दानके सिवाय यदि कोई तिलोंका अन्य रीतिसे व्यवहार करै, तो वह कीड़ा होकर अपने पितरोंसहित कुत्तोंकी विष्ठामें डूबता है ॥ ९१ ॥

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥

ब्राह्मण, मांस, नमक और लाख बेचनेसे तुरंत पतित होता है और तीन दिन दूध बेचनेसे शूद्र हो जाता है ॥ ९२ ॥

इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः।
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥ ९३ ॥

इच्छापूर्वक मांस आदिके सिवाय अन्य निषिद्ध वस्तुओंके सात दिनतक बेचनेसे ब्राह्मण वैश्य हो जाता है ॥ ९३ ॥

रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः।
कृतान्नं चाकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥ ९४ ॥

गुड़ आदि रसोंके दूसरे भांतिके (घृत आदि) रस बदले जा सके हैं परंतु तिलोंका रसोंके साथ पलटा नहीं होता। पक्वान्नके बदले कच्चा अन्न बदला जा सक्ता है और तिल धान्यसे बदले जासक्ते है परंतु तोलमें उतनेही होने चाहियें ॥ ९४ ॥

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥ ९५ ॥

आपत्तिको प्राप्त हुआ क्षत्रियभी इस पूर्वोक्त संपूर्ण निषिद्ध भी रस आदिके विक्रयसे जीविका करै परंतु ब्राह्मणकी जीविकाकी अभिलाषा कभी भी न करै ॥ ९५ ॥

यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥ ९६ ॥

यदि नीच जाति लोभसे ऊंची जातिकी वृत्तिका अवलंबन करके जीविका करै तो राजा उसे निर्धन करके तुरंत देशसे निकाल दे ॥ ९६ ॥

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन्हि सद्यः पतति जातितः ॥ ९७ ॥

अपना धर्म निकृष्ट होनेपर भी अच्छा है और पराया धर्म उत्तम भी बुरा है, क्योंकि पराये धर्मसे जीता हुआ मनुष्य तुरंत अपनी जातिसे पतित हो जाता है ॥ ९७ ॥

वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् ।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥ ९८ ॥

वैश्य निजधर्मसे जीविका करनेमें असमर्थ हो तो निषिद्ध कर्मोंको छोड़ कर शूद्रवृत्तिसे जीविका करै, परंतु समर्थ होनेपर शूद्रवृत्ति छोड़ दे ॥ ९८ ॥

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥ ९९ ॥

जो शूद्र द्विजातियोंकी सेवा करनेमें असमर्थ हो और जिसके स्त्रीपुत्र क्षुधासे पीड़ित हों वह कारीगरीसे जीविका करै ॥ ९९ ॥

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च ॥ १०० ॥

जिन कार्योंके करनेसे द्विजोंकी सेवा होती है ऐसे अनेक प्रकारके शिल्प और कारीगरीके कर्म शूद्र करै ॥ १०० ॥

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः ।
अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥

निजमार्गमें स्थित ब्राह्मण जीविकाके अभावसे पीड़ित और दुखी होकर यदि वैश्यवृत्तिका अवलंबन करै तो उसे (आगे कहा) यह धर्म करना चाहिये ॥ १०१ ॥

सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥

विपद्ग्रस्त ब्राह्मण सबसे प्रतिग्रह ले, क्योंकि जो स्वयं पवित्र है उसका अपवित्र वस्तुसे दूषित होना धर्मपूर्वक सिद्ध नहीं हो सक्ता ॥ १०२ ॥

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥ १०३ ॥

ब्राह्मण जल और अग्निकी भांति पवित्र है इसलिये आपत्कालमें निन्दितको यज्ञ कराने, पढ़ाने और उससे दान लेनेसे उसे दोष नहीं होता ॥ १०३ ॥

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥ १०४ ॥

ब्राह्मण, प्राणसंकटमें यदि इधर उधर नीचका भी अन्न भक्षण करले तो भी वह इस प्रकार पापसे लिप्त नहीं होता जैसे कीचसे आकाश ॥ १०४ ॥

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः ।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥

भूखा अजीगर्त ऋषि अपने पुत्र शुनःशेफके मारनेके लिये तैयार हुआ तो भी क्षुधाका उपाय करनेके कारण वह पापसे लिप्त नहीं हुआ ॥ १०५ ॥

श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः ।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

धर्म अधर्म जाननेवाले, क्षुधासे पीड़ित, वामदेव ऋषिने प्राण रक्षाके लिये कुत्तेका मांस खाना चाहा तो भी वह पापसे लिप्त नहीं हुए ॥ १०६ ॥

भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने ।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥ १०७ ॥

महातपस्वी भारद्वाज मुनिने पुत्रोंसहित क्षुधासे पीड़ित होकर निर्जन वनमें वृधु बढ़ईसे बहुतसी गौएं लीं ॥ १०७ ॥

क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥

धर्म अधर्मके ज्ञाता विश्वामित्र मुनि भूखे होनेपर, चाण्डालके हाथसे कुत्ते-की जंघाका मांस खानेको तयार हुये ॥ १०८ ॥

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि ।
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ १०९ ॥

ब्राह्मणके निन्दित अध्यापन, याजन और दान इनमेंसे प्रतिग्रह ही बहुत निकृष्ट है, क्योंकि यह परलोकमें नरकका कारण है (इसलिये जो अध्यापन और यज्ञ करानेसे कुछ भी न मिले तो दान ले) ॥ १०९ ॥

याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् ।
प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।
प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥ १११ ॥

यज्ञ कराना और वेद पढ़ाना ये दोनों तो सदा (अर्थात् आपत्तिके विना और आपत्तिमें) उनके ही किये जाते हैं जिनका उपनयन संस्कार होता है, और प्रतिग्रह तो निकृष्ट जाति शूद्रसे भी लिया जाता है (इसलिये यह उन दोनोंसे निन्दित है) ॥ ११० ॥ निषिद्ध याजन और अध्यापनका पाप, जप और होमसे नष्ट हो जाता है और प्रतिग्रहका पाप तो प्रतिग्रह लिये द्रव्यके त्यागसे और (आगे कहे) तपसे दूर होता है ॥ १११ ॥

शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः ।
प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥ ११२ ॥

अपनी वृत्तिसे जीविका न चल सके तो ब्राह्मण चाहे जहांसे शिलोञ्छ लेले क्योंकि निषिद्ध प्रतिग्रहसे शिल[1] श्रेष्ठ है और शिलसे उञ्छ[2] श्रेष्ठ है ॥ ११२ ॥

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धने वा पृथिवीपतिः ।
याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥ ११३ ॥

दुखी स्नातक ब्राह्मणोंको यदि धान्य वस्त्र आदिकी वा धनकी इच्छा हो तो क्षत्रीसे मांगे और वह न देना चाहे तो उसे त्याग दे अर्थात् उससे न मांगे ॥ ११३ ॥

अकृतं च कृतात्क्षेत्राद्गौरजाविकमेव च ।
हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥

जोती हुई भूमिकी अपेक्षा विना जोती भूमि, गौ, बकरी, भेड़, सुवर्ण, धान्य और अन्न (सरसों आदि) इनमेंसे पहिले २ का प्रतिग्रह अदूषित है अर्थात् पहिलेका दान न मिले तो दूसरेका ले (विना जोता हुआ खेत न मिले तो गौ ले, गौ न मिले तो बकरी ले इत्यादि) ॥ ११४ ॥

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५ ॥

दाय (वंशका धन) लाभ (मित्रादिसे मिला धन) क्रय (मोल लेना) जय (जो विजयसे मिले) प्रयोग (व्याज आदि) और कर्मयोग (खेती वाणिज्य आदि) ये सात धनकी प्राप्तिके उपाय धर्मके अनुकूल होते हैं ॥ ११५ ॥

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥ ११६ ॥

विद्या, शिल्पकार्य्य, वेतन, सेवा, गौरक्षा, वाणिज्य, खेती, संतोष भिक्षा और व्याजके लिये धन लगाना ये दस जीविकाके हेतु हैं ॥ ११६ ॥

---

१ खेतमेंसे एक २ अन्नकी बाल बीनकर लानेको शिल कहते हैं.

२ खेतमेंसे अन्नके एक २ दानेको बीनकर लानेको उञ्छ कहते हैं.

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत्।
कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम्॥ ११७॥

ब्राह्मण व क्षत्रियको व्याज लेकर रुपया उधार न देना चाहिये, परंतु धर्मकार्य्यके लिये थोड़े व्याजपर निकृष्ट कर्म करनेवालेकोभी वह ऋण दे सक्ता है॥ ११७॥

चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि।
प्रजा रक्षन्परं शक्त्या किल्बिषात्प्रतिमुच्यते॥ ११८॥

जो राजा सामर्थ्यके अनुसार प्रजाकी रक्षा करता हुआ आपत्कालमें (आठवें हिस्सेके बदले) चौथा हिस्सा भी कर लेता है वह पापसें लिप्त नहीं होता॥ ११८॥

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः।
शस्त्रेण वैश्यान्रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्बलिम्॥ ११९॥

विजय करना राजाका धर्म है, राजा कदापि युद्धसे पीछे न हटे और शस्त्रोंसे सदा वैश्योंकी रक्षा करता हुआ राजा धर्मपूर्वक कर ले॥ ११९॥

धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणावरम्।
कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा॥ १२०॥

आपत्कालमें राजाको वैश्योंसे धान्यका आठवां भाग और सुवर्णादिका बीसवां भाग कर लेना चाहिये और शूद्र कारीगर, शिल्पी आदिसे अपना कार्य करालेना चाहिये॥ १२०॥

शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि।
धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत्॥ १२१॥

ब्राह्मणकी सेवासे यदि शूद्रकी जीविका न चले तो क्षत्रियकी सेवा करै, और वह भी न मिले तो शूद्र धनी वैश्यकी सेवा करके जिये॥ १२१॥

स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता॥ १२२॥
विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते।
यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम्॥ १२३॥

स्वर्गके लिये अथवा स्वर्ग और अपनी जीविका दोनोंके लिये शूद्र ब्राह्मणकी सेवा करै। शूद्र ब्राह्मणोंकी आराधनाके लिये ही उत्पन्न हुआ है इसलिये वह ब्राह्मणोंकी सेवासे ही कृतार्थ होता है॥ १२२॥ शूद्रके लिये ब्राह्मणोंकी सेवा ही श्रेष्ठ कार्य है यह शास्त्रकार विद्वानोंने कहा है, और इसके सिवा जो कुछ वह और करता है सो उसका निष्फल है॥ १२३॥

प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः।
शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम्॥ १२४॥

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च।
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥ १२५ ॥
न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥ १२६ ॥
धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।
मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥

ब्राह्मणोंको चाहिये कि शूद्रकी सेवाकी सामर्थ्य, कार्य्यमें उत्साह और नोकरोंके स्त्रीपुत्रादिका प्रमाण देखकर अपने घरसे उसकी आजीविका नियत कर दें ॥ १२४ ॥ (जो अपनी सेवा करै उस) शूद्रको जूठा अन्न, पुराना वस्त्र, निकृष्ट धान्य और घरकी निकृष्ट सामग्री दे देनी चाहिये ॥ १२५ ॥ लशुन आदि बुरी वस्तुओंके खानेसे शूद्रको पाप नहीं है। वह उपनयन संस्कारके योग्य नहीं और अग्निहोत्र आदि यज्ञोंमें उसका अधिकार नहीं, और पाकयज्ञ आदि धर्मकार्योंका उसे निषेध भी नहीं है, वह भले ही करै ॥ १२६ ॥ धर्मज्ञ और धर्मके अभिलाषी तथा सत्पुरुषों कैसे आचरण करनेवाले शूद्र पंचमहायज्ञोंको मंत्ररहित करनेसे निन्दनीय नहीं होते, बरन उनकी प्रशंसा होती है ॥ १२७ ॥

यथायथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
तथातथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ १२८ ॥
शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥ १२९ ॥

पराई निन्दा न करनेवाला शूद्र जिस प्रकार द्विजातियोंकी सेवा करता है उसी भांति अनिन्दित होकर इसलोक और परलोकमें सुख पाता है ॥ १२८ ॥ समर्थ होनेपर भी शूद्रको धनसंचय करना उचित नहीं है क्यों कि शूद्र धन पाकर ब्राह्मणोंको ही पीड़ा देता है ॥ १२९ ॥

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः।
यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥ १३० ॥

ये चारों वर्गोंके आपत्कालके धर्म कहे, उनको भले प्रकारसे करके लोग परम गतिको पाते हैं ॥ १३० ॥

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः।
अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥ १३१ ॥

चारों वर्णोंकी यह संपूर्ण धर्मविधि मैंने विस्तारपूर्वक कही; अब प्रायश्चित्तकी उत्तम विधिको कहूंगा ॥ १३१ ॥ इति

पं. रामेश्वरभट्टकृत सरलाटीकासहित मनुस्मृतिका दशवां
अध्याय समाप्त हुआ-शुभम् ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ।

सांतानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् ।
गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनः ॥ १ ॥
नवैतान्स्नातकान्विद्याद्ब्राह्मणान्धर्मभिक्षुकान् ।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥

विवाहका अभिलाषी, ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करनेका अभिलाषी, मार्गमें जानेवाला, सर्वस्व देकर विश्वजित् यज्ञका कर्ता, विद्यागुरुके भोजन वस्त्रादिके लिये चाहनेवाला, माता वा पिताके लिये याचना करनेवाला, वेदपाठी और रोगी इन नौ स्नातकब्राह्मणोंको धर्मभिक्षुक जाने, और इन निर्धनोंको विद्याके अनुसार दान दे ॥ १ ॥ २ ॥

एतेभ्यो हि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् ।
इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥ ३ ॥

इन पूर्वोक्त श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको वेदीके भीतर बुलाकर दक्षिणासहित सिद्धान्नको दे, और इनके सिवा अन्य ब्राह्मणोंको वेदीके बाहर सिद्धान्न देना कहा है ॥ ३ ॥

सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥

राजा यज्ञके लिये संपूर्ण रत्न और दक्षिणाके लिये धन वेदके ज्ञाता ब्राह्मणोंको यथायोग्य दे ॥ ४ ॥

कृतदारोऽपरान्दारान्भिक्षित्वा योऽधिगच्छति ।
रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु संततिः ॥ ५ ॥

जो एकवार विवाह हो चुकनेपर द्रव्य मांगकर दूसरी स्त्रियोंसे विवाह करता है उसे रतिमात्र ही फल होता है, संतति तो धन देनेवालेकी होती है ॥ ५ ॥

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥

जो मनुष्य वेदपाठी और पुत्र, स्त्री आदिसे युक्त ब्राह्मणोंको यथाशक्ति धन देता है वह मरनेके पीछे स्वर्ग भोगता है ॥ ६ ॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ७ ॥

जिस मनुष्यके यहां तीन वर्षके लिये अथवा तीन वर्षसे अधिकके लिये भोजनकी सामग्री, सेवक और अपने कुटुंबके लिये पूरी हो वह सोमयज्ञ करनेके योग्य होता है ॥ ७ ॥

अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः।
स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

जो द्विज तीन वर्षके व्ययके योग्य धनसे थोड़ा धन होनेपर भी सोमयज्ञ करता है उसका पहिले किया हुआ सोम यज्ञ भी सुफल नहीं होता, (फिर दूसरा कैसे होगा) ॥ ८ ॥

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि।
मध्वापातो विषास्वादः सधर्मप्रतिरूपकः ॥ ९ ॥

जो दान देनेमें समर्थ मनुष्य स्वजनोंके दुखित होनेपर भी दूसरोंको दान देता है उसका दान पहिले मीठा और अंतमें विषके समान धर्मका पाखंड है ॥ ९ ॥

भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥
[वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥]

जो पालन करने योग्य स्त्रीपुत्रादिको पीड़ा देकर परलोककी धर्मबुद्धिसे दान आदि करता है उसका दान उसके जीतेजी और मरे पीछे भी दुखदायक होता है ॥ १० ॥

(बूढ़े मा, बाप, पतिव्रता स्त्री और बालक पुत्र इनका, सौ बुरे काम करके भी पालन करना चाहिये। यह मनुका वचन है) ॥

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि ॥ ११ ॥
यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः।
कुटुम्बात्तस्य तद्द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥ १२ ॥

जो यज्ञ करनेवालेका और विशेष करके ब्राह्मणका यज्ञ केवल एक अंगसे पूरा होनेसे रहजाय और राजा धार्मिक हो तो जिस वैश्यके यहां बहुतसे पशु हों और वह यज्ञसे हीन हो और सोमयज्ञ न करता हो तो उसके कुटुंबसे यज्ञको पूर्ण करनेके लिये उस द्रव्यको ले आवै ॥ ११ ॥ १२ ॥

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः।
न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः ॥ १३ ॥

शूद्रके घरसे (यज्ञके) तीन अथवा दो अंगोंको पूर्ण करनेके लिये धनको बलपूर्वक ले आवै क्योंकि शूद्रका यज्ञोंमें कोई संबन्ध नहीं होता ॥ १३ ॥

---

१ "न यज्ञार्थं धनं शूद्राद् विप्रो भिक्षेत" इस वचनके अनुसार जो यज्ञके लिये शूद्रके धनका निषेध है वह निषेध दानका है, बलपूर्वक धन लानेका नहीं है।

योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः ।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥

जो मनुष्य सौ गौ होनेपर अग्निहोत्र न करता हो और जो हजार गौ होनेपर यज्ञ न करता हो इन दोनोंके कुटुंबोंसेभी (यज्ञके) तीन वा दो अंगोंको पूर्ण करनेके लिये विना विचार धन ग्रहण करलावै ॥ १४ ॥

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः ।
तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते ॥ १५ ॥

जिसका धन ग्रहण किया जासक्ता है ऐसा मनुष्य यदि मांगने परभी यज्ञके लिये दान न दे तो उसके यहांसेभी बलपूर्वक यज्ञके दो वा तीन अंगोंको पूर्ण करनेके लिये ग्रहण करलावै; इससे हरण करनेवालेका यश होता है और धर्म बढ़ता है ॥ १५ ॥

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

जिस मनुष्यको छः समयतक भोजन नहीं मिला हो अर्थात् तीन व्रत हो चुके हों वह चौथे दिन सबेरे नीच कर्म करनेवाले मनुष्यसेभी एक दिनके निर्वाहके योग्य धन चोरी आदिसे हर लावै ॥ १६ ॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युपलभ्यते ।
आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥ १७ ॥

खलयानमें, खेतमें, गृहमें और किसी स्थानमें हीनकर्मवालेकाही धान्य मिले तो उसे ले लेना चाहिये, और जो मालिक पूछे कि तूने मेरे मालको क्यों लिया तो उससे कहदे कि भोजनके लिये लिया है ॥ १७ ॥

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन ।
दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन्हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

(पूर्वोक्त कथित कारणोंके होनेपरभी) क्षत्री ब्राह्मणके धनको कभी न ले (इसी प्रकार वैश्य शूद्रभी ब्राह्मण क्षत्रीका धन न ले) जो ब्राह्मण क्षत्री चोर और शास्त्रोक्त कर्मके त्यागी हों तो आपत्तिसमयमें उनके धनको ग्रहण करले ॥ १८ ॥

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति ।
स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ १९ ॥

जो मनुष्य, नीच कर्मकरनेवाले मनुष्योंसे धन लेकर (ऋत्विज् आदि) साधुओंको देता है वह मनुष्य अपनी आत्माको नाव बनाकर उन दोनोंको दुःखसे पार करता है, अर्थात् धनवालेके पापको और जिसे देता है उसके दरिद्रको नाश करता है ॥ १९ ॥

यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः ।
अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २० ॥

यज्ञ करनेवालेका जो धन है उसे पण्डितोंने देवताओंका धन कहा है और जो यज्ञ न करनेवालोंका धन है उसे राक्षसोंका धन कहा है ॥ २० ॥

न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः ।
क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥ २१ ॥

धार्मिक राजा, उपरोक्त निमित्तके लिये चोरी आदि करनेवालेको दंड न दे, क्योंकि राजाकीही मूर्खतासे ब्राह्मण क्षुधासे पीड़ित होता है ॥ २१ ॥

तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः ।
श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥

उस ब्राह्मणके अवश्य पालने योग्य पुत्रादि जनोंको जानकर और फिर ब्राह्मणकी विद्या और स्वभावको जानकर राजा अपने कुटुंबमेंसे धर्मके अनुसार उसकी आजीविका नियत करदे ॥ २२ ॥

कल्पयित्वास्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः ।
राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥ २३ ॥

राजा उस ब्राह्मणकी आजीविका नियत करके उसकी सब भांति रक्षा करै, क्योंकि उसकी रक्षा करनेसे राजा उसके छठे भागको पाता है ॥ २३ ॥

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित् ।
यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥ २४ ॥

ब्राह्मण यज्ञके लिये शूद्रसे कभी धन न मांगे क्योंकि शूद्रसे धन मांगकर जो ब्राह्मण यज्ञ करता है वह मरनेपर चाण्डाल होता है (और विना-मांगे शूद्रका धन यज्ञमें लगादे तो दोष नहीं) ॥ २४ ॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति ।
स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥ २५ ॥

जो ब्राह्मण यज्ञके लिये मांगे हुए सब धनको यज्ञमें नहीं लगाता है वह सौ वर्षतक मुर्गे वा काककी योनिको पाता है ॥ २५ ॥

देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः ।
स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६ ॥

जो मनुष्य लोभसे देवताके वा ब्राह्मणके धनको हरता है वह पापी दूसरे जन्ममें गिद्धोंकी जूठन खाकर जीता है ॥ २६ ॥

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये ।
क्लृप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसंभवे ॥ २७ ॥

प्रथम वर्षके अंतमें और दूसरे वर्षके—आरंभमें सदा वैश्वानर यज्ञको करै

और जो शास्त्रविहित पशु और सोमयज्ञ न होसके तो उनका दोष दूर करनेके लिये शूद्र आदिसेही धन लेकर वैश्वानर यज्ञको कर दे ॥ २७ ॥

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः ।
स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥

जो द्विज आपत्काल न होनेपरभी आपत्कालकी विधिसे धर्मको करता है वह द्विज परलोकमें उसके फलको नहीं पाता है, ऐसा मनु आदिका विचार है ॥ २८ ॥

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥

विश्वेदेवा, साध्य, और मरनेसे डरे हुए महर्षि तथा ब्राह्मणोंने मुख्य विधिका प्रतिनिधि, अर्थात् सोमयागके न होसकनेमें वैश्वानर यज्ञ आपत्कालके समयही किया है ॥ २९ ॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।
न सांपरायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥

जो मनुष्य मुख्य कर्म करनेमें असमर्थ होकर आपत्कालमें करनेके योग्य विधिसे कर्म करता है उस दुष्टका परलोकमें अभ्युदयरूप और पापका नाश-रूप फल नहीं होता ॥ ३० ॥

न ब्राह्मणोऽवेदयेत किंचिद्राजनि धर्मवित् ।
स्ववीर्येणैव ताञ्छिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ ३१ ॥

धर्मका ज्ञाता ब्राह्मण राजासे किसीके अपराधको न कहै : अपने पराक्रम-सेही अपराधी मनुष्यको दंड दे ॥ ३१ ॥

स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् ।
तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन्द्विजः ॥ ३२ ॥

अपनी सामर्थ्य और राजाकी सामर्थ्य इन दोनोंमें अपनी सामर्थ्य बलवती होती है इसलिये ब्राह्मण अपनी सामर्थ्यसेही शत्रुओंको दंड दे ॥ ३२ ॥

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् ।
वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन्द्विजः ॥ ३३ ॥
(तदस्त्रं सर्ववर्णानामनिवार्यं च शक्तितः ।
तपोवीर्यप्रभावेण अवध्यानपि बाधते ॥)

अथर्वण वेदमें अंगिरा ऋषिकी कही हुई दुष्टोंके मारणकी श्रुतियोंको विना विचारे करै, क्योंकि ब्राह्मणका शस्त्र वाणीही होता है; उससे ब्राह्मण शत्रुओंको नाश करै ॥ ३३ ॥

(यह सब वर्णोंका शस्त्र है और शक्तिसे रोका नहीं जासका, तप और वीर्यके प्रभावसे यह अवध्योंको भी दुःख देता है)

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः।
(तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्।)
धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः॥ ३४॥

क्षत्री अपनी आपत्तिको भुजाओंके बलसे दूर करै (क्योंकि यथाशक्ति ऐसा करनेसे उसकी परमगति होती है) और वैश्य शूद्र धनसे, और ब्राह्मण जप-होमसे अपनी आपत्तिको दूर करै ॥ ३४ ॥

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।
तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत्॥ ३५॥

शास्त्रोक्त कर्मोंका करनेवाला, पुत्रशिष्यादिकोंका शिक्षक, और प्रायश्चित्तादि कर्मोंका उपदेशक ब्राह्मण सब प्राणियोंका मित्र कहा जाता है इसलिये उससे न बुरा वचन कहै और न शुष्क अर्थात् निन्दापूर्ण वचन कहै ॥ ३५ ॥

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा॥ ३६॥

कन्या, जवान स्त्री, थोड़ा पढ़ा हुआ, मूर्ख, रोगी और यज्ञोपवीतरहित मनुष्य ये अग्निहोत्रके कर्ता नहीं हो सक्ते ॥ ३६ ॥

नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत्।
तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः॥ ३७॥

होम करते हुए ये (कन्याआदि) सब नरकको जाते हैं और जिसकी ओरसे ये करते हैं वहभी नरकको जाता है, इसलिये होता वेदोक्त कर्ममें कुशल और संपूर्ण वेदोंको ज्ञाता होना चाहिये ॥ ३७ ॥

प्राजापत्यमदत्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम्।
अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति॥ ३८॥
पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्धानो जितेन्द्रियः।
न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते ह कथंचन॥ ३९॥

जो ब्राह्मण संपत्ति होनेपर भी प्रजापति देवताके लिये अग्निहोत्रकी दक्षिणारूप घोड़ेको न देकर अग्निहोत्रका ग्रहण करता है उसे अग्निहोत्र करनेपरभी उसका फल नहीं होता ॥ ३८ ॥ श्रद्धावान् जितेन्द्री ब्राह्मण यज्ञको छोड़ अन्य पुण्योंको करै परंतु शास्त्रोक्त दक्षिणासे कम दक्षिणावाले यज्ञोंको कभी न करै ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून्।
हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत्॥ ४०॥

क्योंकि थोड़ी दक्षिणावाला यज्ञ नेत्रादि इन्द्रिय, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्त्ति, प्रजा और पशु इनका नाश करता है इसलिये थोड़े धनसे यज्ञ न करै ॥ ४० ॥

(अन्नहीनो दहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजः ।
दीक्षितं दक्षिणाहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः ॥)

(ऐसा कहा है कि अन्नहीन यज्ञ देशको जला देता है, मंत्रहीन ऋत्विजोंका नाश करता है, और दक्षिणाहीन दीक्षितको नष्ट कर देता है, सो यज्ञके समान अन्य शत्रु नहीं होता) ॥

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन्ब्राह्मणः कामकारतः ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥

अग्निहोत्री ब्राह्मण अपनी इच्छासे अग्निओंका त्याग करके (अर्थात् प्रातःकाल सायंकालके होमको न करके) एक महीनेतक चान्द्रायण व्रतको करै, क्योंकि अग्निहोत्रका त्याग पुत्रकी हत्याके समान है ॥ ४१ ॥

ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते ।
ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥

जो ब्राह्मण शूद्रसे धन लेकर अग्निहोत्र करते हैं वे निश्चयही शूद्रोंका यज्ञ करनेवाले हैं और वे ब्राह्मण वेदवादियोंमें निन्दित होते हैं, अर्थात् उनको उस अग्निहोत्रका फल नहीं मिलता ॥ ४२ ॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् ।
पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥

शूद्रकी अग्निके सेवन करनेवाले और अज्ञानी ऐसे उन ब्राह्मणोंके मस्तकपर चरण रखकर दान देनेवाला शूद्र, परलोकोंमें सदा दुःखोंसे तर जाता है (अर्थात् उस यज्ञका फल धन देनेवाले शूद्रको होता है) ॥ ४३ ॥

अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥

शास्त्रोक्त कर्मको नहीं करता हुआ और निन्दित कर्मको करता हुआ और विषयोंमें आसक्त मनुष्य प्रायश्चित्तके योग्य होता है ॥ ४४ ॥

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः ।
कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥

पण्डितोंने अज्ञानसे कियेहुए पापका प्रायश्चित्त कहा है और कोई आचार्य्य श्रुतिमें देखकर जानकर कियेहुये पापकाभी प्रायश्चित्त कहते हैं (इन्द्रने जान बूझकर संन्यासियोंको कुत्तोंको सोंप दिया था, फिर कठोरवाणीने आकर इन्द्रसे कहा कि प्रायश्चित्त करो; इन्द्र ब्रह्माके समीप गये; ब्रह्माने उनको हवन विशेष करना बताया। इससे स्पष्ट है कि जानकर कियें हुए पापका भी प्रायश्चित्त है) ॥ ४५ ॥

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति ।
कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥

अज्ञानसे किया हुआ पाप वेदके अभ्याससे शुद्ध होता है, और मोहसे, जानकर किया हुआ पाप अनेक प्रकारके प्रायश्चित्तोंसे शुद्ध होता है ॥ ४६ ॥

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा।
न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥ ४७ ॥
(प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥)

पूर्व जन्मके किये हुए कर्मके कारण वा प्रमादसे प्रायश्चित्तके योग्य होकर विना प्रायश्चित्त किये सज्जनोंके साथ संसर्ग न करे ॥ ४७ ॥

(प्रायःका अर्थ तप और चित्तका अर्थ निश्चय है; तप और निश्चय मिलकर ही प्रायश्चित्त होता है)

इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा।
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

कोई दुष्ट मनुष्य इस जन्मके दुष्टाचरणोंसे और कोई पूर्व जन्मके बुरे कर्मोंसे विपरीत रूपके (काणे, लूले आदि) हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम्।
ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥

सुवर्णचोरके नख बुरे हो जाते हैं, मदिरा पीनेवालेके दांत काले होजाते हैं, ब्रह्महत्यारा क्षयीरोगी और गुरुस्त्रीगामी शिथिलेन्द्रिय होजाता है ॥ ४९ ॥

पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम्।
धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥ ५० ॥

चुगलखोरकी नाकमेंसे दुर्गन्धि आने लगती है, जो झूठे दोषोंको कहै उसके मुखमें दुर्गन्धि होजाती है, धान्यका चोर अंगहीन होजाता है और धान्यमें कोई निन्दित वस्तु मिलानेसे मनुष्यके अधिक अंग हो जाते हैं ॥ ५० ॥

अन्नहर्तामयावित्वं मौक्यं वागपहारकः।
वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पङ्गुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥

अन्न चुरानेवालेको मंदाग्नि हो जाती है, गुरुकी आज्ञाके विना पढ़नेवाला गूंगा हो जाता है, वस्त्र चुरानेवाला श्वेतकुष्ठी होता है और घोड़ाचोर लंगड़ा होता है ॥ ५१ ॥

(दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत्।
हिंसया व्याधिभूयस्त्वं स्फीतोऽन्यस्त्वभिमर्षकः ॥)

(दियेका चुरानेवाला अंधा और दियेको बुझानेवाला काणा होता है। हिंसा करनेवाला अनेक व्याधियुक्त और परस्त्रीगामी वातरोगी होता है)

एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः।
जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥

इस प्रकार कर्मकी विशेषतासे मनुष्य सज्जनोंमें निन्दित, जड, मूक, अंधे, बहिरे और कुरूप हो जाते हैं ॥ ५२ ॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये।
निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥ ५३ ॥

इस कारण पापसे शुद्ध होनेके लिये सदा प्रायश्चित्त करै क्योंकि जिन्होंने प्रायश्चित्त नहीं किया उनके देहमें पूर्वोक्त निन्दित चिन्ह हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ५४ ॥

ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्ण आदिकी चोरी, गुरुस्त्रीगमन और इन पापोंके करनेवालोंके साथ संसर्ग ये बड़े भारी पातक हैं ॥ ५४ ॥

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ५५ ॥

अपनी उन्नतिके लिये झूठ बोलना, राजासे ऐसी चुगली खाना जिससे किसीका मरण हो, और गुरुसे मिथ्या हठ करना ये ब्रह्महत्याके समान हैं ॥ ५५ ॥

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः।
गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ ५६ ॥

पढ़े हुए वेदका भूलजाना, वेदनिन्दा, झूंठी साक्षी देना, मित्रका वध, तथा निन्दित और अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण ये छः मदिरापानके तुल्य हैं ॥ ५६ ॥

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च।
भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५७ ॥
रेतःसेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ५८ ॥

धरोहर, मनुष्य, घोड़ा, चांदी, भूमि, वज्र और मणि इनकी चोरीको पण्डितोंने सुवर्णकी चोरीके समान कहा है ॥ ५७ ॥ सगी बहन, कुआँरी, चांडाली और मित्र तथा पुत्रकी स्त्री इनमें वीर्यसिंचन करना गुरुपत्नीगमनके समान कहा है ॥ ५८ ॥

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः।
गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥ ५९ ॥
परिवित्तितानुजेऽनूढे परिवेदनमेव च।
तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ६० ॥

गौका वध, जो यज्ञ कराने योग्य नहीं है उससे यज्ञ कराना, परस्त्रीगमन अपनी आत्माको बेचना, गुरु, माता, पिता, वेदपाठ, और अग्निसेवन इन

त्याग ॥ ५९ ॥ परिवेत्ता (बड़े भाईसे पहिले व्याह करनेवाला छोटा भाई) और परिवित्ति (बड़ाभाई) इन दोनोंको कन्या देना, और इनको यज्ञ कराना ॥ ६० ॥

कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम्।
तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः॥ ६१ ॥

कन्याको दूषित करना, व्याज खाना, व्रतको नष्ट करना, तालाव, बगीचा, और स्त्रीपुत्रोंको बेचना ॥ ६१ ॥

व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च।
भृत्या चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः॥ ६२ ॥

समयपर यज्ञोपवीत न होना, बन्धुओंका त्यागना, द्रव्य लेकर पढ़ाना, द्रव्य देकर पढ़ना, वेचनेके अयोग्य वस्तुओंको बेचना ॥ ६२ ॥

सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम्।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च॥ ६३ ॥

सब (पाषाण आदिकी) खानोंमें अधिकारी होना, बड़े २ प्रवाहोंके बंधन करनेवाले यंत्रोंकी प्रवृत्ति करना, औषधीका फूंकना, अपनी स्त्रीके व्यभिचारसे जीविका करना, मारणप्रयोग तथा वशीकरण ॥ ६३ ॥

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम्।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा॥ ६४ ॥
अनाहिताग्निता स्तेयमृणानामनपक्रिया।
असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया॥ ६५ ॥
धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम्।
स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम्॥ ६६ ॥

ईंधनके लिये गीले वृक्षोंको कटवाना, केवल अपने लियेही रसोई बनाना, और निन्दित वस्तुओंका भक्षण करना, ॥ ६४ ॥ अग्निहोत्रका त्याग, चोरी, ऋणोंको न देना, श्रुतिस्मृतिसे विरुद्ध शास्त्र सीखना, नाचना, गाना, बजाना धान्य, तांबा और लोहा आदि, और पशु इनका चुराना, मदिरा पीनेवाली स्त्रीके साथ भोग करना, स्त्री, शूद्र, वैश्य और क्षत्री इनका वध, और नास्तिकता ये सब उपपातक हैं ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

ब्राह्मणस्य रुजःकृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः।
जैह्मयं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम्॥ ६७ ॥

ब्राह्मणको पीड़ा देना, सूँघनेके अयोग्य वस्तु तथा मद्यका सूंघना, कुटिलता और पुरुषके संग मैथुन ये सब कर्म जातिसे भ्रष्ट करनेवाले हैं ॥ ६७ ॥

खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा।
संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च॥ ६८ ॥

गधा, घोड़ा, ऊंट, मृग, हाथी, बकरा, मेढ़ा, मछली, सर्प और भैंसा इनका मारनेवाला वर्णसंकर होजाता है ॥ ६८ ॥

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥

निन्दित पुरुषसे धन लेना, व्यापार करना, शूद्रकी सेवा करना, और असत्य बोलना इनके करनेवालेको अपात्र जानना चाहिये ॥ ६९ ॥

कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।
फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

छोटे कीड़े, बड़े कीड़े, और पक्षी इनकी हत्या, मदिराके संग लाए हुए पदार्थका भोजन, फल, ईंधन और फूलोंकी चोरी और अधीरता ये सब मलीन करनेवाले जानने चाहियें ॥ ७० ॥

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् ।
यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ्निबोधत ॥ ७१ ॥

अलग २ वर्णन किये गए ये सब पाप जिन २ व्रतोंसे दूर होते हैं उनको यथार्थ रीतिसे सुनों ॥ ७१ ॥

ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् ।
भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥ ७२ ॥

ब्रह्मघाती अपनी शुद्धिके लिये वनमें कुटी बनाकर बारह वर्षतक उसमें वास करै, और उसी ब्राह्मणके कपालका चिन्ह धारण कर भिक्षामांग भोजन करै ॥ ७२ ॥

लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः ।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ ७३ ॥

अथवा, अपनी इच्छासे विद्वान् शस्त्रधारी शूर वीरोंके शस्त्रका निशाना हो जाय वा जलती हुई अग्निमें नीचेको शिर करके अपनी देहको तीन वार गेरै ॥ ७३ ॥

यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा ।
अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ॥ ७४ ॥

अथवा अश्वमेध, स्वर्जित, गोसव, अभिजित्, विश्वजित् यज्ञ वा तीनवार अग्निष्टोम यज्ञ करै ॥ ७४ ॥

जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत् ।
ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्नियतेन्द्रियः ॥ ७५ ॥

अथवा अल्प भोजन और इन्द्रियोंको वशमें करके ब्रह्महत्या दूर करनेके लिये कोईसा वेद जपता हुआ सौ योजनतक गमन करै ॥ ७५ ॥

सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्।
धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ ७६ ॥

अथवा वेदपाठी ब्राह्मणको सर्वस्व दान दे, अथवा जीवनपर्यन्त भोजनके योग्य धन वा अन्न आदि सामग्रीसहित घरका दान दे ॥ ७६ ॥

हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्प्रतिस्रोतः सरस्वतीम्।
जपेद्वा नियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् ॥ ७७ ॥

अथवा हविष्यको खाता हुआ सरस्वती नदी जहांतक बहती हो वहांतक गमन करै, अथवा अल्प भोजन करता हुआ तीनवार वेदकी संहिताको जपै ॥ ७७ ॥

कृतवापनो निवसेद्ग्रामान्ते गोव्रजेपि वा।
आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥ ७८ ॥

अथवा मुंडन कराकर गौ ब्राह्मणका उपकार करता हुआ गामके पास, गौशालामें, आश्रममें, अथवा वृक्षके नीचे वास करै ॥ ७८ ॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत्।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च ॥ ७९ ॥

अथवा जो (ब्रह्महत्यारा) ब्राह्मण वा गौके लिये अपने प्राणोंको त्याग दे तो वह गौब्राह्मणका रक्षक ब्रह्महत्यासे छूट जाता है ॥ ७९ ॥

त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा।
विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥ ८० ॥

ब्राह्मणके सर्वस्वको तीन वार बचानेवाला वा उसके सर्वस्वको चोरोंसे जीतकर उसे अर्पण करनेवाला, अथवा उसके निमित्त प्राणोंका त्यागनेवाला मनुष्य ब्रह्महत्याके पापसे छूट जाता है ॥ ८० ॥

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः।
समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८१ ॥

इसप्रकार नित्य दृढ़ व्रत धारण करनेवाला, ब्रह्मचारी मनको वशमें करके बारह वर्षकी समाप्ति होनेपर ब्रह्महत्याको दूर करता है ॥ ८१ ॥

शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे।
स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते।
तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥

अथवा अश्वमेध यज्ञमें राजाओंके समागममें अपने पापको ब्राह्मणोंसे निवेदन करके यज्ञान्तस्नान से ब्रह्महत्यारा शुद्ध होता है ॥ ८२ ॥ क्योंकि ब्राह्मण धर्मका मूल है, और क्षत्रिय धर्मका अग्रभाग कहा गया है इसलिये

उन दोनोंके अश्वमेधमें आनेपर दोनोंको अपना पाप जताकर मनुष्य शुद्ध होता है ॥ ८३ ॥

ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि दैवतम्।
प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

ब्राह्मण उत्पत्तिसेही देवताओंका देवता है और संसारमें वह प्रमाण माना-जाता है इसमें वेदही कारण है ॥ ८४ ॥

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनः सुनिष्कृतिम्।
सा तेषां पावनाय स्यात्पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥ ८५ ॥

उन ब्राह्मणोंमेंसे तीन वेदपाठी ब्राह्मण पापके प्रायश्चित्तका उपदेश करैं, क्योंकि पण्डितोंकी वाणी पवित्र होती है और वह पापियोंको पवित्र करने-वाली है ॥ ८५ ॥

अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः।
ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८६ ॥

ब्राह्मण सावधान होकर इन पूर्वोक्त प्रायश्चित्तोंमेंसे किसी एक प्रायश्चित्तको करके और आत्मज्ञानी होकर ब्रह्महत्यासे उत्पन्न हुए पापको दूर करता है ॥८६॥

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत्।
राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥

विनाजाने गर्भको, यज्ञ करते हुए क्षत्री और वैश्यको और रजस्वला स्त्रीको मारकर यही प्रायश्चित्त करै ॥ ८७ ॥

उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा।
अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८८ ॥

गवाहीमें झूठ बोलकर, गुरुको झूठा दोष लगाकर, किसीकी धरोहर मार-कर, तथा स्त्री और मित्रको मारकर ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करै ॥ ८८ ॥

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम्।
कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥

अज्ञानसे ब्राह्मणको मारनेमें यह प्रायश्चित्त है और जान बूझकर ब्राह्मणके मारनेका प्रायश्चित्त नहीं है ॥ ८९ ॥

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ ९० ॥

ब्राह्मण मोहसे (जानकर) मदिरापान करै तो अग्निसमान वर्णवाली गरम २ मदिराका पान करै और उस मदिरासे जब उसका शरीर जल जाय तब वह उस पापसे छुटता है ॥ ९० ॥

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा ।
पयो घृतं वामरणाद्गोशकृद्रसमेव वा ॥ ९१ ॥

अथवा गोमूत्र, जल, घृत, दूध और गौके गोवरका रस इनमेंसे किसीको अग्निके वर्णके समान गरम कर तवतक पिए कि जवतक मर न जाय ॥ ९१ ॥

कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि ।
सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥ ९२ ॥

अथवा सुरापानका दोष दूर करनेके लिये वर्ष दिनतक मलिन वस्त्र पहिरे, जटा बढ़ावै, और मदिरापात्रके चिह्नयुक्त ध्वजा धारण करै, और रात्रिको चांवलकी कनी अथवा तिलोंकी खल एकवार खाय ॥ ९२ ॥

सुरां वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते ।
तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ ९३ ॥

अन्नोंके मलको सुरा कहते हैं, और मल पापको कहते हैं, इसलिये ब्राह्मण क्षत्री और वैश्य सुराको न पियें ॥ ९३ ॥

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥ ९४ ॥
यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ।
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥ ९५ ॥

गौडी, पैष्टी और माध्वी तीन प्रकारकी सुरा जाननी चाहिये और इन तीनों-में जैसी एक तैसी सब, इसलिये द्विजोत्तमोंको इन्हें नहीं पीना चाहिये ॥ ९४ ॥ मद्य, मांस, सुरा और आसव ये यक्ष राक्षस और पिशाचोंके भक्षण योग्य हैं इसलिये देवताओंके साकल्यको भक्षण करता हुआ ब्राह्मण उन चारोंका भक्षण न करै ॥ ९५ ॥

अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत् ।
अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ ९६ ॥

मदके नशेमें ब्राह्मण मतवाला होकर अशुद्ध स्थानमें गिरेगा वा वेदवाक्य-को उच्चारण करेगा, वा औरही कोई न करनेका काम करेगा ॥ ९६ ॥

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत् ।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ ९७ ॥

जिस ब्राह्मणके देहमें स्थित जीवात्मा एकवारभी मद्यसे भीगता है (अर्थात् जो ब्राह्मण एकवारभी मद्य पीता है) उसका ब्राह्मणत्व जाता रहता है और वह शूद्र होजाता है ॥ ९७ ॥

एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥ ९८ ॥

मदिरापानका यह प्रायश्चित्त अनेक प्रकारसे कहा। अब इसके आगे सुवर्णकी चोरीके प्रायश्चित्तको कहताहूं ॥ ९८ ॥

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु।
स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥ ९९ ॥

सुवर्णका चुरानेवाला ब्राह्मण राजाके पास जाकर अपने कर्मको कहता हुआ यह कहै कि तुम मुझे दंड दो ॥ ९९ ॥

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्।
वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ १०० ॥

राजा मूसल लेकर एकवार उसे खुद मारै, जो चोर, ब्राह्मणसे इतर जाति हो तो वधसे शुद्ध होता है, और ब्राह्मण हो तो तपसेही शुद्ध हो जाता है ॥१००॥

तपसापनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम्।
चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्रह्महणो व्रतम् ॥ १०१ ॥

सुवर्णकी चोरीके दोषको दूर करनेकी अभिलाषा करता हुआ, द्विज, जीर्ण वस्त्रोंको धारण कर और वनमें वसकर ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त करै ॥ १०१ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः।
गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १०२ ॥

द्विज इन व्रतोंसे चोरीके पापोंको दूर करै और गुरुस्त्रीगमनके पापको आगे कहे इन व्रतोंसे दूर करै ॥ १०२ ॥

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये।
सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

गुरुभार्य्यागमन करनेवाला अपने पापको जतलाकर तत्ती लोहेकी सेज पर सोवै, अथवा लोहेकी वनी और जलती हुई स्त्रीकी प्रतिमाका आलिंगन करै; ऐसी मृत्युसे वह शुद्ध होता है ॥ १०३ ॥

स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ।
नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः ॥ १०४ ॥

अथवा स्वयं अपने लिंग और अंडकोशोंको काट कर और अपनी अंजलीमें रखकर, कुटिल स्वभावको त्याग, मरे नहीं तबतक सीधा नैऋति दिशामें चला जाय ॥ १०४ ॥

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ १०५ ॥
चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः।
हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ १०६ ॥

अथवा खट्वांगको धारण किये, चीथड़े पहिरे, केश, नख, लोम और दाढ़ी मूछोंको बढ़ाए निर्जन वनमें एक वर्षतक सावधान होकर प्राजापत्य व्रतको

करै ॥ १०५ ॥ अथवा गुरुभार्य्यागमनका पाप दूर करदेनेके लिये जितेन्द्री होकर तीन मासतक फलमूल आदि हविष्यसे वा नीवार आदिकी लपसीसे चांद्रायण व्रत करै ॥ १०६ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् ।
उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ १०७ ॥

महापातकी इन व्रतोंसे और उपपातकी इन आगे लिखे नाना प्रकारके व्रतोंसे पापको दूर करैं ॥ १०७ ॥

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत् ।
कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥

उपपातकसे युक्त गोहत्यारा मनुष्य एक महीनेतक जौका सतुआ पिए और मुंडन कराकर उस गौके चर्मको पहिर गौशालामें रहै ॥ १०८ ॥

चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् ।
गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥ १०९ ॥

और चौथे कालमें अर्थात् एक दिन उपवास करके दूसरे दिन प्रथम प्रहरमें क्षार और लवणको छोड़कर थोड़ा भोजन करै और जितेन्द्री होकर दो महीनेतक गोमूत्रसे स्नान करै ॥ १०९ ॥

दिवानुगच्छेद्गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत् ।
शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ ११० ॥

दिनमें गौओंके पीछे २ चले और ठहरकर गौओंके खुरसे उड़ीहुई धूलिको पीवै, अर्थात् रजका स्वाद ले, और रात्रिको गौओंकी सेवा और नमस्कार करके वीरासनसे बसै ॥ ११० ॥

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् ।
आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः ॥ १११ ॥

जो गौएँ खड़ी हों तो आपभी खड़ा हो जाय, और चलती हुई गौओंके पीछे २ जाय । और जब गौएँ बैठें तो आपभी बैठे, यह नियमपूर्वक द्वेषरहित होकर करै ॥ १११ ॥

आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।
पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ११२ ॥

जोए गा रोगिणी हो वा चौर व्याघ्र आदिकोंके भयसे युक्त हो, वा कहीं गिर गई हो, अथवा कीचमें फँसी हो तो उसे सब उपायोंसे छुटावै ॥ ११२ ॥

उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।
न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ११३ ॥

गर्मी, वर्षा और शीतमें वा अधिक वायु चलनेमें शक्तिपूर्वक विना गौकी रक्षा करै अपनी रक्षा न करै ॥ ११३ ॥

आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले।
भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ११४ ॥

अपने वा दूसरोंके घरमें, खेतमें अथवा खलिहानमें अन्न आदिको भक्षण करती हुई गौको और पीतेहुए बछड़ेको न बतावै ॥ ११४ ॥

अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ११५ ॥

इस विधिसे जो गोहत्यारा गौकी सेवा करता है वह गोहत्याके किए हुए पापको तीन मासमें नष्ट करता है ॥ ११५ ॥

वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥ ११६ ॥

अच्छीतरहसे व्रत करके गोहत्यारा एक बैल और दस गौओंका दान करै, और जो इतना न हो सके तो जो कुछ अपने पास हो वह सब वेदपाठी ब्राह्मणों-के अर्पण कर दे ॥ ११६ ॥

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः।
अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ ११७ ॥

अवकीर्णीको छोड़कर जो द्विज उपपातकी हों वे शुद्धिके लिये यही प्राय-श्चित्त करैं, अथवा चान्द्रायण व्रत करैं ॥ ११७ ॥

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११८ ॥

अवकीर्णी चौराहेमें काणे गधेसे अर्थात् उसकी चर्बी पकाकर उससे पाक यज्ञकी विधिसे रात्रिके समय निर्ऋति देवताके निमित्त याग करै ॥ ११८ ॥

हुत्वाग्नौ विधिवद्धोमानन्ततश्च समेत्यृचा।
वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाहुतीः ॥ ११९ ॥

विधिपूर्वक अग्निमें हवन करके पीछे (संमासिंचन्तु मारुत) इस ऋचासे वायु, इन्द्र, वृहस्पति और अग्नि इनके निमित्त अग्निमें घीसे आहुति दे ॥११९॥

कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः।
अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ १२० ॥

जो द्विज व्रतमें स्थित होकर इच्छासे वीर्यका सिंचन करै (अर्थात् स्त्रीका संग करै) उसको धर्मके ज्ञाता ब्रह्मवादियोंने व्रतका उल्लंघन करनेवाला कहा है ॥ १२० ॥

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च।
चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥ १२१ ॥

व्रती अवकीर्णीका ब्राह्मतेज पवन, इन्द्र, वृहस्पति, और अग्नि इन चारोंके पास जाता है ॥ १२१ ॥

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् ।
सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥

जो मनुष्यसे यह अवकीर्णरूप पाप होजाय तो गधेके चर्मको धारण करके अपने कर्मको प्रगट करता हुआ सात घरोंसे भिक्षा मागे ॥ १२२ ॥

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन स विशुध्यति ॥ १२३ ॥

उन सात घरोंसे मिले हुए भोजनको एक समय करै और तीन वार स्नान करै तो वह अवकीर्णी एक वर्षमें शुद्ध होता है ॥ १२३ ॥

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया ।
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२४ ॥

जातिभ्रष्ट करनेवाले कर्मोंमेंसे किसीभी कर्मको अपनी इच्छासे, करै तो सांतप्न कृच्छ्रको, और अज्ञानसे करै तो प्राजापत्य कृच्छ्रको करै ॥ १२४ ॥

संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ।
मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥ १२५ ॥

संकर और अपात्र करनेवाले कर्मोंमें एक मासतक चान्द्रायणसे, और मलीन करनेवाले कर्मोंके करनेसे तीन दिनतक गरम लपसी खानेसे शुद्धि होती है ॥ १२५ ॥

तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः ।
वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥ १२६ ॥

क्षत्रीकी हत्यामें ब्रह्महत्याका चौथा भाग, और सदाचारी वैश्यके वधमें अष्टम भाग, और शूद्रके वधमें सोलहवां भाग व्रत करना प्रायश्चित्त कहा है ॥ १२६ ॥

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।
वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्सुचरितव्रतः ॥ १२७ ॥

उत्तम ब्राह्मण अज्ञानसे क्षत्रीका वध करके अच्छीभांति व्रतपूर्वक एक बैल और एक हजार गौओंका दान करै ॥ १२७ ॥

त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्महणो व्रतम् ।
वसन्दूरतरे ग्रामाद्वृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।
प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥ १२९ ॥

अथवा इन्द्रियोंको वशमें करके और जटा धारण करके गांवसे दूर किसी वृक्षके नीचे कुटी बनाकर बसै और तीन वर्षतक ब्रह्महत्याके व्रतको करै ॥ १२८ ॥ अपने कर्ममें स्थित वैश्यका वध करके भी ब्राह्मण एक बर्षतक इसी ब्रह्महत्याके व्रतको करै और एकसौ एक गौदान करै ॥ १२९ ॥

एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान् शूद्रहा चरेत् ।
वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥ १३० ॥

शूद्रका वध करनेवाला ब्राह्मण भी इसी संपूर्ण व्रतको छः मासतक करै, अथवा एक बैल और दश स्वेत गौ ब्राह्मणको दान करै ॥ १३० ॥

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च ।
श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १३१ ॥

विलाव, नौला, नीलकंठ, मैड़क, कुत्ता, गोह, उल्लू और काक इनको मारकर शूद्रकी हत्याका व्रत करै ॥ १३१ ॥

पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाध्वनो व्रजेत् ।
उपस्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाब्दैवतं जपेत् ॥ १३२ ॥

तीन रात्रितक या तो दूध पिये, अथवा एक योजनतक गमन करै, अथवा नदीमें स्नान करै, अथवा "आपोहिष्ठा" इस मंत्रको जपै ॥ १३२ ॥

अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः ।
पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैकमाषकम् ॥ १३३ ॥

ब्राह्मण सर्पको मारकर लोहदंडका दान करै और नपुंसकको मारकर एक भार पयार और एक मासा सीसा दान करै ॥ १३३ ॥

घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ ।
शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायनम् ॥ १३४ ॥

शूकरको मारकर घृतका घड़ा, तीतरके मारनेपर द्रोणभर तिल, तोतेके मारनेपर दो वर्षका बछड़ा और क्रौंच पक्षीको मारकर तीन वर्षका बछड़ा दान करै ॥ १३४ ॥

हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च ।
वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥ १३५ ॥

हंस, बलाका, बगला, मोर, बन्दर, बाज और भास इनको मारकर ब्राह्मणको एक गोदान करै ॥ १३५ ॥

वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान्वृषान्गजम् ।
अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३६ ॥

घोड़ा मारकर वस्त्रका, हाथीको मारकर पाँच नीले बैलोंका, बैलको मारकर बकरी और भेड़का, और गधेको मारकर एक वर्षके बछड़ेका दान ब्राह्मणको दे ॥ १३६ ॥

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् ।
अक्रव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥ १३७ ॥

कच्चे मांसके भक्षकव्याघ्र आदिकोंको मारकर अधिक दुधारी गौका, कच्चा मांस न खानेवाले हरिण आदिकोंको मारकर जवान बछियाका, और ऊंटको मारकर एक रत्ती सोनेका दान करै ॥ १३७ ॥

जीनकार्मुकबस्तावीन्पृथग्दद्याद्विशुद्धये ।
चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥ १३८ ॥

ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंकी व्यभिचारिणीका वध करके क्रमसे चर्मपुट, धनुष, बकरी और मेढ़ अपनी शुद्धिके लिये अलग २ दान करै (अर्थात् ब्राह्मणीको मारकर चर्मपुटका, क्षत्राणीको मारकर धनुष इत्यादिका) ॥ १३८ ॥

[वर्णानामानुपूर्व्येण त्रयाणामविशेषतः ।
अमत्या च प्रमाप्य स्त्रीं शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥]

(ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य इन तीनों वर्णोंकी क्रमसे स्त्रीको विना जाने वध करके मनुष्य शूद्रकी हत्याका व्रत करै ॥)

दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् ।
एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १३९ ॥
अस्थिमतां तु सत्त्वानां सहस्रस्य प्रमापणे ।
पूर्णे चानस्यनस्थ्नां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १४० ॥

जो द्विज दानसे सर्पादिके वधके पापके छुड़ानेमें असमर्थ हो तो पाप दूर करनेके लिये एक २ के वधमें एक २ कृच्छ्रव्रत करै ॥ १३९ ॥ हड्डीवाले एक हजार क्षुद्र जीव मारनेपर और विना हड्डीवाले गाड़ीभर मारनेपर शूद्रहत्याका प्रायश्चित्त करै ॥ १४० ॥

किंचिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे ।
अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १४१ ॥

हड्डीवाले जीवोंके वधमें ब्राह्मणको थोड़ासाही दे और जिनमें अस्थि नहीं हैं उनकी हिंसा होनेपर मनुष्य प्राणायामसे ही शुद्ध होता है ॥ १४१ ॥

फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम् ।
गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥ १४२ ॥

फल देनेवाले वृक्ष, गुल्म (अंगूर आदि) वल्ली (गिलोय आदि) वेल और पुष्पवाले (कूष्मांड आदि वीरुध) इनके काटनेमें सौवार गायत्री जपै ॥१४२॥

अन्नाद्यजानां सत्वानां रसजानां च सर्वशः ।
फलपुष्पोद्भवानां च घृतप्राशो विशोधनम् ॥ १४३ ॥

अन्न आदिमें, रसमें, फलमें और फूलोंमें उत्पन्न हुए सब जीवोंके वधमें घृत भक्षण करनेसे शुद्धि होती है ॥ १४३ ॥

कृष्टजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने ।
वृथालम्भेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोव्रतः ॥ १४४ ॥

जोतनेसे उत्पन्न और वनमें स्वयं उत्पन्न औषधियोंको वृथा काटनेसे एक दिन दूधका आहार करके गौके पीछे २ गमन करै ॥ १४४ ॥

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम् ।
ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥ १४५ ॥

ज्ञान वा अज्ञानसे कीहुई हिंसासे उत्पन्न हुए संपूर्ण पापोंको इन व्रतोंसे दूर करै । अब अभक्ष्य भक्षणका प्रायश्चित्त सुनों ॥ १४५ ॥

अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुद्ध्यति ।
मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥ १४६ ॥

मनुष्य अज्ञानसे वारुणी पीकर संस्कारके करनेसे शुद्ध होता है, और यदि जानकर पिये तो विनाही कहे मरणही प्रायश्चित्त है यह शास्त्रकी मर्यादा है ॥ १४६ ॥

अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा ।
पञ्चरात्रं पिबेत्पीत्वा शङ्खपुष्पीश्रितं पयः ॥ १४७ ॥

सुरा तथा मद्यके पात्रोंमें भरे जलको पीकर शंखपुष्पी जड़ीके साथ औंटे हुए दूधको पांच रात्रि पीवे ॥ १४७ ॥

स्पृष्ट्वा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च ।
शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारि पिबेत्र्यहम् ॥ १४८ ॥

ब्राह्मण मदिराको छूकर, देकर और विधिपूर्वक लेकर, और शूद्रके जूठे जलको पीकर कुशाओंके साथ औंटेहुए जलको तीन दिनतक पिये ॥ १४८ ॥

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः ।
प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥ १४९ ॥

सोमयज्ञ करनेवाला ब्राह्मण सुरा पीनेवालेके मुखकी गंध सूंघकर जलमें तीनवार प्राणायाम करके घृतभक्षणसे शुद्ध होता है ॥ १४९ ॥

अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च ।
पुनःसंस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ १५० ॥

तीनों द्विजाति वर्ण अज्ञानसे, विष्ठा, मूत्र और सुरासे छुए पदार्थको भक्षण करके फिरसे (यज्ञोपवीत) संस्कारके योग्य होते हैं ॥ १५० ॥

वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च ।
निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि ॥ १५१ ॥

तीनों द्विजातियोंके फिर संस्कार करनेमें, मुंडन, मेखला, दंडधारण, भिक्षा, और ब्रह्मचारीके व्रत ये सब नहीं होतेहैं ॥ १५१ ॥

अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेव च।
जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत् ॥ १५२ ॥

जिनका अन्न अभक्ष्य है उनके अन्नको, स्त्री और शूद्रके जूठेको, तथा अभक्ष्य मांसको भक्षण करके सात रात्रि जौका सत्त पिये ॥ १५२ ॥

शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वा मेध्यान्यपि द्विजः।
तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तन्न व्रजत्यधः ॥ १५३ ॥

सिरका और क्काथ ये शुद्ध भी हों तो भी इनको पीकर द्विज, तबतक अशुद्ध रहता है जबतक वे वाहर नहीं निकल जाते हैं ॥ १५३ ॥

विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः।
प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चांद्रायणं चरेत् ॥ १५४ ॥

गांवका सूकर, गधा, ऊंट, शृगाल, वानर और काकका मूत्र और विष्ठा भक्षण करके द्विज चान्द्रायण व्रत करै ॥ १५४ ॥

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च।
अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५५ ॥

सूखा मांस और भूमिमें उत्पन्न हुए छत्राक, और विना जाना हुआ हिंसककी दुकानपर धरा हुआ मांस इनका भक्षण करके भी चान्द्रायण-व्रत करै ॥ १५५ ॥

क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे।
नरकाकखराणां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ १५६ ॥

कच्चे मांसके भक्षक, सूकर, ऊंट, मुरगा, नर, काक और खर इनके भक्षण-में तप्त कृच्छ्रसे शुद्धि होती है ॥ १५६ ॥

मासिकान्नं तु योऽश्नीयादसमावर्तको द्विजः।
स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥ १५७ ॥

जो ब्रह्मचारी द्विज, मासिक श्राद्धका अन्न भक्षण करै वह तीन दिन उपवास करै और एक दिन जलमें वसे ॥ १५७ ॥

ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांसं कथंचन।
स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १५८ ॥

जो ब्रह्मचारी किसी प्रकार मधु और मांसको भक्षण करै तो वह साधारण प्राजापत्य कृच्छ्रको करके ब्रह्मचर्य्यके शेषव्रतको समाप्त करै ॥ १५८ ॥

बिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वानकुलस्य च।
केशकीटावपन्नं च पिबेद्ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ १५९ ॥

बिलाव, काक, मूसा, कुत्ता, और नौला इनके जूठेको और केश, कीट गिरे अन्नको भक्षण करके ब्रह्मसुवर्चला औषधके क्काथको पिये ॥ १५९ ॥

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता।
अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाप्याशु शोधनैः ॥ १६० ॥

अपनी शुद्धि चाहनेवाला द्विज, निषिद्ध अन्नको भक्षण न करै, और जो अज्ञानसे भक्षण कर लिया हो तो वमन कर दे, अथवा शीघ्र अपनेको प्रायश्चित्तोंसे शुद्ध करै ॥ १६० ॥

एषोऽनाद्यादनस्योक्तो व्रतानां विविधो विधिः।
स्तेयदोषापहर्तॄणां व्रतानां श्रूयतां विधिः ॥ १६१ ॥

अभक्ष्य पदार्थ भक्षणके जितने व्रत हैं उनकी यह अनेक प्रकारकी विधि मैंने कही। अब चोरीके दोष हरनेवाले व्रतोंकी विधि सुनों ॥ १६१ ॥

धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद्द्विजोत्तमः।
स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुद्ध्यति ॥ १६२ ॥

ब्राह्मण ब्राह्मणके ही घरसे धान्य, अन्न और धन इनकी चोरी जान बूझकर करै तो एक वर्षपर्यन्त कृच्छ्र करनेसे शुद्ध होता है ॥ १६२ ॥

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च।
कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ १६३ ॥

मनुष्य, स्त्री, खेत, घर और कूप, बावडीका जल इनके हरण करनेपर चान्द्रायणव्रतसे शुद्धि कही गई है ॥ १६३ ॥

द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वान्यवेश्मतः।
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये ॥ १६४ ॥

थोड़े मूल्यके द्रव्योंकी दूसरेके घरसे चोरी करके अपनी शुद्धिके लिये सांतपनकृच्छ्रको करै और वस्तुओंको उसे फिर लौटा दे ॥ १६४ ॥

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च।
पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥ १६५ ॥

भक्ष्य (लड्डू आदि), भोज्य (क्षीर आदि), सवारी, शय्या, आसन, पुष्प, मूल, और फल इनकी चोरी करनेपर पंचगव्य पीनेसे ही शुद्धि होती है ॥१६५॥

तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च।
चेलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥ १६६ ॥

तृण, काठ, वृक्ष, सूखा अन्न, गुड़, वस्त्र, चर्म और मांस इनमेंसे किसीकी चोरी करनेका प्रायश्चित्त तीन रात्रितक उपवास है ॥ १६६ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च।
अयःकांस्योपलानां च द्वादशाहं कणान्नता ॥ १६७ ॥

मणि, मोती, मूंगा, तांबा, चांदी, लोहा, कांसा और पत्थर इनमेंसे किसीकी चोरी करनेमें बारह दिनतक चांवलकी कनकीका भोजनही प्रायश्चित्त है ॥ १६७ ॥

कार्पासकीटजीर्णानां द्विशफैकशफस्य च।
पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः ॥ १६८ ॥

कपड़े, रेशम, ऊन, दो खुरे (गौ आदि) और एक खुरे (घोड़े आदि) पशु, और पक्षी, गंध, औषधि और रस्सी इनमेंसे किसीकी चोरी करनेमें तीन दिनतक दूधका आहार करै ॥ १६८ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः।
अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १६९ ॥

द्विजको चाहिये कि चोरीसे हुए पापको इन व्रतोंसे दूर करै। और गमन करनेके अयोग्य स्त्रीके साथ गमन करनेके पापको जो व्रत आगे कहेंगे उनसे दूर करै ॥ १६९ ॥

गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु।
सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥ १७० ॥

सगी बहन, मित्र और पुत्रकी स्त्री, कुमारी और चांडाली इनमें वीर्य सिंचन करके गुरुस्त्रीगमनका प्रायश्चित्त करै ॥ १७० ॥

पैतृष्वस्रेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च।
मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ १७१ ॥

मौसीकी बेटी, बुआकी बेटी, और माताके सगे भाईकी बेटी, इनमेंसे किसी-के संग गमन करै तो चांद्रायण व्रत करै ॥ १७१ ॥

एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान्।
ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः ॥ १७२ ॥

बुद्धिमान् इन तीनोंके साथ विवाह न करै क्योंकि ये अपनी बांधव होनेसे विवाहयोग्य नहीं हैं, इनको व्याहनेवाला मनुष्य नरकमें जाता है ॥ १७२ ॥

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु।
रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् ॥ १७३ ॥

मानुषीसे भिन्न (घोड़ी आदिमें) और रजस्वलामें, योनिसे भिन्न वस्तु-में और जलमें वीर्यसिंचन करके मनुष्य सांतपन कृच्छ्रव्रत करै ॥ १७३ ॥

मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः।
गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥ १७४ ॥

गाड़ीमें, जलमें, और दिनमें पुरुष अथवा स्त्रीके साथ मैथुन करके द्विजको वस्त्रसहित स्नान करना चाहिये ॥ १७४ ॥

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥ १७५ ॥

ब्राह्मण अज्ञानसे चांडाली और म्लेच्छनी स्त्रियोंके साथ गमन, भोजन करने

से और उनसे दान लेनेसे पतित होता है, और जो जानकर करै तो उनके समान हो जाता है ॥ १७५ ॥

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि।
यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् ॥ १७६ ॥

भर्त्ता, व्यभिचारिणी स्त्रीको एक घरमें रोक कर रक्खै और जो प्रायश्चित्त पुरुषको परस्त्री गमनमें है वही उस स्त्रीसे करावै ॥ १७६ ॥

सा चेत्पुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्त्रिता।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥ १७७ ॥

यदि स्त्री सजातीयके साथ गमन करके एकवार दूषित हो (और प्रायश्चित्त करके) वह फिर दूषित हो जाय तो इसका प्रायश्चित्त कृच्छ्रचान्द्रायण ही कहा है ॥ १७७ ॥

यत्करोत्येकरात्रेण वृषलीसेवनाद्द्विजः।
तद्भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥ १७८ ॥

द्विज, चांडाली स्त्रीके साथ एक रात्रि गमन करके जो पाप करता है उस पापको वह, तीन वर्षतक नित्य भिक्षान्न खाकर और गायत्री जप कर दूर करता है ॥ १७८ ॥

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः।
पतितैः संप्रयुक्तानामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥ १७९ ॥

चार प्रकारके (हिंसा, अभक्ष्यभक्षण, चोरी और अगम्यागमन) पापोंके करनेवालोंका यह प्रायश्चित्त कहा–अब पातक करनेवालोंके जो संगी हैं उनके प्रायश्चित्तोंको सुनो ॥ १७९ ॥

संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥ १८० ॥

पतितके साथ एक वर्षतक एक सवारी वा एक आसन पर बैठे वा एक पंक्तिमें भोजन करै तो पतित हो जाता है, और जो उनको यज्ञ करावै, वा जनेऊ कराकर गायत्री सुनावे, वा विवाह आदि संबन्ध करै तो तुरंत पतित हो जाता है ॥ १८० ॥

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः।
स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १८१ ॥

जो मनुष्य इन पतितोंमेंसे जिस पतितके साथ संसर्ग करै तो वह उसके संसर्गकी शुद्धिके लिये उसी पापके प्रायश्चित्तको करै ॥ १८१ ॥

पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः।
निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसंनिधौ ॥ १८२ ॥

सपिंड बांधवोंको जीवित महापातकीकी जलदान–क्रिया नवमी तिथिको

संध्यासमय ज्ञाति, ऋत्विज, और गुरु इनके निकट ग्रामके बाहर जाकर करनी चाहिये ॥ १८२ ॥

दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा ।
अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं बान्धवैः सह ॥ १८३ ॥

जलसे पूर्ण घटको दासी अपने पैरसे प्रेतके समान अर्थात् दक्षिणको मुख करके फेंक दे और सब सपिंड, अपने बांधवोंसहित एक दिनरात अशौच करैं ॥ १८३ ॥

निवर्तेरंश्च तस्मात्तु संभाषणसहासने ।
दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८४ ॥

और उस पतितके साथ बैठना, बोलना, उसे भाग देना और उसके साथ लोकव्यवहार करना इन सबको त्यागकर दें ॥ १८४ ॥

ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्धनम् ।
ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान्गुणतोऽधिकः ॥ १८५ ॥

इस जेठेकी ज्येष्ठता जाती रहती है और जेठेके मिलनेयोग्य जो धन है वहभी जाता रहता है, इस ज्येष्ठके भागको गुणोंमें अधिक छोटाभाई पावै ॥ १८५ ॥

प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम् ।
तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥ १८६ ॥
स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम् ।
सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥ १८७ ॥

प्रायश्चित्त करनेके पीछे सब सपिंड, उस पतितको साथ लेकर जलसे पूर्ण नये घटको पवित्र नदी आदिमें स्नान करके फेंक दें ॥ १८६ ॥ जिसने प्रायश्चित्त किया है वह उस घटको फेंक कर और अपने घरमें प्रवेश करके जातिके सब कार्य्योंको पूर्वके समान करै ॥ १८७ ॥

एतदेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।
वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ १८८ ॥

पतित स्त्रियोंमेंभी इसी विधिको करै और बांधव इन स्त्रियोंको वस्त्र, अन्नपान दें और वे स्त्रियां घरके पास (कुटीमें) वास करैं ॥ १८८ ॥

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किंचित्सहाचरेत् ।
कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ १८९ ॥

जिन पापियोंने प्रायश्चित्त नहीं किया है उनके साथ कुछ व्यौहार न करै और जिन्होंने प्रायश्चित्त करलिया है उनकी कभी निन्दा न करै ॥ १८९ ॥

बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः।
शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥

बालकके हत्यारे, कृतघ्न, शरणागतके और स्त्रीके घातक ये सब चाहे प्रायश्चित्तभी कर चुकेहों तोभी उनके साथ संसर्ग न करै ॥ १९० ॥

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि।
तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥ १९१ ॥

जिन द्विजोंको विधिपूर्वक गायत्री उपदेश न हुआहो उनसे तीन प्राजापत्य कृच्छ्र कराकर शास्त्ररीतिसे उनका यज्ञोपवीत करावै ॥ १९१ ॥

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः।
ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥ १९२ ॥

निषिद्ध कर्म करनेवाले, वेदसे हीन जो द्विज प्रायश्चित्त किया चाहते हैं उनकोभी इन तीन प्राजापत्योंका उपदेश करै ॥ १९२ ॥

यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम्।
तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥ १९३ ॥

ब्राह्मणोंने जिस धनको बुरे कर्मसे एकत्रित किया है वे उस धनके त्यागसे, गायत्रीके जपसे और तपसे शुद्ध होजाते हैं ॥ १९३ ॥

जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः।
मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ १९४ ॥

ब्राह्मण सावधानीसे तीन सहस्र गायत्रीका जप करके और गोशालामें एक मासतक दूध पीकर निन्दित वस्तुके प्रतिग्रहके पापसे छूट जाता है ॥ १९४ ॥

उपवासकृशं तं तु गोव्रजात्पुनरागतम्।
प्रणतं प्रति पृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम् ॥ १९५ ॥

फिर बांधवजन, गौशालासे आएहुए और उपवाससे दुर्बल उस नम्र ब्राह्मणसे यह पूछें कि हे सौम्य, क्या तू हमारे समान होनेकी इच्छा करता है? ॥ १९५ ॥

सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम्।
गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ १९६ ॥
व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च।
अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ १९७ ॥
शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः।
संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥
श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च।
नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १९९ ॥

[शुनाघ्रातावलीढस्य दन्तैर्विदलितस्य च।
अद्भिः प्रक्षालनं प्रोक्तमग्निना चोपचूलनम्॥]

वह ब्राह्मणोंसे सत्य २ प्रतिज्ञा करै (कि अब निन्दित प्रतिग्रह नहीं लूंगा), और गौओंको घास दे, तथा जिस जगह गौएं घास चर रहीं हों वहां बांधव उसका ग्रहण करैं॥ १९६॥ व्रात्योंका यज्ञ, दूसरेका क्रियाकर्म, अभिचार, और अहीन यज्ञ, ये कराकर ब्राह्मण तीन कृच्छ्र करनेसे शुद्ध होता है॥ १९७॥ शरणागतको त्याग कर, दुष्टको वेद पढ़ाकर, ब्राह्मण एक वर्षतक यवका भोजन करनेसे उस पापको दूर करता है॥ १९८॥ कुत्ता, गीदड़, गधा, मनुष्य, घोड़ा, ऊंट और शूकर और ग्रामके कच्चे मांसभक्षक जीवोंसे काटा गया ब्राह्मण प्राणायामसे शुद्ध होता है॥ १९९॥ (जिस स्थानको कुत्ते सूंघलें, चाटलें, वा जिसमें दांत गड़ा दें उसे जलसे धोवै तथा अग्निसे सेकै.)

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा।
होमाश्च सकला नित्यमपाङ्क्त्यानां विशोधनम्॥ २००॥

जो पंक्ति बाहर हैं, वे एक मासतक तीसरे दिनसंध्याको भोजन, अथवा संहिताका जप, अथवा नित्य संपूर्ण होम करैं यही उनकी शुद्धि है॥ २००॥

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः।
स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुद्ध्यति॥ २०१॥

ऊंट अथवा गधोंकी सवारीपर इच्छापूर्वक चढ़कर और जलमें नंगे स्नान करके ब्राह्मण प्राणायामसे शुद्ध होता है॥ २०१॥

विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तः शारीरं संनिवेश्य च।
सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति॥ २०२॥

रोगी मनुष्य, जलके विना वा जलमें शरीरके मलमूत्रको त्यागकर वस्त्रसहित स्नान करै, और जलसे बाहर आकर गौका स्पर्श करनेसे वह शुद्ध होता है २०२

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे।
स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम्॥ २०३॥

नित्य करने योग्य वेदोक्त कर्मोंके न करनेसे और ब्रह्मचर्यके व्रतोंका लोप होनेसे एक दिनका उपवासही प्रायश्चित्त है॥ २०३॥

हुंकारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः।
स्नात्वानश्नन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत्॥ २०४॥

ब्राह्मणसे "चुप बैठे रहो" यों कहकर और बड़े लोगोंसे "तू" कहकर स्नान करै, और उनके चरणोंको नमस्कार कर, उन्हें प्रसन्न करै और शेष दिनमें भोजनको न करै॥ २०४॥

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वाबध्य वाससा।
विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत्॥ २०५॥

तृणसेभी ब्राह्मणको ताड़ना करके अथवा ब्राह्मणके कंठमें वस्त्र बांधकर, अथवा शास्त्रार्थमें जीतकर उसे नमस्कार कर प्रसन्न करै ॥ २०५ ॥

अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च।
जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ २०६ ॥

ब्राह्मणको मारनेकी इच्छासे दंडको उठाकर सौ वर्षतक, और दंडसे प्रहार करके हजार वर्षतक नरक भोगता है ॥ २०६ ॥

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले।
तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥ २०७ ॥

ब्राह्मणके शरीरसे निकले रुधिरसे पृथ्वीके जितने रजःकण भीगें उतनेही सहस्र वर्षपर्यन्त रुधिर निकालनेवाला नरकमें वसता है ॥ २०७ ॥

अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने।
कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥ २०८ ॥

ब्राह्मणके मारनेके लिये दंड उठाकर कृच्छ्र, और ब्राह्मणको दंड मारकर अतिकृच्छ्र, और ब्राह्मणकी देहमें रुधिर निकालकर कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र करै ॥ २०८ ॥

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये।
शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥

जिन पापोंका प्रायश्चित्त नहीं कहा उनके दूर करनेके लिये शक्ति और पापको देखर प्रायश्चित्त बतावै ॥ २०९ ॥

यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति।
तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥ २१० ॥

मनुष्य जिन उपायोंसे पापोंको नष्ट करता है देवता, ऋषि, और पितरोंके किये हुए उन उपायोंको तुमसे कहताहूं ॥ २१० ॥

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्।
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन्द्विजः ॥ २११ ॥

प्राजापत्य करनेवाला द्विज तीन दिन प्रातःकाल और तीन दिन सायंकाल, तीन दिन जो विना माँगे मिले उसका भोजन करै और तीन दिन उपवास करै ॥ २११ ॥

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम् ॥ २१२ ॥

गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी, कुशजल इनको मिलाकर पहिले दिन पिये और दूसरे दिन उपवास करै यह सांतपन कृच्छ्र कहा है ॥ २१२ ॥

एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः ॥ २१३ ॥

अतिकृच्छ्रको करता हुआ द्विज तीन दिनतक प्रातःकाल, और सायंकाल विना मांगा एक २ ग्रास भक्षण करै और अंतके तीन दिन उपवास करै २१३

तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ।
प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥ २१४ ॥

तप्तकृच्छ्र करनेवाला ब्राह्मण स्नान करके सावधानीसे जल, दूध, घृत और वायु इन चारोंमेंसे एक २ को गरम २ तीन २ दिन पीवै (इसका प्रमाण पाराशरजीने, छः पल जल, तीन पल दूध, और एक पल घी कहाहै) ॥ २१४ ॥

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।
पराको नाम कृच्छ्रोयं सर्वपापापनोदनः ॥ २१५ ॥

मनुष्य सावधान और जितेन्द्री होकर बारह दिनतक भोजन न करै यही पराक नाम कृच्छ्र, सब पापोंको नाश करनेवाला है ॥ २१५ ॥

एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् ।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१६ ॥

कृष्णपक्षमें एक २ ग्रास कम करै और शुक्लपक्षमें एक २ ग्रास बढ़ावै, और प्रतिदिन त्रिकाल स्नान करै यह चान्द्रायण व्रत कहा गयाहै ॥ २१६ ॥

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे ।
शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१७ ॥

और जो शुक्ल पक्षकी आदिसे, इसी चान्द्रायण व्रतको संपूर्ण विधिसे करै तो यवमध्यम चान्द्रायण होता है ॥ २१७ ॥

अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यंदिने स्थिते ।
नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन् ॥ २१८ ॥

यतिचान्द्रायणको करता हुआ मनुष्य जितेन्द्री होकर दो पहरको हविष्यान्न आठ २ ग्रास भोजन करै ॥ २१८ ॥

चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः ।
चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१९ ॥

ब्राह्मण सावधान होकर चार ग्रास प्रातःकाल और चार ग्रास सूर्य्यास्तके समय भोजन करै यह शिशुचान्द्रायण व्रत कहा है ॥ २१९ ॥

यथाकथंचित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः ।
मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥ २२० ॥

मनुष्य सावधान होकर जैसे हो सके तैसे हविष्य अन्नके २४० ग्रास एक मासमें भक्षण करै तो चन्द्रलोकको जाता है ॥ २२० ॥

एतद्रुद्रास्तथादित्या वसवश्चाचरन्व्रतम् ।
सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥

रुद्र, आदित्य, वसु, महर्षि और मरुतने भी इस व्रतको संपूर्ण पापोंकी निवृत्तिके लिये किया था ॥ २२१ ॥

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्वहम् ।
अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥

प्रतिदिन (भूः भुवः स्वः) इन तीन महाव्याहृतियोंसे स्वयं (घृतका) हवन करै और कभी हिंसा न करै, सदा सत्यबोले, क्रोध छोडै और सरलतासे रहै ॥ २२२ ॥

त्रिरह्नस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ।
स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित् ॥ २२३ ॥

दिन और रात्रिमें तीन २ वार वस्त्रसहित जलमें स्नान करै तथा स्त्री शूद्र और पतितोंके साथ कदापि बात चीत न करै ॥ २२३ ॥

स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा ।
ब्रह्मचारी व्रती च स्याद्गुरुदेवद्विजार्चकः ॥ २२४ ॥

खड़ा रहै वा बैठा रहै, और जो सामर्थ्य न हो तो पृथ्वीपर शयन करै, ब्रह्मचर्यसे और दंडमेखलासे युक्त रहै और गुरु, देवता तथा ब्राह्मणका पूजन करै ॥ २२४ ॥

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः ।
सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥

मनुष्य सब व्रतोंमें प्रायश्चित्तके लिये इसी प्रकार आदरसे नित्य यथाशक्ति गायत्रीका और पवित्र मंत्रोंका जप करै ॥ २२५ ॥

एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः ।
अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥ २२६ ॥

जिनका पाप प्रकट है ऐसे द्विजातियोंको इन पूर्वोक्त व्रतोंसे शुद्ध कर ले, और जिनका पाप अप्रकट है उनकी शुद्धि. मंत्र और होमोंसे करै ॥ २२६ ॥

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च ।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥

अपने पापोंको विदित करनेसे, पछतानेसे, तपसे, वेदके अध्ययनसे और आपत्तिके समय दानसे पापी अपने पापसे छूट जाता है ॥ २२७ ॥

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वानुभाषते ।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥

मनुष्य पाप करके जैसे २ स्वयं प्रकट करता है तैसेही तैसे उस अधर्मसे ऐसे छूटताहै कि जैसे सर्प कांचलीसे छुटता है ॥ २२८ ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥

उस पापीका मन जैसे २ बुरे कर्मकी निन्दा करता है तैसेही तैसे उस पापीका शरीर उस अधर्मसे छूटता है ॥ २२९ ॥

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ २३० ॥

मनुष्य पाप करके पछतानेसे उस पापसे छूट जाता है और "फिर ऐसा न करूंगा" इस निवृत्तिरूप संकल्पसे तो वह पवित्र हो जाता है ॥ २३० ॥

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम्।
मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३१ ॥

मरकर परलोकमें शुभाऽशुभ कर्मका फल मिलेगा ऐसा मनसे विचार कर मनुष्य मन, वाणी और देहसे नित्य शुभकर्म करै ॥ २३१ ॥

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम्।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्द्वितीयं न समाचरेत् ॥ २३२ ॥

ज्ञानसे वा अज्ञानसे निन्दित कर्म करके उस कर्मसे मुक्ति चाहनेवाला मनुष्य फिर उस कर्मको न करै ॥ २३२ ॥

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम्।
तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ २३३ ॥

जो प्रायश्चित्तके करनेपर इस पापीके मनको संतोष नहो तो जबतक संतोष नहो तबतक तप करता रहै ॥ २३३ ॥

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्।
तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोन्तं वेददर्शिभिः ॥ २३४ ॥

देवता और मनुष्योंका जो सब सुख है उसका तपही कारण है और तपही उसका अंत और मध्य है यह वेदके ज्ञाता विद्वानोंने कहा है ॥ २३४ ॥

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥ २३५ ॥

ब्राह्मणका तप ज्ञान है, क्षत्रीका तप प्रजाकी रक्षा है, वैश्यका तप कृषि, व्यापार और गोरक्षा है, तथा शूद्रका तप द्विजोंकी सेवा है ॥ २३५ ॥

ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः।
तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २३६ ॥

फल मूल और वायुको भक्षण करनेवाले जितेन्द्री ऋषिजन तपसे ही चराचर त्रैलोक्यको देखते हैं ॥ २३६ ॥

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः।
तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम्॥ २३७॥

औषधि, नीरोगता, विद्या और देवताओंकी अनेक प्रकारकी स्थिति तपसेही सिद्ध होती हैं क्योंकि इनका साधन तपही है॥ २३७॥

यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ २३८॥

जो कठिन है, जो दुःखसे प्राप्य है, जो दुःखसे गमन करने योग्य है और जो दुष्कर है ये सब बातें तपसे साध्य हो सक्ती हैं क्योंकि तपका कोई उल्लंघन नहीं कर सक्ता है॥ २३८॥

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः॥ २३९॥

महापातकोंके और अन्यभी उपपातकोंके कर्ता, अच्छी भांतिसे कियेहुए तपसेही उस पापसे मुक्त हो जाते हैं॥ २३९॥

कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च।
स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात्॥ २४०॥

कीट, सर्प, पतंग, पशु, पक्षी और गुल्म, वृक्ष, लता आदि, जीव ये सब तपके ही बलसे स्वर्गको जाते हैं॥ २४०॥

यत्किंचिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः।
तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः॥ २४१॥

मनुष्य, मन, वाणी और देहसे जो कुछ पाप करते हैं उस सब पापको तपस्वी तपसे शीघ्र नष्ट कर देते हैं॥ २४१॥

तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः।
इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च॥ २४२॥

तपसे परम शुद्ध ब्राह्मणके यज्ञमें देवता हविको ग्रहण करते हैं और फिर उसकी कामनाओंको पूर्ण करते हैं॥ २४२॥

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे॥ २४३॥

समर्थ ब्रह्माने तपकेही बलसे इस शास्त्रको रचा और वसिष्ठ आदि ऋषिभी तपसे वेदके ज्ञाता हुए॥ २४३॥

इत्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते।
सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम्॥ २४४॥

इन संपूर्ण जीवोंका दुर्लभ जन्म तपसेही होता है यह देखनेवाले देवता पूर्वोक्त तपका माहात्म्य कहते हैं॥ २४४॥

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा ।
नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥ २४५ ॥

प्रतिदिन यथाशक्ति वेदका अभ्यास, पंच महायज्ञोंका करना और क्षमा ये महापातकोंसे उत्पन्न हुएभी पापोंको शीघ्र नष्ट कर देते हैं ॥ २४५ ॥

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।
तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४६ ॥

जैसे अग्नि काठको पाकर क्षणभरमें भस्म करदेती है ऐसेही वेदका ज्ञाता, अपनी ज्ञानरूपी अग्निसे सब पापको नष्ट कर देता है ॥ २४६ ॥

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि ।
अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ २४७ ॥

(ब्रह्महत्या आदि) प्रकट पापोंका यह विधिपूर्वक प्रायश्चित्त कहा, इसके आगे गुप्त पापोंके प्रायश्चित्तको तुम सुनो ॥ २४७ ॥

सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २४८ ॥

प्रतिदिन कियेहुए व्याहृति और ओंकार गायत्री आदिसहित सोलह प्राणायाम, भ्रूणहत्यारेको भी एक मासमें पवित्र करदेते हैं ॥ २४८ ॥

कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् ।
माहित्रं शुद्धवत्यश्च सुरापोऽपि विशुध्यति ॥ २४९ ॥

कौत्स ऋषिकी कही हुई "अप नः शोशुचदघम्" ऋचाको, और वसिष्ठकी कही "प्रतिस्तोमेभिरुषसं" ऋचाको और "महित्रीणामवोस्तु" इस सूक्तको और "एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धम्" इन तीनोंको एक मासतक प्रतिदिन सोलह वार पाठकर मदिरा पीनेवाला भी शुद्ध होता है ॥ २४९ ॥

सकृज्जप्त्वास्यवामीयं शिवसंकल्पमेव च ।
अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः ॥ २५० ॥

सुवर्ण चुरानेवाला "अस्यवामस्य" सूक्तको और "यज्जाग्रतो दूरं" इसको महीने भर एकवार जपकर ही उसी क्षण शुद्ध होजाता है ॥ २५० ॥

हविष्पान्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च ।
जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥ २५१ ॥

"हविष्पान्त" इत्यादि १९ ऋचाओंको अथवा "नतमंहो न दुरितम्" इन आठ ऋचाओंको वा "इतिवा इति मे मनः" "शिवसंकल्पमस्तु" इस सूक्तको वा "सहस्रशीर्षा" इस पुरुषसूक्तको एक महीनेतक प्रतिदिन एकवार जपकर गुरुस्त्रीगमनवाला शुद्ध होता है ॥ २५१ ॥

एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम् ।
अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किंचेदमितीति वा ॥ २५२ ॥

छोटे बड़े पापोंका नाश चाहनेवाला पुरुष " अव ते हेळो वरुण नमोभिः" इस ऋचाको वा " यत्किंचेदं वरुण दैव्ये जने " इस ऋचाको वर्षभर एक बार जपै ॥ २५२ ॥

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम्।
जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात् ॥ २५३ ॥

प्रतिग्रह लेनेके अयोग्य वस्तुका प्रतिग्रह लेकर और निषिद्ध अन्नको भक्षण करके मनुष्य "तरत्समंदी धावति" इस ऋचाका तीन दिनतक जप करनेसे पवित्र होता है ॥ २५३ ॥

सोमारौद्रं तु बह्वेना मासमभ्यस्य शुध्यति।
स्रवन्त्यामाचरन्स्नानमर्यम्णामिति च तृचम् ॥ २५४ ॥

बहुत पाप करनेवाला मनुष्य "सोमारुद्रा धारयेथाममुर्यम्" ये चार और 'अर्यमणं वरुणं मित्रं" इन तीन ऋचाओंको महीने भर जपनेसे, अथवा बहती हुई नदीमें स्नान करनेसे शुद्ध होजाता है ॥ २५४ ॥

अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत्।
अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुक् ॥ २५५ ॥

पापी मनुष्य "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं" इत्यादि सात ऋचाओंको छः महीने-तक जपै, और जलमें मूत्र करनेवाला एक मासतक भिक्षा मांग कर भोजन करै ॥ २५५ ॥

मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः।
सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम् ॥ २५६ ॥

द्विज शाकल होमके मंत्रोंसे एक वर्षतक घृतका हवन करके अथवा "नम इन्द्रश्च" इस ऋचाको जपकर भारीसे भारी पाप नाश होजाता है ॥ २५६ ॥

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाः समाहितः।
अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुद्ध्यति ॥ २५७ ॥

महापातकी पुरुष सावधान होकर भिक्षाका अन्न खाता हुआ एक वर्ष-तक गौओंकी सेवा करनेसे " यः पावमानीरध्येति " इत्यादि ऋचाओंका जप करनेसे शुद्ध होजाता है ॥ २५७ ॥

अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम्।
मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥ २५८ ॥

तीन पराक व्रतोंसे शुद्ध होकर द्विज वनमें सावधानीसे तीनवार वेदसंहि-ताका अभ्यास करै तो सब पातकोंसे छूट जाता है ॥ २५८ ॥

त्र्यहं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः।
मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाघमर्षणम् ॥ २५९ ॥

जो मनुष्य नित्य त्रिकाल स्नान करै, स्नानके समय तीन २ वार अघमर्षण को जपै और सावधान होकर तीन दिनतक उपवास करै वह सब पातकोंसे छूट जाता है ॥ २५९ ॥

यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः ।
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६० ॥

जैसे सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ अश्वमेध यज्ञ सब पापोंको दूर कर देता है उसी भांति अघमर्षण सूक्त सब पापोंको दूर कर देता है ॥ २६० ॥

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः ।
ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किंचन ॥ २६१ ॥

इन तीनों लोकोंका वध कर, और जहां तहां भोजन करता हुआ ब्राह्मण जो ऋग्वेदका अभ्यास करता है उसे कुछ भी पाप नहीं होता है ॥ २६१ ॥

ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ।
साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६२ ॥

ऋग्वेदकी, वा आयुर्वेदकी, वा ब्राह्मण और उपनिषदयुक्त सामवेदकी संहिताको सावधानीसे तीनवार पढ़कर द्विज सब पापोंसे छूट जाता है ॥ २६२ ॥

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति ।
तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ २६३ ॥

जैसे फैंका हुआ मट्टीका डेला बड़े तालावमें जाकर नष्ट होजाता है वैसेही त्रिवृत् वेदमें सब पाप नष्ट हो जाता है ॥ २६३ ॥

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।
एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥ २६४ ॥

ऋग्वेदके मंत्र, यजुर्वेदके मंत्र, अनेक प्रकारके सामवेद, इन तीनोंके जुदे २ मंत्र और ब्राह्मण इनको त्रिवृत् वेद जानना; जो इस त्रिवृत् वेदको जानता है वही वेदज्ञ होता है ॥ २६४ ॥

आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता ।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥

जो सब वेदोंकी आदि है, जिसमें तीन अक्षर हैं, जो ब्रह्मरूप है, जिसमें तीन वेद स्थित हैं वह दूसरा त्रिवित् वेद (ओं) गुप्त रखने योग्य है, जो उसको जानता है वह वेदज्ञ है ॥ २६५ ॥ इति

पण्डित रामेश्वरभट्टकृत सरला टीकासहित मनुका
एकादश अध्याय समाप्त हुआ—शुभम्.

अथ द्वादशोऽध्यायः।

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ।
कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥ १ ॥

हे पापरहित, आपने चारों वर्णोंके सब धर्म कहे अब कर्मोंका शुभाऽशुभ-फल विधिपूर्वक कहिये ॥ १ ॥

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः।
अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥

धर्मात्मा मनुपुत्र भृगु उन महर्षियोंसे बोले कि सब कर्मोंके शुभाऽशुभ-फलका निर्णय सुनो ॥ २ ॥

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥
तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

शरीर, मन और वचनसे जो शुभाऽशुभफलयुक्त कर्म किया जाता है उस कर्मके अनुसार ही मनुष्यकी उत्तम, मध्यम तथा अधम गतियां होती हैं। देह धारण करनेवालेके तीनों प्रकारके (उत्कृष्ट मध्यम और अधम), मन, वचन और शरीरमें रहनेवाले दश लक्षण युक्त कर्मका प्रवर्तक मन है ऐसा जानना चाहिये। (कर्म नीचे लिखे दस प्रकारके हैं) ॥ ३ ॥ ४ ॥

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥

पराया धन अन्यायसे लेनेकी चिन्ता, मनसे अनिष्टकी चिन्ता, और परलोक नहीं है यह शरीर ही आत्मा है ऐसा मिथ्या आग्रह ये तीन प्रकारके कर्म मानसिक हैं ॥ ५ ॥

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥

कठोर वचन, मिथ्या बोलना, पीठ पीछे दूसरोंके दोष कहना और विना प्रयोजन बकना ये चार प्रकारके वाचिक कर्म हैं ॥ ६ ॥

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥

विना दिया हुआ धन लेना, विधिरहित हिंसा, पराई स्त्रीकी सेवा ये तीन शारीरिक कर्म हैं ॥ ७ ॥

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥
[त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधं कर्म दश धर्मपथांस्त्यजेत् ॥]

जीव, मानसिक शुभाऽशुभ कर्मोंका फल मनसे, वाचिकका वाणीसे, और शारीरिकका शरीरसे भोगता है ॥ ८ ॥

(तीन प्रकारके शारीरिक, चार प्रकारके वाचिक, और तीन प्रकारके मानसिक, इन दश प्रकारके कर्मोंको छोड़ना चाहिये ॥)

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥
[शुभैः प्रयोगैर्दैवत्वं व्यामिश्रैर्मानुषो भवेत् ।
अशुभैः केवलैश्चैव तिर्यग्योनिषु जायते ॥]

शरीरके कर्मोंके दोषसे मनुष्य स्थावर होता है; वाचिक कर्मोंके दोषसे पक्षी तथा पशु होता है और मानसिक कर्मोंके दोषसे चांडाल होता है ॥ ९ ॥ (प्राणी शुभकर्मोंसे देवता और मिश्रित कर्मोंसे मनुष्य होता है, तथा केवल अशुभ कर्मोंसे तिर्यक् योनिमें पैदा होता है ॥)

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ १० ॥

जिसकी बुद्धिमें, मानसिक, वाचिक और शारीरिक दंड स्थित हैं अर्थात् जो मन, वचन और शरीरको वशमें रख सकता है उसेही त्रिदंडी कहते हैं (केवल दंड ग्रहण करनेसे दंडी नहीं होता) ॥ १० ॥

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ११ ॥

काम, क्रोधको रोककर जो मनुष्य सब प्राणियोंमें त्रिदंड व्यवहार करते हैं वे सिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥

जो इस शरीरसे कार्य करता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं, और जो कर्मोंको करता है उसे पण्डित भूतात्मा कहते हैं ॥ १२ ॥

जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १३ ॥

सब शरीरधारियोंका, जीव नामका स्वाभाविक अंतरात्मा है, जिससे प्राणी प्रतिजन्ममें सुखदुःखका अनुभव करता है ॥ १३ ॥

तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च ।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

महान् तथा क्षेत्रज्ञ ये पंचभूतोंसे मिले हुए दोनों छोटे बड़े सब भूतोंमें स्थित उस परमात्माके सहारेही रहते हैं ॥ १४ ॥

असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः।
उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः॥ १५॥

उस परमात्माके शरीरसे असंख्य जीव निकल कर उत्तम अधम प्राणियोंको अपने २ कर्ममें प्रवृत्त करते हैं॥ १५॥

पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम्।
शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम्॥ १६॥

पापी मनुष्योंका (पृथ्वी आदि) पंचभूतोंसेही, परलोकमें यातना भोगनेके लिये दूसरा (जरायुजसे भिन्न) शरीर निश्चय उत्पन्न होता है॥ १६॥

तेनानुभूयता यामीः शरीरेणेह यातनाः।
तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः॥ १७॥

प्राणी, इस शरीरसे यमलोकमें यमयातना भोगकर उन्ही पंचभूतोंकी मात्राओंमें यथायोग्य लीन होजाते हैं॥ १७॥

सोऽनुभूयासुखोदर्कान्दोषान्विषयसङ्गजान्।
व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ॥ १८॥

वह जीव दुःखपूर्ण शब्द स्पर्श आदि विषयोंसे उत्पन्न हुए दुःख भोग कर निष्पाप हो इन दोनों महापराक्रमी महत् और परमात्माका आश्रय लेता है॥ १८॥

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह।
याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम्॥ १९॥

वे दोनों महत् और परमात्मा, आलसरहित होकर जीवके धर्मअधर्मको साथ २ देखते रहते हैं कि जिनसे जीव इस लोक तथा परलोकमें सुख दुःख पाता है॥ १९॥

यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः।
तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते॥ २०॥

जीव यदि अधिक धर्म और थोड़ा अधर्म करै तो पृथ्वी आदि पंचभूतोंसे युक्त होकर स्वर्गमें सुख भोगता है॥ २०॥

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः।
तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः॥ २१॥

यदि वह जीव अधिक अधर्म, और धर्म थोड़ा करता है तो पंचभूत उसे त्याग देते हैं और वह यमयातनाओंको भोगता है॥ २१॥

यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः।
तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः॥ २२॥

यमयातनाओंको भोग कर और पापरहित होकर जीव फिर पांचों भूतोंके भागोंको पाता है ॥ २२ ॥

एता दृष्ट्वास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा ।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥

धर्म और अधर्मसे इस जीवकी गति अपने मनमें विचारकर सदा धर्ममें मन लगावै ॥ २३ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान् ।
यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥

सत्व, रज, और तम इन तीनोंको आत्मा (महत्तत्व) के गुण जाने । महान्, इन तीनों गुणोंसे सब पदार्थोंमें व्याप्त होकर स्थित है ॥ २४ ॥

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥

इन गुणोंमेंसे जीवके शरीरमें, जो गुण पूर्णरीतिसे होता है वही उस शरीरधारी जीवको अपने लक्षणोंसे युक्त करता है ॥ २५ ॥

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥

सतोगुणसे ज्ञान, तमोगुणसे अज्ञान, और रजोगुणसे राग द्वेष होता है । सब भूतोंके आश्रित देहमें ये गुण व्याप्त रहते हैं ॥ २६ ॥

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किंचिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥ २७ ॥

आत्मामें जो कुछ प्रीतियुक्त अर्थात् क्लेशरहित सुखादि देखै उस प्रशांत और निर्मलको सतोगुण जाने ॥ २७ ॥

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥

और जो कुछ ज्ञान आत्माको अप्रसन्नताका कारक और दुःखसे संयुक्त दीखे तथा देहधारियोंको सदा विषयाभिलाष उत्पन्न करै उस सतोगुणके शत्रुको रजोगुण जानें ॥ २८ ॥

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥

जो मोहसे संयुक्त हो अर्थात् जिसमें सत् असत्का विवेक न हो, जिसके विषयका आकार प्रकट न होसके, जिसमें तर्कना न हो सके, और जिसके स्वरूपकी यथार्थ प्रतीति न हो सके उसे तमोगुण जानें ॥ २९ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥

तीनों गुणोंके द्वारा क्रमसे जो उत्तम, मध्यम और अधम फल होते हैं उन्हें पूर्णरीतिसे कहता हूं ॥ ३० ॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥

वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रियसंयम, धर्मानुष्ठान और आत्माका ध्यान ये सब सतोगुणके लक्षण हैं ॥ ३१ ॥

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

फलके लिये कर्ममें रुचि, धैर्यरहित होना, निषिद्ध कर्म करना, और निरंतर विषयभोग, ये रजोगणके लक्षण हैं ॥ ३२ ॥

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥

लोभ, निद्रा, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, आचारका लोप, याचनाका स्वभाव और प्रमाद यह तमोगुणका लक्षण हैं ॥ ३३ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम्।
इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥

भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालमें विद्यमान इन सत्व आदि गुणोंके ये लक्षण क्रमपूर्वक संक्षेपसे जानना ॥ ३४ ॥

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥

जिस कार्यके करनेसे, करनेमें, या करनेके बाद (मनुष्य) लज्जावान् हो उस सबको पण्डित, तमोगुणका लक्षण जानें ॥ ३५ ॥

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्।
न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥
यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन्।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥
तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

मनुष्य जिस कार्यसे इस लोकमें अधिक ख्यातिकी इच्छा करता है और जिसके सिद्ध न होनेपर दुःखी नहीं होता उसे राजस कर्म जानों ॥ ३६ ॥ जिस संपूर्ण कार्यसे (मनुष्य) (वेदका अर्थ) जाननेकी इच्छा करता है, जिसे करके लज्जित नहीं होता, और जिससे आत्मा संतुष्ट होता है उसे सतोगुणका लक्षण जानों ॥ ३७ ॥ तमोगुणका लक्षण काम, रजोगुणका अर्थ

और सतोगुणका लक्षण धर्म होता है, इनमें कामसे अर्थ और अर्थसे धर्म श्रेष्ठ है ॥ ३८ ॥

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते।
तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥

इनमेंसे जिस कर्मसे जीव जिन २ योनियोंको पाते हैं उन सबको संक्षेपसे क्रमपूर्वक कहता हूं ॥ ३९ ॥

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ४० ॥

सतोगुणी लोग देवयोनिको, रजोगुणी मनुष्ययोनिको और तमोगुणी तिर्यक् योनिको पाते हैं। सदा यही तीन प्रकारकी गति है ॥ ४० ॥

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः।
अधमा मध्यमाग्र्या च कर्मविद्या विशेषतः ॥ ४१ ॥

यह सत्वादि गुणके कारण तीन प्रकारकी गति है; यह कर्म तथा विद्या आदिकी विशेषतासे फिर तीन प्रकारकी अधम, मध्यम और उत्तम होती है ॥ ४१ ॥

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥ ४२ ॥

स्थावर, कृमि, कीट, मछली, सर्प, कछुआ, पशु तथा मृग यह तमोगुणसे उत्पन्न हुई निकृष्ट योनि है ॥ ४२ ॥

हस्तिनश्च तुरंगाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः।
सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥

हाथी, घोड़े, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र और वराह ये तमोगुणसे उत्पन्न हुई मध्यम योनि है, अर्थात् इस योनिमें तमोगुणी जन्मते हैं ॥ ४३ ॥

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥ ४४ ॥

चारण आदि, पक्षी, दांभिक पुरुष, राक्षस, पिशाच ये तमोगुणसे पैदा हुई उत्तम योनि है ॥ ४४ ॥

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ ४५ ॥

झल्ल, मल्ल, नट, शस्त्रजीवी, जुआरी और (मद्य) पीनेवाले पुरुष ये रजोगुणसे पैदा हुई निकृष्ट योनि है ॥ ४५ ॥

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥

राजा, क्षत्रिय, राजपुरोहित और जिन्हें शास्त्रार्थका कलह प्यारा हो ये रजोगुणसे पैदा हुई मध्यम गति है ॥ ४६ ॥

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥

गंधर्व, गुह्यक, यक्ष, देवानुचर, तथा अप्सरा ये सब राजसी गतियोंमें उत्तम राजसी गति है ॥ ४७ ॥

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥ ४८ ॥

वानप्रस्थ, यती, ब्राह्मण, विमानचारी, नक्षत्र और दैत्य यह सतोगुणसे उत्पन्न हुई अधम गति है ॥ ४८ ॥

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ४९ ॥

यज्ञ करनेवाले, ऋषि, देवता, वेद, (इतिहासमें प्रसिद्ध शरीरधारी ध्रुव आदि) तारागण, वत्सर सोमप आदि, पितृगण और साध्यलोग ये सतोगुणकी मध्यम गति है ॥ ४९ ॥

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।
उत्तमां सात्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥ ५० ॥

ब्रह्मा, मरीचि आदि, प्रजापति, शरीरधारी धर्म (सांख्यशास्त्रमें प्रसिद्ध दोनों तत्व) महान् और अव्यक्त, ये सब सतोगुणकी उत्तम गति है ऐसा पंडित लोग कहते हैं ॥ ५० ॥

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥ ५१ ॥

तीन प्रकारके कर्मोंका तीन प्रकारका फल और फिर उसका तीन प्रकारका सब प्राणियोंका यह संसार तुमसे कहा ॥ ५१ ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च।
पापान्संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥

मूर्ख और नीच मनुष्य अपनेको इन्द्रियोंके विषयोंमें लगानेसे और धर्म न करनेसे निन्दित गतिको पाते हैं ॥ ५२ ॥

यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा।
क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत ॥ ५३ ॥
बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात्।
संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥ ५४ ॥

यह जीव जिस २ कर्मसे जिस २ योनिको इस लोकमें क्रमसे पाता है वह

सब सुनों ॥ ५३ ॥ महापातकी अनेक वर्ष घोर नरक भोगकर, दूषित कर्मका नाश होनेपर-इन (नीचे लिखी) योनियोंमें जन्मते हैं ॥ ५४ ॥

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ।
चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥

ब्रह्महत्यारा, कुत्ता, शूकर, गधा, ऊंट, गऊ, छाग, मेढ़, मृग, पक्षी, चांडाल और पुक्कस इन योनियोंको पाता है ॥ ५५ ॥

कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् ।
हिंस्राणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ ५६ ॥

सुरापायी ब्राह्मण, कृमि, कीट, पतंग, विष्ठा खानेवाले पक्षी और हिंसक जन्तुओंकी योनिमें जन्मता है ॥ ५६ ॥

लूताहिसरटानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् ।
हिंस्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ ५७ ॥

चोर ब्राह्मण, मकड़ी, सर्प, गिरगट, जलचर, पक्षी और हिंसाशील पिशाच आदिकी योनियोंमें सहस्रों वार जन्मता है ॥ ५७ ॥

तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि ।
क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

गुरुस्त्रीगामी, तृण, गुल्मलता, कच्चा मांस खानेवाले, दाढ़वाले, क्रूरकर्म करनेवाले इनकी योनिमें सैंकड़ों वार जन्मता है ॥ ५८ ॥

हिंस्रा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः ।
परस्परादिनः स्तेनाः प्रेतान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥

हिंसक, कच्चा मांस खानेवाले होते हैं; अभक्ष्य भक्षक, कृमि होते हैं; चोर परस्परके मांस भक्षक होते हैं, और अंत्यज स्त्रीगामी, प्रेत होते हैं ॥ ५९ ॥

संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् ।
अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

पतितका संसर्गी, परस्त्रीगामी, और ब्राह्मणके धनका चुरानेवाला ब्रह्मराक्षस होता है ॥ ६० ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः ।
विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥

मनुष्य लोभसे मणि, मोती, प्रवाल तथा अनेक प्रकारके रत्न चुरानेसे सुनारकी योनिमें जन्मता है ॥ ६१ ॥

धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः ।
मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥ ६२ ॥

धान्य चुरानेवाला चूहा होता है, कांसा चुरानेवाला हंस, जल हरनेवाला

जलमुर्ग, मधु हरनेवाला डांस, दूध हरनेवाला कौआ, रस हरनेवाला कुत्ता और घृत हरनेवाला नौला होता है ॥ ६२ ॥

मांसं गृध्रो वपां मद्गुस्तैलं तैलपकः खगः।
चीरीवाकस्तु लवणं वलाका शकुनिर्दधि ॥ ६३ ॥

मांस चुरानेवाला गिद्ध, चर्बी चुरानेवाला जलचरपक्षी, तेल चुरानेवाला तैलपक नाम पक्षी, नमक चुरानेवाला चीरीवाक नाम कीट, और दही चुरानेवाला बगुला पक्षी होता है ॥ ६३ ॥

कौशेयं तित्तिरिर्हृत्वा क्षौमं हृत्वा तु दर्दुरः।
कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥ ६४ ॥

रेशमी वस्त्रका चोर तीतर होता है, क्षौमवस्त्रका हरनेवाला मैडक, कपासके वस्त्र हरनेवाला क्रौंच पक्षी, गऊ हरनेवाला गोधा, और गुड चुरानेवाला वाग्गुद नाम पक्षी होता है ॥ ६४ ॥

छुच्छुन्दरिः शुभान्गन्धान्पत्रशाकं तु बर्हिणः।
श्वावित्कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ॥ ६५ ॥

सुगंधित वस्तु चुरानेवाला छछूंदर, पत्तोंका शाक चुरानेवाला मोर, अनेक प्रकारके (मोदक आदि) सिद्धान्न हरनेवाला श्वावित्, कच्चा अन्न हरनेवाला शल्यक होता है ॥ ६५ ॥

बको भवति हृत्वाग्निं गृहकारी ह्युपस्करम्।
रक्तानि हृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः ॥ ६६ ॥

वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः।
स्त्रीमृक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥ ६७ ॥

अग्नि हरनेवाला बगुला होता है, घरेलु कामकी वस्तुओंका हरनेवाला, मट्टी आदिसे घर तयार करनेवाला पक्षयुक्त कीड़ा, और रंगे वस्त्रोंका चोर चकोर होता है ॥ ६६ ॥ मृग वा हाथी चुरानेवाला भेड़िया, घोड़ा चुरानेवाला व्याघ्र, फलमूल चुरानेवाला बंदर, स्त्री चुरानेवाला भालु, जल चुरानेवाला चातक, सवारी चुरानेवाला ऊंट, और पशुचोर बकरा होता है ॥ ६७ ॥

यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः।
अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥ ६८ ॥

किसीकी छोटीसी भी वस्तु बलपूर्वक चुरानेसे अथवा विना होमी हुई हविका भोजन करनेसे अवश्यही तिर्यक् योनि पाता है ॥ ६८ ॥

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाप्नुयुः।
एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥ ६९ ॥

स्त्रियां भी अपनी इच्छासे पराई वस्तु चुरावें तो उन्हें भी दोष लगता है और ये पूर्वोक्त जन्तुओंकी भार्या होती है ॥ ६९ ॥

स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि।
पापान्संसृत्य संसारान्प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ॥ ७० ॥

चारों वर्णके लोग यदि आपद्काल को छोड़ अन्यकालमें अपने २ कर्म न करैं तो वे निन्दित योनिमें जन्मकर फिर जन्मान्तरमें शत्रुओंके दास होते हैं ॥ ७० ॥

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः।
अमेध्यकुणपाकी च क्षत्रियः कटपूतनः ॥ ७१ ॥

निजधर्मको त्यागनेवाला ब्राह्मण, वमनभक्षी ज्वालाके समान मुखवाला प्रेत होता है, और (धर्मत्यागी) क्षत्री मुर्दा तथा विष्ठा खानेवाला कटपूतन नाम प्रेत होता है ॥ ७१ ॥

मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ॥ ७२ ॥

निजधर्मको त्यागनेवाला वैश्य राद खानेवाला मैत्राक्षज्योतिक नाम प्रेत होता है, तथा शूद्र चैलाशक नाम प्रेत होता है ॥ ७२ ॥

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥ ७३ ॥

विषयी जैसे २ विषयोंको भोगते हैं तैसे तैसेही उनकी रुचि विशेष होती जाती है ॥ ७३ ॥

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः।
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥

अल्पबुद्धि लोग उन पाप कर्मोंके वारंवार करनेसे इस लोकमें (तिर्यक् आदि) योनियोंमें दुःख भोगते हैं ॥ ७४ ॥

तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम्।
असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥ ७५ ॥
विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम्।
करम्भवालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥ ७६ ॥

फिर वे घोर तामिस्र आदि नरकमें दुःख, असिपत्र वन आदि नरक तथा बंधन छेदन आदि यातनाएं भोगते हैं ॥ ७५ ॥ उन्है अनेक प्रकारकी अत्यंत पीड़ा, काक और उल्लूकोंके द्वारा भक्षण, तपेहुए बालूमें ताप और कुंभीपाक आदि भयानक नरक भोगने पड़ते हैं ॥ ७६ ॥

संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः।
शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥
असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम्।
बन्धनानि च काष्ठानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

बहुतसा है दुःख जिनमें ऐसी तिर्यक् योनिमें जन्म लेकर वे नित्य सर्दी गर्मीकी पीड़ासे बहुत भयको पाते हैं ॥ ७७ ॥ उन्हैं बार २ गर्भवास, दारुण दुःखसहित जन्म, काठके बन्धन आदि अनेक प्रकारके कष्ट और दूसरेका दासभाव मिलता है ॥ ७८ ॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः ।
द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥ ७९ ॥

वे बन्धु और प्रियजनका वियोग, दुर्जनोंके साथ सहवास, कष्टसे धनसंचय और उसका नाश, कष्टसे मित्रलाभ तथा शत्रुका प्रादुर्भाव आदि अनेक भांति की दुर्गतिको पाते हैं ॥ ७९ ॥

जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम् ।
क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥ ८० ॥
यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते ।
तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ८१ ॥

और जिसकी चिकित्सा नहीं ऐसी वृद्धावस्था, अनेक भांतिकी व्याधिके क्लेश, अनेक प्रकारके कष्ट और दुर्निवार मृत्यु इनको पाते हैं ॥ ८० ॥ सात्विक, राजस और तामस इनमेंसे जिस २ भावसे मनुष्य जैसे २ कर्म करता है वैसेही वैसे शरीर पाकर उन कर्मोंके फल भोगता है ॥ ८१ ॥

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः ।
नैःश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥

यह सब कर्मोंके फलोदय तुमसे कहे, अब जिन कर्मोंसे ब्राह्मणकी मोक्ष होती है सो सुनों ॥ ८२ ॥

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥

वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा, गुरुसेवा, ये सब ब्राह्मणोंके अत्यंत कल्याण करनेवाले कर्म हैं ॥ ८३ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् ।
किंचिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥

इस लोकमें किये हुए इन सब शुभ कर्मोंमेंसे एक कर्म पुरुषके लिये अत्यन्त कल्याणकारक कहागया है ॥ ८४ ॥

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥

इन सब मोक्षसाधन कर्मोंमें आत्मज्ञानही श्रेष्ठ कहा है; वह सब विद्याओंमें प्रधान है और उससेही मोक्ष मिलती है ॥ ८५ ॥

षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च ।
श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥

इन सब छः (मोक्षके साधन) कर्मोंमें वैदिक धर्मको ही सदा इस लोकमें तथा मरनेके अनंतर कल्याणकारी जानना चाहिये ॥ ८६ ॥

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः ।
अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन्क्रियाविधौ ॥ ८७ ॥

उपरोक्त सब उस २ क्रियाविधिमें क्रमसे वैदिक कर्मयोगके ही अन्तर्गत हुआ करते हैं ॥ ८७ ॥

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥

वैदिककर्म दो प्रकारके हैं "प्रवृत्ति" और "निवृत्ति" । प्रवृत्तिकर्मसे सुखकी उत्पत्ति होती है और निवृत्ति कर्मसे मोक्ष प्राप्त होती है ॥ ८८ ॥

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥

[अकामोपहतं नित्यं निवृत्तं च विधीयते ।
कामतस्तु कृतं कर्म प्रवृत्तमुपदिश्यते ॥]

इस लोक तथा परलोकमें किसी कामनासे जो कर्म किया जाता है उसे प्रवृत्त कर्म कहते हैं, परंतु जो ज्ञानपूर्वक निष्काम कर्म किया जाता है उसे निवृत्त कर्म कहते हैं ॥ ८९ ॥ (जो कर्म निष्काम होकर किया जाता है उस को निवृत्त कहते हैं और जो कामनासे कियाजाय उसे प्रवृत्त कहते हैं)

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥

प्रवृत्त कर्म करनेसे मनुष्यको देवताओंकी समानता प्राप्त हो सक्ती है और निवृत्त कर्म करनेसे (मनुष्य) पंचभूतोंका अवलंघन करता है, अर्थात् मोक्ष पाता है ॥ ९० ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥

आत्मयाजी पुरुष सब भूतोंमें आत्माको तथा आत्मामें सब भूतोंको समान देखकर ब्रह्मत्व पाता है ॥ ९१ ॥

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥ ९२ ॥

उत्तम द्विज शास्त्रोक्त सब कर्मोंको छोड़कर भी आत्मज्ञान, इन्द्रिय-जय और वेदाभ्यासमें यत्न करै ॥ ९२ ॥

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः ।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ९३ ॥
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९४ ॥
या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ ९५ ॥

विशेषकर यही ब्राह्मणके जन्मको सफल करनेवाला है इसलिये ब्राह्मण इसको करके ही कृतकृत्य होता है, और तरहसे नहीं ॥ ९३ ॥ वेदही पितरों, देवताओं और मनुष्यके सनातन नेत्र हैं; ये अपौरुषेय और अप्रमेय हैं, अर्थात् न तो कोई वेदको बना सक्ता है और न उनका परिमाण कर सक्ता है यही स्थिति है ॥ ९४ ॥ जो स्मृतियां वेदसे बाहिर हैं, जो सब शास्त्र वेदविरुद्ध कुतर्कमूलक हैं, उन सबको परलोकमें निष्फल जानों, वे सब नरकके साधन कहे हैं ॥ ९५ ॥

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाकालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ९६ ॥

जो कोई शास्त्र वेदमूलक नहीं हैं (पुरुषकल्पित हैं) वे उत्पन्न होते हैं नष्ट होते हैं, और आधुनिक होनेसे निष्फल और मिथ्या हैं ॥ ९६ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥

चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों अलग २ आश्रम, और भूत भविष्यत् वर्तमान सब वेदसेही सिद्ध होता है ॥ ९७ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पांचवाँ गंध, ये तीनों गुण और कर्महेतु होनेसे वेदसेही उत्पन्न होते हैं ॥ ९८ ॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥

सनातन वेद, सबभूतोंको धारण करता है इसलिये मैं वेदकोही मनुष्योंके परम पुरुषार्थका कारण समझताहूं ॥ ९९ ॥

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १०० ॥

सेनापति, राज्य, दंड देनेवाला, और सब लोकोंका अधिपति वेदशास्त्रका ज्ञाताही हो सक्ता है ॥ १०० ॥

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥ १०१ ॥

[न वेदबलमाश्रित्य पापकर्मरुचिर्भवेत् ।
अज्ञानाच्च प्रमादाच्च दहते कर्म नेतरत् ॥]

जैसे प्रज्वलित अग्नि गीले वृक्षोंको भी जला देती है वैसेही वेदज्ञ अपने कर्मजनित सब दोषको नष्ट करता है ॥ १०१ ॥ (वेदका सहारा लेकर मनुष्य पापकर्ममें रुचि न करै, अज्ञान या प्रमादसे ऐसा करने पर जितनी हानि होती है उतनी अन्य किसी भांति नहीं होती) ॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥

वेदशास्त्रका तत्त्वज्ञ पुरुष चाहे जिस आश्रममें रहकर इसही लोकमें बैठा ब्रह्मत्व को पाता है ॥ १०२ ॥

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥ १०३ ॥

अज्ञ लोगोंसे ग्रन्थ पढ़नेवाले श्रेष्ठ हैं, ग्रन्थोंके केवल पढ़नेवालोंसे ग्रंथ विषयोंके धारण करनेवाले श्रेष्ठ हैं, और धारण करनेवालोंसे ज्ञानी श्रेष्ठ हैं, और ज्ञानियोंसे कर्म करनेवाले श्रेष्ठ हैं ॥ १०३ ॥

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् ।
तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ १०४ ॥

ब्राह्मणका तप और आत्मज्ञान परममोक्षसाधन है; ब्राह्मण तपसे पाप नष्ट करता है और आत्मज्ञानसे वह मुक्ति पाता है ॥ १०४ ॥

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥

धर्मतत्वके जाननेके अभिलाषी मनुष्योंको प्रत्यक्ष, अनुमान और अनेक प्रकारके शास्त्र इन तीनोंको भली भांति जानना चाहिये ॥ १०५ ॥

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥

जो वेद और धर्मशास्त्रको, वेदशास्त्रके अनुकूल तर्कके सहारे बिचारता है वही धर्मको जानता है, दूसरा नहीं जानता ॥ १०६ ॥

नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः ।
मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥ १०७ ॥

मैंने मोक्षसाधन कर्म पूर्ण रीतिसे कहा, अब मानवशास्त्रके रहस्यका उपदेश किया जाता है ॥ १०७ ॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत् ।
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १०८ ॥

इस शास्त्रमें सामान्य रीतिसे सब प्रकारके धर्म कहे गये हैं परंतु जो नहीं कहे गये उनके विषयमें यदि शंका हो, तो शिष्ट ब्राह्मण जो कहैं उसेही निस्सन्देह धर्म जानों ॥ १०८ ॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ १०९ ॥

ब्रह्मचर्य्य आदि धर्मसे जिन्होंने अंग, मीमांसा, पुराण और धर्मशास्त्रसहित वेद पढ़ा है उन शिष्ट ब्राह्मणोंको वेदके प्रत्यक्ष उपदेशक जानना चाहिये ॥ १०९ ॥

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत्।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥
[पुराणं मानवो धर्मः साङ्गोपाङ्गचिकित्सकः।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥]

अथवा जिसमें दस अथवा तीनसे कम न हों ऐसे सदाचारी धर्मज्ञ ब्राह्मणोंकी सभा जिस धर्मका निर्णय करै उसेही धर्म स्वीकार करै और उससे न डिगै ॥ ११० ॥

(पुराण, मानवसंहिता, धर्म और सांगोपांग चिकित्सक, ये चारों आज्ञासिद्ध हैं; इनका तर्कनासे नाश न करै) ॥

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ १११ ॥

तीनों वेदोंके पढ़नेवाले, न्यायशास्त्री, तार्किक, निरुक्तपाठी और धर्मशास्त्रज्ञ, ब्रह्मचारी, गृहस्थी और वानप्रस्थ, इस प्रकारके कमसे कम दस ब्राह्मणोंकी सभा होनी चाहिये ॥ १११ ॥

ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥

धर्मसंशयके निर्णयमें जो कमसे कम तीन ब्राह्मणोंकी सभा हो वह ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद तीनोंके ज्ञाता तीन ब्राह्मणोंकी हो ॥ ११२ ॥

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ११३ ॥

वेदज्ञ एक ब्राह्मणभी जिसका निश्चय कर दे उसेही परमधर्म जानना, और दस हजार मूर्ख जिसका निश्चय करें उसे धर्म नहीं जानना चाहिये ॥ ११३ ॥

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ११४ ॥

व्रतरहित, अवेदपाठी, केवल जातिमात्रके ब्राह्मण हजारों इकट्ठे होजांय तो भी सभा नहीं हो सकी ॥ ११४ ॥

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥ ११५ ॥
एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम्।
अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ११६ ॥

तमोगुणी, मूर्ख, धर्मशास्त्र न जाननेवाले, जिस धर्मका उपदेश करतेहैं उसका सौगुना पाप उपदेष्टाओंको होता है ॥ ११५ ॥ यह परमकल्याण करनेवाला धर्म (मोक्षसाधन) तुमसे कहा; इस धर्मको करता हुआ ब्राह्मण परमगतिको पाता है ॥ ११६ ॥

एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥ ११७ ॥

इस प्रकार उन भगवान् मनुदेवताने लोकोंके हितके लिये यह धर्मका सब रहस्य मुझसे कहाथा ॥ ११७ ॥

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥

सब सत् और असत्रूपको सावधान होकर आत्मामें देखै क्योंकि जो सबको अपनी आत्मामें देखता है उसका मन अधर्मकी ओर नहीं दौड़ता ॥११८॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ ११९ ॥

आत्माही सब देवता हैं, आत्मामें ही सब स्थित है, और आत्माही शरीरधारियोंको शुभाऽशुभ कर्मोंमें नियुक्त करता है ॥ ११९ ॥

खं संनिवेशयेत्खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम्।
पक्तिदृष्ट्योः परं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्तिषु ॥ १२० ॥
मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम्।
वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥ १२१ ॥

शरीरके छिद्रोंमें आकाशकी, शरीरकी वायुमें वायुकी, उदर तथा नेत्रोंके तेजमें तेजकी, देहके जलमें जलकी, देहके पार्थिवभागमें पृथिवीकी, मनमें चंद्रमाकी, कानमें दिशाओंकी, पैरमें विष्णुकी, बलमें हरकी, वाणीमें अग्निकी, गुदामें मित्रकी और उपस्थमें प्रजापतिकी एकताकी भावना करै ॥ १२० ॥ १२१ ॥

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥

जो सबका नियंता है और जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म है, और जिसकी सुवर्णके समान कान्ति है, और जो स्वप्नके समान बुद्धिसे जाना जाता है उसे परमात्मा जाने ॥ १२२ ॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ १२३॥

उस परमात्माको कोई अग्नि कहते हैं, कोई प्रजापतिमनु कहते हैं, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई सनातन ब्रह्म कहते है॥ १२३॥

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत्॥ १२४॥

यह परमात्माही पंचभूतोंके द्वारा प्राप्त होकर सब प्राणिओंको जन्म, वृद्धि और नाशसे चक्रके समान इस संसारमें भ्रमाता है॥ १२४॥

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥ १२५॥
[चतुर्वेदसमं पुण्यमस्य शास्त्रस्य धारणात्।
भूयो वाप्यतिरिच्येत पापनिर्यातनं महत्॥]

इस प्रकारसे जो पुरुष आत्माके द्वारा सब भूतोंमें आत्मदर्शन करता है वह सब समताको प्राप्तकर ब्रह्म परमपदको पाता है॥ १२५॥

(इस शास्त्रके पढ़नेसे चारों वेदोंके समान पुण्य होता है, वाणी श्रेष्ठ होती है और बड़ा पाप नाश होता है॥)

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम्॥ १२६॥
[मनुः स्वायंभुवो देवः सर्वशास्त्रार्थपारगः।
तस्यास्यनिर्गतं धर्मं विचार्य बहुविस्तरात्॥
ये पठन्ति द्विजाः केचित्सर्वपापोपशान्तिदम्।
ते गच्छन्ति परं स्थानं ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम्॥]

भृगुप्रोक्त इस मानवशास्त्रके पढ़नेसे द्विज नित्य आचारवान् होता है और यथेष्ट गति पाता है॥ १२६॥

(स्वायंभुव मनु सब शास्त्रोंके पारगामी देवता हैं, उनके निर्मित इस सब पापोंके नाशक धर्मशास्त्रको विस्तारपूर्वक बहुत विचार कर जो कोई द्विज पढ़ते हैं वे ब्रह्मके सनातन स्थान परमपदको पाते हैं) इति–

पण्डित रामेश्वरभट्टकृत सरलाटीकासहित मनुस्मृतिका
बारहवां अध्याय समाप्त हुआ–शुभम्.

मनुस्मृतिके श्लोकोंकी अकारादि अनुक्रमणिका.

आ

भ

म

य

श